॥ श्रीः ॥

काशी आयुर्वेद ग्रन्थमाला

५१

काय चिकित्सा

(भारतीय चिकित्सा केंद्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

(तृतीय भाग)

लेखक

प्रोफेसर अजय कुमार शर्मा

M.D. (Ay.), Ph.D., C.C.T.Y., Dip. Yoga

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर काय चिकित्सा विभाग,

उपाधीक्षक चिकित्सालय, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर-302002

एवं

डॉ० परशुराम सिंह यादव

Ph.D. Scholar

स्नातकोत्तर काय चिकित्सा विभाग,

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर-302002

A

Library
Parul Institute of Ayurved
Sr.No. A6990
Subject: Kayachikitsa
Sub.No. 616.1 SHA
Date of Purchase 27.6.12
Bill No. CV/B-5
Price 400/-
Date of Acc 26.7.12

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली - 110007

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के अंतर्गत इस पुस्तक का कोई भी भाग या सामग्री कोई भी व्यक्ति / संस्था / समूह आदि किसी भी अर्थ में प्रकाशक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। सर्वाधिकार प्रकाशक (चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली) के अधीन है।

प्रकाशक :

चौखम्भा पब्लिशर्स

गोकुल भवन, के-37/109, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-221001 (भारत)

शाखा :

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पोस्ट बॉक्स नं. 2206
बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर,
(कमला नगर के पास)
दिल्ली-110007 (भारत)
फोन : 23851617, 23858790

© चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी

संस्करण : 2011
मूल्य : रु. 400

ISBN : 978-81-89469-06-1
ISBN : 978-81-89469-07-8

लेजर टाईपसेट : रवि कम्प्यूटर्स, दिल्ली-७.

मुद्रक : तरुण आफसेट प्रेस, नई दिल्ली-2

प्राक्कथन

वर्तमान समय में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में से आयुर्वेद सबसे सुरक्षित चिकित्सा पद्धति एवं जीवन विज्ञान का शास्त्र है। तेजी से बदलते हुए समाज में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। भागदौड़ से भरी जिन्दगी एवं विभिन्न प्रकार के तनावों से छुटकारा पाने की कामना से आज का मानव विभिन्न उपायों को खोजकर उनका सहारा लेकर अपने आपको सुखी बनाने का प्रयास करता है। विभिन्न वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों के बावजूद भी आज के मानव के स्वास्थ्य का स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है। समाज में यह धारणा प्रबल होती जा रही है कि निरोगी काया एवं दीर्घायु प्राप्ति के लिए भारतीय दर्शन एवं आयुर्वेद में वर्णित विभिन्न जीवन शैलियों (सन्तुलित आहार, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या एवं सद्वृत्त का सम्यक् पालन आदि) के विधिवत पालन के अतिरिक्त अन्य कोई भी विकल्प नहीं है। इस प्रकार की धारणा आयुर्वेद के पुनर्उत्थान की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

वर्तमान समय में आयुर्वेद को युगानुरूप बनाने की दृष्टि से और विज्ञान के क्षेत्र में नवीन अनुसन्धानों से प्राप्त जानकारी को आयुर्वेद में आत्मसात करने की दृष्टि से अनेक आयुर्वेद मनीषी निरन्तर प्रयासरत हैं। इस विषय में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। चिकित्सा विज्ञान संबंधी नवीनतम ज्ञान को इस प्रकार आयुर्वेद के साहित्य में जोड़ने की आवश्यकता है जिससे आयुर्वेद शास्त्र का वृंहण हो और इसके मौलिक सिद्धान्तों के साथ बिलकुल भी छेड़-छाड़ न हो। इसी भावना को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद के मनीषियों ने आयुर्वेद के नवीन पाठ्यक्रम में अनेक आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विषयों का समावेश किया है। इस दिशा में निरन्तर गम्भीर प्रयासों के बावजूद भी अभी इस तरह के आयुर्वेदिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। आयुर्वेद के साथ उपयोगी नव्य चिकित्सा विज्ञान के ज्ञान को आत्मसात कर एवं उनमें तार्किक सामञ्जस्य स्थापित करते हुए आयुर्वेद एवं विशेषकर कायचिकित्सा के ज्ञान का उपवृंहण करने की भावना से ही प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

"केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, भारत सरकार, दिल्ली" ने सम्पूर्ण भारत में आयुर्वेद का एक ही पाठ्यक्रम निर्धारित करते हुए कायचिकित्सा के विस्तृत पाठ्यक्रम

को अध्ययन-अध्यापन की सुविधा की दृष्टि से चार प्रश्न पत्रों में विभाजित किया है। प्रथम प्रश्न पत्र में आयुर्वेदीय काय चिकित्सा के सैद्धान्तिक विषय, योग, प्राकृतिक चिकित्सा एवं अन्य प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य सिद्धान्त आदि का समावेश किया गया है जिन्हें शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक रूप में संकलित कर लेखक की पुस्तक काय चिकित्सा (प्रथम भाग) के रूप में प्रकाशित किया गया है। द्वितीय प्रश्न पत्र में शल्य-शालाक्य तथा प्रसूति तन्त्र आदि विषयों की मुख्य विधाओं को छोड़कर अन्य कायचिकित्सा सम्बंधी समस्त विषयों को विशुद्ध रूप से शास्त्रीय परन्तु अभिनव स्वरूप में संकलित कर लेखक की पुस्तक कायचिकित्सा (द्वितीय भाग) के रूप में प्रकाशित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ कायचिकित्सा के आयुर्वेदाचार्य के पाठ्यक्रम में काय चिकित्सा विषय के तृतीय प्रश्न पत्र से सम्बद्ध है। इस प्रश्न पत्र में अनेक ऐसे विषयों का समावेश किया गया है जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित हैं। इन विषयों पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से रचित पुस्तकों का अभाव है। लेखक द्वारा इस अभाव को पूरा करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन कर सम्बन्धित विषय को आयुर्वेदीय शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ को शास्त्र से पूरी तरह जोड़े रखते हुए अधिकाधिक व्यवहारिक एवं चिकित्सा प्रधान बनाने का प्रयास किया गया है। अप्रांसगिक विषयों को छोड़कर उपयोगी सामग्री को संकलित करने का प्रयास किया गया है। क्लिष्ट शब्दावली के प्रयोग से बचते हुए भाषा को सरल व सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है। शास्त्रीय सन्दर्भों को 'फुटनोट' में संस्कृत के श्लोकों के रूप में वर्णित किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस विषय से सम्बन्धित आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित सामग्री को सारांश में संकलित किया गया है जिससे पाठकों को सम्बन्धित विषय का सम्पूर्ण शास्त्रोक्त एवं संक्षिप्त अर्वाचीन ज्ञान एक स्थल पर ही उपलब्ध हो सके। पुस्तक के लेखन में अपने निजी अध्यापन एवं चिकित्सा के वर्षों के अनुभव, छात्रों के साथ विषय सम्बन्धित विचार-विनिमय, चिन्तन-मनन एवं रोगियों पर किए गए विभिन्न अनुसन्धानों के निष्कर्षों को भी यथास्थल समाविष्ट किया गया है जिससे सम्बन्धित विषय को सुस्पष्ट और विकसित करने में सहायता मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री को अध्यायक्रम से विषयों का निर्धारण करते हुए निम्न 15 अध्यायों में विभक्त किया गया है—

1. **प्रथम अध्याय**—इसके अन्तर्गत वातव्याधियों का नैदानिक वर्णन, लक्षण, चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त, चिकित्सा एवं प्रमुख वात व्याधियों के लक्षण और विशिष्ट चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

2. **द्वितीय अध्याय**—इसके अन्तर्गत कुपोषण जन्य विकार-स्थौल्य, कार्श्य, रिकेट्स, अस्थि मार्दव, रात्रि अन्धता, बेरी-बेरी, पेलाग्रा एवं स्कर्वी आदि रोगों के निदान, लक्षण, चिकित्सा सिद्धान्त, चिकित्सा एवं रोकथाम के उपायों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

3. **तृतीय अध्याय**—इसके अन्तर्गत विभिन्न अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की व्याधियों के निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है। यथा—अवटु (चुल्लिका), परा अवटु, अधिवृक्क, थायमस, पीयूष, अग्न्याशय, वृषण, बीज, अपरा एवं अन्तःस्राव का वर्णन किया गया है।

4. **चतुर्थ अध्याय**—इस अध्याय में आनुवंशिक एवं पर्यावरण जन्य व्याधियों के कारण एवं निवारण का वर्णन किया गया है।

5. **पञ्चम अध्याय**—इस अध्याय में खाद्य विषाक्तता एवं भारी धातुजन्य विषाक्तता के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

6. **षष्ठम अध्याय**—इस अध्याय में विभिन्न जीवों द्वारा दशंजनित विकार, उनके लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन है।

7. **सप्तम अध्याय**—इस अध्याय में व्याधि क्षमित्व, प्रतिजन, प्रतियोगी, लसिका रोग तथा अनूर्जता जन्य विकारों के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन है।

8. **अष्टम अध्याय**—इसके अन्तर्गत विभिन्न क्षुद्ररोगों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन है।

9. **नवम अध्याय**—इस अध्याय में मानस विज्ञान निरूपण, मानस रोगों के सामान्य निदान, लक्षण, सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

10. **दशम अध्याय**—इस अध्याय में उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वाभिनिवेश इत्यादि रोगों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

11. **एकादश अध्याय**—इस अध्याय में भ्रम, विभ्रम, संविभ्रम, अव्यवस्थित चित्तता, मनोसंघर्ष, मनोग्रन्थि, मनोविक्षिप्ति, मनोवसादता, व्यामोह एवं वृद्धावस्था जन्य विकारों के निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

12. **द्वादश अध्याय**—इस अध्याय में आत्यायिक रोग/चिकित्सा की परिभाषा, निदान, लक्षण एवं सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। यथा—जलवैद्युत, अम्लक्षार आदि के असन्तुलन जन्य विकार, दग्ध, दाह एवं तीव्र रक्तस्राव आदि का वर्णन है।

13. **त्रयोदश अध्याय**—इस अध्याय में तीव्र उदर शूल, वृक्क शूल, हृच्छूल एवं तीव्र श्वास काठिन्य के कारण, लक्षण एवं आत्यायिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

14. **चतुर्दश अध्याय**—इस अध्याय में मूत्रावरोध, आन्त्रावरोध, उदरावरण कला शोथ एवं आन्त्र शोथ के कारण, लक्षण एवं आत्यायिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

15. **पञ्चदश अध्याय**—इस अध्याय में मधुमेह उपद्रव, मूर्च्छा, तीव्र ज्वर, औषधि विषाक्तता एवं प्रतिक्रिया के निदान, लक्षण एवं आत्यायिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

हमारे पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों को विद्वत पाठकों द्वारा समुचित आदर, मान एवं सम्मान दिया गया है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। कायचिकित्सा के तृतीय प्रश्न पत्र के समग्र विषय को विशुद्ध रूप से शास्त्रीय परन्तु अभिनव स्वरूप में संकलित कर कायचिकित्सा (तृतीय भाग) पुस्तक के रूप में विद्वत पाठकों के समक्ष अर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है और हमें विश्वास है कि यह ग्रन्थ माननीय अध्यापकों, छात्रों एवं अन्य विद्वत पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में आप विद्वज्जनों की अवधारण का स्वागत है।

परम श्रद्धेय गुरूवर प्रो. रामहर्ष सिंह, प्रो. बनवारी लाल गौढ़, प्रो. बनवारी लाल मिश्रा, प्रो. मदन गोपाल शर्मा, डा. सुरेन्द्र शर्मा, डा. दिनेश कटोच, हमारे सहकर्मियों एवं छात्रों ने हमें बराबर उत्साहित एवं प्रेरित किया एवं आप सभी के आशीर्वाद, शुभकामनाओं एवं प्रभु कृपा से यह पुनीत कार्य अल्प समय में पूर्ण हो सका। मेरी पत्नी डा. (श्रीमति) प्रवीण शर्मा, प्रिय पुत्र अमित शर्मा एवं पुत्री सुश्री गौरी शर्मा के आत्मीय सहयोग एवं उत्साह वर्धक वचनों से ही यह जटिल कार्य समय से पूर्ण हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलन में हमारे पी-एच.डी. स्कालर डा. परशुराम सिंह यादव ने विशेष योगदान दिया है। हम हृदय से उनके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के लेखन में कायचिकित्सा विषयक अनेक आयुर्वेदिक एवं आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों की प्रचुर सहायता ली गई है। उन लेखकों के प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

अन्त में चौखम्भा ओरियन्टालिया परिवार, दिल्ली के हम हृदय से आभारी हैं जिनकी प्रेरणा, निरन्तर दबाव, प्रोत्साहन एवं सहयोग से यह सुन्दर प्रकाशन सम्पन्न हुआ है। माँ भगवती से प्रार्थना है कि यह परिवार भारतीय संस्कृति और आयुर्वेद के उत्थान में समय-समय पर उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित कर अपना अमूल्य योगदान देता रहे।

31 मई, 2006

प्रोफेसर अजय कुमार शर्मा

विषय सूची

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
अध्याय–1	वात व्याधि	1–165
	1. सामान्य परिचय	1
	2. पक्षाघात	21
	3. गृध्रसी	30
	4. अर्दित	36
	5. कोष्ठगत वात	43
	6. सर्वाङ्गगत वात	44
	7. आमाशयगत वात	45
	8. पक्वाशयगत वात	47
	9. गुद स्थित वात	48
	10. त्वक् स्थित वात	49
	11. रक्तगत वात	50
	12. मांसगत एवं मेदोगत वात	51
	13. अस्थि एवं मज्जागत वात	52
	14. शुक्रगत वात	53
	15. स्नायुगत वात	54
	16. सिरागत वात	55
	17. सन्धिगत वात	56
	18. मन्यास्तम्भ	61
	19. हनुस्तम्भ	62
	20. जिह्वास्तम्भ	63
	21. विश्वाची	64
	22. अवबाहुक	66
	23. अंशशोष	67
	24. क्रोष्टुकशीर्ष	68
	25. खञ्ज एवं पङ्गु	70

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
	26. वातकण्टक	71
	27. कलाय खञ्ज	72
	28. पाददाह	73
	29. पाद हर्ष	74
	30. मूक-मिन्मिन, गदगद्	75
	31. तूनी रोग	77
	32. प्रतितूनी रोग	77
	33. आध्मान	79
	34. प्रत्याध्मान	82
	35. अष्ठीला	83
	36. प्रत्यष्ठीला	83
	37. खल्ली रोग	84
	38. कम्पवात	85
	39. सिराग्रह	87
	40. ज्ञानेन्द्रियगत वात	87
	41. आनाह	88
	42. उर्ध्ववात	95
	43. आक्षेपक	100
	44. अपतन्त्रक	104
	45. अपतानक	108
	46. दण्डापतानक	112
	47. धनुस्तम्भ	113
	48. वातरक्त	116
	49. उरुस्तम्भ	134
	50. आमवात	147
अध्याय–2	**कुपोषणजन्य विकार**	**166-210**
	1. स्थौल्य (मेदो रोग)	166
	2. कार्श्य रोग	180
	3. कुपोषणजन्य विकारों के प्रमुख कारण	191
	4. रिकेट्स	196
	5. अस्थिमार्दव	200
	6. रात्रिअन्धता या नक्तान्धय	202
	7. बेरीबेरी	204

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
	8. पेलाग्रा	206
	9. स्कर्वी	209
अध्याय–3	**विभिन्न अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की व्याधियाँ**	**211-255**
	1. अवटु या चुल्लिका ग्रन्थि	212
	2. परा अवटु ग्रन्थि	222
	3. उपवृक्क ग्रन्थि	229
	4. थायमस ग्रन्थि	239
	5. पीयूष ग्रन्थि	240
	6. अग्न्याशय	249
	7. वृषण ग्रन्थियाँ	251
	8. अन्तःफल अथवा बीजकोश	253
	9. अपरा एवं अन्तःस्राव	254
अध्याय–4	**आनुवंशिक एवं पर्यावरणजन्य व्याधियाँ**	**256-297**
	1. आनुवंशिक व्याधियाँ	256
	2. पर्यावरण जनित व्याधियाँ एवं उनका प्रतिकार	265
	3. वायु प्रदूषण	267
	4. जल प्रदूषण	270
	5. ध्वनि प्रदूषण	274
	6. औद्योगिक प्रदूषण	275
	7. व्यावसायिक प्रदूषण	276
	8. भूमि (देश) प्रदूषण	278
	9. काल प्रदूषण	281
	10. शवविनाश एवं पर्यावरण	283
	11. युद्धजनित पर्यावरण प्रदूषण	284
	12. आतप दग्ध – लू लगना	285
	13. सौर गजचर्म	286
	14. शीतताजनित विकार	286
	15. आकस्मिक शीतता	287
	16. आतपजन्य श्रम	288
	17. क्रान्तिमण्डलीय स्वेदावरोध जन्य दौर्बल्य	289
	18. अंशुघात	290
	19. पर्वतीय यात्रा विकार	295
	20. जीर्ण पर्वतारोहण विकार	297

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
अध्याय–5	खाद्यान्न विषाक्तता एवं भारी धातु जन्य विषाक्तता	298-326
	1. खाद्यान्न विषाक्तता	298
	2. पारद विषाक्तता	310
	3. संखिया अथवा फेनाश्म विषाक्तता	313
	4. नीलाञ्जन विषाक्तता	318
	5. नाग विषाक्तता	319
	6. ताम्र विषाक्तता	323
	7. यशद विषाक्तता	325
अध्याय–6	दंशजनित विकार एवं उनकी चिकित्सा	327-375
	1. सर्पदंश	328
	2. वृश्चिक दंश	347
	3. अलर्कविष	351
	4. लूता दंश	358
	5. कीट दंश	364
	6. मूषक दंश	366
	7. कृकलास (गिरगिट) दंश	370
	8. गृहगोधिका (छिपकली) दंश	371
	9. शतपदी (गोजर) दंश	371
	10. मक्षिका दंश	372
	11. विषाक्त जन्तु दंश	373
	12. शंका विष	374
अध्याय–7	व्याधिक्षमित्व, प्रतिजन एवं प्रतियोगी, लसीका रोग चिकित्सा, लसीका रोग, अनूर्जता एवं चिकित्सक प्रेरित विकार	376-398
	1. व्याधिक्षमित्व	376
	2. प्रतिजन एवं प्रतियोगी	385
	3. लसीका चिकित्सा	388
	4. लसीका रोग	390
	5. अनूर्जता	392
	6. चिकित्सक प्रेरित विकार	395
अध्याय–8	क्षुद्ररोग एवं उनकी चिकित्सा	399-475
	1. परिचय	399
	2. अजगल्लिका	401

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
	3. यवप्रख्या	402
	4. अन्धालजी	403
	5. विवृत्ता	404
	6. कच्छपिका	405
	7. वल्मीक	406
	8. इन्द्रवृद्धा	409
	9. पनसिका	410
	10. जालगर्दभ	411
	11. पाषाणगर्दभ	413
	12. कक्षा	415
	13. अग्निरोहिणी	417
	14. विस्फोटक	419
	15. चिप्प	420
	16. कुनख	422
	17. अनुशयी	423
	18. विदारिका	425
	19. शर्करार्बुद	426
	20. पामा	428
	21. विचर्चिका	430
	22. रकसा	431
	23. पाददारिका	432
	24. कदर	433
	25. अलस	435
	26. इन्द्रलुप्त	436
	27. दारुणक	438
	28. अरुषिका	440
	29. पलित	441
	30. मसूरिका	443
	31. मुखदूषिका	451
	32. पद्मिनीकण्टक	454
	33. जतुमणि	455
	34. मषक	456
	35. तिलकालक	457

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
	36. न्यच्छ	458
	37. चर्मकील	459
	38. व्यङ्ग	460
	39. नीलिका	461
	40. अवपाटिका	463
	41. परिवर्तिका	464
	42. निरुद्धप्रकश	466
	43. सन्निरुद्ध गुद	468
	44. अहिपूतना	470
	45. वृषणकच्छू	472
	46. गुदभ्रंश	473
अध्याय–9	**मानस विज्ञान निरुपण**	**476-496**
अध्याय–10	**उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वाभिनिवेश**	**497-546**
	1. उन्माद	497
	2. अपस्मार	526
	3. अतत्वाभिनिवेश	541
अध्याय–11	**भ्रम, विभ्रम, संविभ्रम, अव्यवस्थित चित्तता, मनोसंघर्ष, मनोग्रन्थि, मनोविक्षिप्ति, मनोवसाद, व्यामोह एवं वृद्धावस्था जन्य मनोविकार**	**547-574**
	1. भ्रम रोग	547
	2. विभ्रम	550
	3. संविभ्रम अथवा व्यामोह	551
	4. अव्यवस्थित चित्तता	553
	5. मनोसंघर्ष	556
	6. मनोग्रन्थि	560
	7. मनोविक्षिप्ति	563
	8. मनोवसाद	565
	9. व्यामोह-मिथ्या विश्वास संघर्ष	570
	10. वृद्धावस्था जन्य मनोविकार	572
अध्याय–12	**आत्यायिक चिकित्सा, तरल जल वैद्युत, अम्लक्षार आदि के असन्तुलन जन्य विकार, दग्ध एवं तीव्र रक्तस्राव**	**575-620**
	1. आत्यायिक अथवा आपातकालीन चिकित्सा	575

क्रम संख्या	अध्याय नाम	पृष्ठ सं०
	2. तरल जलवैद्युत तथा अम्ल-क्षार के असन्तुलन जन्य विकार एवं उनकी चिकित्सा	578
	3. अम्ल-क्षार संतुलन	594
	4. दग्ध	599
	5. इन्द्रवज्राग्नि दग्ध	607
	6. हिम दग्ध	607
	7. विद्युत एवं रासायनिक पदार्थों से दग्ध	608
	8. तीव्र रक्तस्राव	609
अध्याय–13	**तीव्र उदरशूल, वृक्कशूल, हृच्छूल एवं तीव्र श्वासकाठिन्य**	**621-649**
	1. तीव्र उदरशूल	621
	2. वृक्क शूल	629
	3. हृच्छूल	635
	4. तीव्र श्वास काठिन्य	644
अध्याय–14	**मूत्रावरोध, आन्त्रावरोध, उदरावरण कला शोथ, आन्त्र शोथ, एवं व्रण युक्त बृहदान्त्र शोथ**	**650-670**
	1. मूत्रावरोध	650
	2. आन्त्रावरोध	654
	3. तीव्र उदरावरण कला शोथ	659
	4. तीव्र आन्त्रशोथ	663
	5. व्रण युक्त बृहदान्त्रशोथ	667
अध्याय–15	**मधुमेह उपद्रव, मूर्च्छा, तीव्रज्वर, औषधि प्रतिक्रिया एवं विषाक्तता**	**671-699**
	1. मधुमेह जन्य उपद्रव	671
	2. मूर्च्छा	675
	3. तीव्रज्वर	687
	4. औषधि प्रतिक्रिया एवं विषाक्तता	695

संकेताक्षर (Abbreviations)

अ.स.सू.	अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान
अ.स.शा.	अष्टांग संग्रह शारीर स्थान
अ.स.नि.	अष्टांग संग्रह निदान स्थान
अ.स.चि.	अष्टांग संग्रह चिकित्सा स्थान
अ.स.क.	अष्टांग संग्रह कल्प स्थान
अ.स.उ.	अष्टांग संग्रह उत्तर स्थान
अ.ह.सू.	अष्टांग हृदय सूत्र स्थान
अ.ह.शा.	अष्टांग हृदय शारीर स्थान
अ.ह.नि.	अष्टांग हृदय निदान स्थान
अ.ह.चि.	अष्टांग हृदय चिकित्सा स्थान
अ.ह.क.	अष्टांग हृदय कल्प स्थान
अ.ह.उ.	अष्टांग हृदय उत्तर स्थान
का.सू.	काश्यप संहिता सूत्र स्थान
का.चि.	काश्यप संहिता चिकित्सा स्थान
का.खि.	काश्यप संहिता खिल स्थान
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
च.सू.	चरक संहिता सूत्र स्थान
च.नि.	चरक संहिता निदान स्थान
च.चि.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान
च.वि.	चरक संहिता विमान स्थान
च.सि.	चरक संहिता सिद्धि स्थान
च.शा.	चरक संहिता शारीर स्थान
च.इ.	चरक संहिता इन्द्रिय स्थान
च.क.	चरक संहिता कल्प स्थान
च.द.	चक्रदत
पा.यो.	पातंजल योग सूत्र
भे.स.	भेल संहिता
भै.र	भैषज्य रत्नावली
भा.प्र.	भाव प्रकाश
भा.प्र.म.ख.	भाव प्रकाश मध्यम खण्ड
मा.नि.	माधव निदान
मा.नि.प.	माधव निदान परिशिष्ट
यो.र	योग रत्नाकर
र.र.स.	रस रत्न समुच्चय
र.त.	रस तरंगिणी
वै.जी.	वैद्य जीवनम्
शा.स.पू.ख.	शारंगधर संहिता पूर्व खण्ड
शा.स.म.ख.	शारंगधर संहिता मध्यम खण्ड
शा.स.उ.ख.	शारंगधर संहिता उत्तर खण्ड
सु.सू.	सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान
सु.नि.	सुश्रुत संहिता निदान स्थान
सु.शा.	सुश्रुत संहिता शारीर स्थान
सु.चि.	सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान
सु.क.	सुश्रुत संहिता कल्प स्थान
सु.उ.	सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान
हा.स.	हारीत संहिता
ह.प्र.	हठ योग प्रदीपिका

अध्याय-1

1. वात व्याधि
(NEUROLOGICAL - DISORDERS)

सामान्य परिचय

वात व्याधि के अन्तर्गत प्रायः उन व्याधियों का समावेश किया जाता है जिनमें मुख्यतः वात दोष की प्रधानता होती है। वात व्याधि के अन्तर्गत प्रायः कृच्छ्र साध्य एवं दारुण व्याधियों का समावेश किया गया है, जिनमें से अधिकांश व्याधियों की सन्तोषप्रद चिकित्सा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की सहायता से भी सम्भव नहीं होती है। अधिकांश वात व्याधियों में वात दोष के स्वाभाविक गुण 'चल गुण' (गति) की हानि प्रकट होती है जिससे वात दोष के चल गुण के क्षय होने का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विभिन्न संहिता ग्रन्थों में वात व्याधि के जो उत्पादक निदान बताए गए हैं, वे प्रायः वात प्रकोपक होने से शरीर में वात दोष की वृद्धि करते हैं। वात व्याधियों की चिकित्सा का मुख्य चिकित्सा सूत्र वात शामक आहार, विहार एवं औषधि प्रयोग ही है।

मनुष्य शरीर में वात प्रकोप साधारणतया निम्न दो प्रकार से संभव होता है[1]–

1. धातु क्षय होने के परिणामस्वरूप वात दोष का प्रकुपित होना।
2. मार्गावरण या मार्गावरोध होने के कारण वात दोष का प्रकुपित होना।

रोगी के सम्पूर्ण शरीर में रुक्षता, खरता, विशदता आदि लक्षण धातु क्षय के परिणाम स्वरूप, वात दोष के उत्पन्न होने के कारण शरीर में प्रकट होते हैं, जबकि स्रोतस में अवरोध या संग उत्पन्न होने की स्थिति में शरीर के एक भाग में वात दोष वृद्धि और दूसरे भाग में वात दोष क्षय के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

मार्गावरण के कारण भी शरीर में वात दोष प्रकुपित हो सकता है। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में शरीर में दोषों से सम्बन्धित विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है जिसके अन्तर्गत आवृत्त दोष या धातुएँ शरीर में अपना सामान्य कर्म सम्पादित नहीं कर पाती हैं तथा आवरक दोष या धातुएँ अपने विशिष्ट लक्षणों को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार के लक्षण अधिकांश वात व्याधियों में भी प्रकट हो सकते हैं।

आचार्य चरक ने सामान्यज एवं नानात्मज भेद से दो प्रकार की व्याधियों का

1. वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च। (च.चि. 28/59)

वर्णन किया है[1]। जो व्याधियाँ वात आदि प्रत्येक दोष अथवा दो या समस्त दोषों से उत्पन्न होती हैं, उन्हें सामान्यज व्याधि कहते हैं। इनके उदाहरण उदर रोग, अतिसार एवं ज्वर आदि रोग हैं। सामान्यज के विपरीत केवल एक ही दोष से उत्पन्न व्याधि नानात्मज व्याधि कहलाती है। यथा–आक्षेपक, पङ्गुत्व, गृध्रसी इत्यादि, क्योंकि ये रोग केवल वात दोष के प्रकोप से ही उत्पन्न होते हैं पित्त या कफ दोष से नहीं। दाह, ओष, चोष, पाक आदि रोग केवल पित्त प्रकोप से ही उत्पन्न होते हैं कफ या वात दोष से नहीं। इसी प्रकार तृप्ति, तन्द्रा, निद्रा आदि रोग कफ जन्य ही हैं, वात या पित्त दोष जन्य नहीं हैं। इस प्रकार शास्त्रों में 80 वात नानात्मज, 40 पित्त नानात्मज तथा 20 कफ नानात्मज विकारों का वर्णन किया गया है[2]। यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि संहिताकारों ने पित्त एवं कफ दोष जन्य व्याधियों के अध्यायों का वर्णन न करके केवल वात व्याधियों का वर्णन ही क्यों किया है? इसका मूल कारण यह है कि पित्त तथा कफ दोष पङ्गु हैं तथा उनका प्रेरक भी वायु ही है[3]। इस प्रकार वायु के सर्व प्रेरक, अति बलवान होने तथा उनसे उत्पन्न विकारों के दु:साध्य होने से प्रधानत: वात विकारों का ही विस्तृत वर्णन संहिताओं में किया गया है।

आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो आयुर्वेद के कुछ विद्वान वात दोष की तुलना नाड़ीवह संस्थान (Nervous System) से करते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो शास्त्र में वायु को 'अव्यक्त कर्मा' कहा गया है एवं इसके गुणों में प्रधानत: रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर गुण[4] तथा वायु को रूप रहित बताया गया है[5]। वात को केवल स्पर्श से अनुभव किया जा सकता है, अत: वात दोष की तुलना नाड़ी तन्त्र से न कर नाड़ी संस्थान द्वारा सम्पादित कर्मों (Functions of the Nervous System) से किया जाना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वात व्याधियों की चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्य भी मुख्यत: नाड़ी संस्थान (Nervous System) के कार्यों को पुष्ट करते हैं जिससे चिकित्सा में लाभ होता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता सूत्रस्थान – अध्याय 12 एवं 20
2. चरक संहिता चिकित्सा स्थान – अध्याय 28 एवं 29
3. सुश्रुत संहिता निदान स्थान – अध्याय 1
4. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान – अध्याय 4 एवं 5
5. अष्टांग हृदय निदान स्थान – अध्याय 15 एवं 16

1. तत्र विकारा: सामान्यजा:, नानात्मजाश्च। (च.सू. 20/10)
2. अशीतिर्वात विकारा:, चत्वारिंशत् पित्त विकारा:, विंशति:श्लेष्म विकारा:। (च.सू. 20/10)
3. पित्तं पङ्गु: कफ: पङ्गु: पङ्गवो मलधातव:।
   वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत।। (शा.सं पूर्व खण्ड)
4. तत्र रुक्ष: शीतो लघु: सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद: खर:। (च.सू. 1/59)
5. रूपरहित स्पर्शवान वायु:। (तर्क संग्रह)

6. अष्टांग हृदय चिकित्सा स्थान – अध्याय 21 एवं 22
7. माधव निदान – अध्याय 22
8. भाव प्रकाश उत्तरार्ध – अध्याय 24

निरुक्ति

मधुकोश टीकाकार श्री विजयरक्षित जी ने वात व्याधि शब्द की निरुक्ति तीन प्रकार सें वर्णित कर वात व्याधि शब्द का विग्रह एवं अर्थ स्पष्ट किया है–

1. 'वात एव व्याधि:, इति वात व्याधि:' अर्थात् वात ही व्याधि है, लेकिन इस व्युत्पत्ति का दोष यह है कि स्वस्थ एवं रोग रहित व्यक्ति में भी 'वातव्याधि' को उपस्थिति माननी होगी। अत: यह निरुक्ति स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि 'वात' कोई व्याधि नहीं है।

2. 'वातेन जनितो व्याधि: वात व्याधि:' अर्थात् वात से उत्पन्न व्याधि ही वात व्याधि है लेकिन यह निरुक्ति भी निर्दुष्ट प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वात की उपस्थिति प्राय: सभी रोगों में पाई जाती है यथा- अर्श, अतिसार, ग्रहणी एवं श्वास रोग इत्यादि, अत: इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी वात व्याधि को विशिष्ट व्याधि नहीं माना जा सकता है।

3. 'विकृत वातजनितोऽसाधारण व्याधि: वातव्याधि:'' अर्थात् विकृत वात से उत्पन्न असाधारण व्याधि ही वातव्याधि है। इस निरुक्ति में 'विकृत' शब्द प्रयुक्त होने से स्वस्थ व्यक्ति के सन्दर्भ में अति व्याप्ति नहीं होती है। अत: वातव्याधि की यह निरुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है तथा 'वातव्याधि' का सम्यक अर्थ स्पष्ट करती है।

परिभाषा

वात दोष की विकृति से उत्पन्न विशिष्ट व्याधि को वातव्याधि कहते हैं। 'वात व्याधि' में केवल वात दोष ही दूषित होकर स्रोतस के रिक्त स्थानों का परिपूरण करके 'वातव्याधि' को उत्पन्न करता है। वातव्याधि एकाङ्ग में, सर्वाङ्ग में, कोष्ठाङ्ग में एवं अवयव विशेष में भी उत्पन्न हो सकती है।

सामान्य निदान

वात व्याधियों के सामान्य निदानों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

I. आहार जन्य निदान[1,2]

1. रुक्ष आहार सेवन
2. शीत आहार सेवन

1. रुक्षशीतात्प लघ्वन्न व्यवायाति प्रजागरै:।
   विषमादुपचाराच्च दोषासृक् स्रवणादति।।
   लङ्घनप्लवनात्यध्व व्यायामतिचिंष्टितै:।
   धातूनां संक्षयाच्चिन्ता शोक रोगाति कर्षणात्।।
   दु:खशय्यासनात् क्रोधाद्विास्वप्नाद्भयादपि।
   वेगसंधारणादामादभिघाताद भोजनात्।।
   मर्माघाताद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनाह। (च.चि. 28/15-17)
2. कषाय कटु तिक्तक प्रमित रुक्ष.....
   .....रोगान्सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/1-3)

3. अत्यल्प आहार
4. असात्म्य आहार
5. कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार
6. विषम आहार
7. नियम विरुद्ध आहार सेवन
8. अध्यशन
9. दारुण–अर्थात अति शीघ्र कुपित होकर दूषित करने वाला आहार
10. खर–अर्थात् कठोर एवं रुक्ष प्रकार का आहार
11. विषमाशन

II. विहार जन्य निदान

1. अत्यधिक व्यवाय (मैथुन)
2. अत्यधिक रात्रि जागरण
3. उपवास
4. वेगधारण
5. चिन्ता
6. शोक
7. काम
8. भय
9. प्लवन (जल में तैरना)
10. कष्टदायक शय्या
11. हाथी, घोड़ा, ऊँट की सवारी (आधुनिक युग में बैलगाड़ी, ट्रैक्टर, स्कूटर, मोटर साइकिल इत्यादि की सवारी)
12. अत्यधिक अध्ययन
13. अतिधावन (अधिक दौड़ना)
14. अत्युच्च भाषण
15. अभिघात
16. अतिभार वहन
17. सुखपूर्वक न बैठना
18. क्रोध
19. दिवाशयन

विशिष्ट निदान

1. किसी प्रकार के चिरकालीन रोग से ग्रस्त होना।
2. किसी कारण से रसरक्तादि धातुओं का क्षय होना।
3. दोष, धातु का आवरण अथवा वात का मार्गावरोध।
4. वात दोष का स्वयं ही क्षय होना।
5. शरीर में अत्यधिक आमरस की उत्पत्ति।
6. असम्यक प्रकार से पञ्चकर्म का प्रयोग।

अन्य निदान

1. रक्त धातु का निर्हरण।
2. मर्म स्थानों पर आघात।
3. पुरीष क्षय।
4. ग्रीष्म ऋतु।
5. वर्षा ऋतु में स्वाभाविक रूप से वात प्रकोप।
6. दिन तथा रात्रि के तृतीय भाग में वात प्रकोप।
7. अन्न के जीर्ण होने पर वात प्रकोप।

सामान्य सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त विविध प्रकार के निदानों के सेवन से वात दोष प्रकुपित होकर रिक्त स्रोतसों को परिपूर्ण करके विभिन्न प्रकार के एकाङ्ग में, सर्वाङ्ग में, कोष्ठ में अथवा विभिन्न अवयवों में वात व्याधियाँ उत्पन्न करता है।

विशिष्ट सम्प्राप्ति

विभिन्न प्रकार के वात वर्धक एवं वात प्रकोपक निदान सेवन
(Indulgence in Vata vitiating Ahara and Vihara)
↓
वात दोष की विकृति
(Functional Disorders of Nerves/Nervous System)
↓ ↓

वात कर्म की वृद्धि	वात कर्म का क्षय
(Abnormally increased functions of nerves)	(Abnormally decreased functions of nerves)
उदाहरण	उदाहरण
(i) आक्षेपक (Convulsions)	(i) पक्षवध (Paralysis)
(ii) कम्प (Tremors)	(ii) अर्दित (Facial Paralysis)
(iii) शूल (Pain) आदि	इत्यादि

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	सर्व धातुयें, रस रक्तादि
अधिष्ठान	:	अङ्ग प्रत्यङ्ग, सवार्ङ्ग, कोष्ठ, कण्डरा, सिरा, स्नायु
स्रोतस	:	वातवह स्रोतस की कल्पना की जा सकती है
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन
अग्नि	:	प्राय: विषमाग्नि
व्याधि स्वभाव	:	नवीन – मृदु
		जीर्ण – दारुण
साध्यासाध्यता	:	नवीन – साध्य/कृच्छ्र साध्य
		जीर्ण – याप्य/असाध्य

1. देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्ग संश्रितान्।। (च.चि. 28/18)

पूर्वरूप[1]

वातविकारों के अव्यक्त लक्षण ही वात व्याधि के पूर्व रूप होते हैं। शास्त्रों में केवल उर:क्षत एवं वात व्याधियों के सन्दर्भ में ही अव्यक्त लक्षण मात्र कहकर वात व्याधियों के पूर्व रूप का वर्णन किया गया है। पूर्व रूप, लक्षण के स्वरूप में पूर्वरूपावस्था में प्रकट होते हैं और व्याधि की व्यक्तावस्था में स्वत: समाप्त भी हो जाते हैं। दीर्घकाल तक या लक्षण व्यक्त होने के पश्चात् भी पूर्व रूप का बना रहना व्याधि की असाध्यावस्था को व्यक्त करता है।

रूप[2]

1. जब वात व्याधि के पूर्व रूप अर्थात् अव्यक्त लक्षण व्यक्त हो जाते हैं तो वह वात व्याधि के आत्म रूप अर्थात् लक्षण कहलाते हैं।
2. प्रभावित अङ्ग में रुक्षता (Roughness) एवं शुष्कता (Dryness)
3. मांसपेशी, कण्डरा, शिराओं का संकोच (Constriction/Contractures) या शैथिल्य (Paralysis or weakness)
4. प्रभावित अधिष्ठान में गति वैषम्य (Excessive movements or immobilization)
5. प्रभावित भाग में शूल या वेदना (Pain)

प्रकुपित वात के सामान्य लक्षण[3]

1. अङ्ग प्रत्यङ्ग में संकोच (Contraction/contractures in affected body parts)
2. पर्वों में जकड़ाहट (Stiffness in Joints)
3. अस्थि एवं पर्वों में भेदनवत वेदना (Piercing type of pain in bones and joints)
4. रोमाञ्च (रोमहर्ष) (Errection of Hair follicles)
5. प्रलाप (Delirium)
6. पैर, पृष्ठ एवं शिर में स्तम्भ (Stiffness in legs, back and head)
7. खञ्जता (Lameness with one Leg)

1. अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपं इति स्मृतम्। (च.चि. 28/19)
2. आत्मरूपं तु तद् व्यक्तमपायो लघुता पुन:। (च.चि. 28/20).
3. संकोच: पर्वणां स्तम्भो भेदाऽस्थ्नां पर्वणामपि।
   लोमहर्ष: प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रह:।
   खाञ्ज्य पाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता।।
   गर्भशुक्रजोनाश: स्पन्दनं गात्रसुप्तता।
   शिरोनासाक्षिजत्रूणाम् ग्रीवायाश्चपि हुण्डनम्।।
   भेदस्तोदार्तिराक्षेपा मोहश्चायास एव च।
   एवं विधानि रुपाणि करोति कुपितोऽनिल:।। (च.चि. 28/20-23)

8. पङ्गुता (Lameness with both Legs)
9. कुब्जत्व (Forward or backward bending of the body)
10. अंगशोष (Dystrophy of organs)
11. अनिद्रा (Insomnia)
12. गर्भनाश (Missed abortion)
13. शुक्र का नष्ट हो जाना (Loss of semen)
14. आर्तव नाश (Loss of menstruation/ovulation)
15. शरीर में स्पन्दन होना (Throbbing sensation in the body)
16. गात्र सुप्तता (Numbness in body)
17. शिर, नेत्र, नासा, जत्रु, ग्रीवा का टेढ़ा हो जाना (Disturbances of symmetry of head, nose, eyes and neck/contractures of various body Parts)
18. भेदनवत पीड़ा (Tearing Pain)
19. तोदवत पीड़ा (Pricking Pain)
20. अरति (Restlessness)
21. आक्षेप (Convulsions)
22. आयास (Weakness or Lethargy)

वात व्याधियों के विशिष्ट लक्षण

वात व्याधियों के अंतर्गत बहुत सी व्याधियों का ग्रहण किया जाता है जिनके अलग-अलग विशिष्ट लक्षण होते हैं, क्योंकि उनमें हेतु, दूष्य एवं अधिष्ठान आदि में अंतर होता है। वात व्याधियों के अंतर्गत निम्नलिखित व्याधियों का समावेश किया जा सकता है, इनमें से मुख्य व्याधियों का वर्णन अध्याय के अंत में अलग से किया जा रहा है–

1. आवरण से उत्पन्न व्याधियाँ

आचार्य चरक के मतानुसार कुल 42 प्रकार की आवरण जन्य वात व्याधियाँ होती है जिनका वर्णन निम्न प्रकार है–

1.	सभी पाँचो प्रकार के वात के परस्पर आवरण	= 20
2.	पित्तावृत्त वात	= 01
3.	कफावृत्त वात	= 01
4.	सप्तधातु आवरण	= 07
5.	मलावृत्त वात	= 01
6.	मूत्रावृत्त वात	= 01
7.	सर्वधात्वावृत्त वात	= 01
8.	पित्तावृत्त पञ्च वायु	= 05

9. कफावृत्त पञ्च वायु = 05

कुल आवरण = 42

उपरोक्त 42 प्रकार के आवरणों के नाम निम्नलिखित हैं–

वात के 22 प्रकार के आवरण

(i)	पित्तावृत्त वात	(ii)	कफावृत्त वात
(iii)	रक्तावृत्त वात	(iv)	मांसावृत्त वात
(v)	मेदसावृत्त वात	(vi)	अस्थ्यावृत्त वात
(vii)	मज्जावृत्त वात	(viii	शुक्रावृत्त वात
(ix)	अन्नावृत्त वात	(x)	मूत्रावृत्त वात
(xi)	मलावृत्त वात	(xii)	सर्वधात्वावृत्त वात
(xiii)	पित्तावृत्त प्राण वायु	(xiv)	पित्तावृत्त उदान वायु
(xv)	पित्तावृत्त समान वायु	(xvi)	पित्तावृत्त अपान वायु
(xvii)	पित्तावृत्त व्यान वायु	(xviii)	कफावृत्त प्राण वायु
(xix)	कफावृत्त उदान वायु	(xx)	कफावृत्त समान वायु
(xxi)	कफावृत्त व्यान वायु	(xxii)	कफावृत्त अपान वायु

वायु के परस्पर 20 प्रकार के आवरण निम्न प्रकार हैं[1]–

(i)	उदानावृत्त प्राण वायु	(ii)	व्यानावृत्त प्राण वायु
(iii)	समानावृत्त प्राण वायु	(iv)	अपानावृत्त प्राण वायु
(v)	प्राणावृत्त उदान वायु	(vi)	व्यानावृत्त उदान वायु
(vii)	समानावृत्त उदान वायु	(viii)	अपानावृत्त उदान वायु
(ix)	प्राणावृत्त व्यान वायु	(x)	उदानावृत्त व्यान वायु
(xi)	समानावृत्त व्यान वायु	(xii)	अपानावृत्त व्यान वायु
(xiii)	प्राणावृत्त समान वायु	(xiv)	उदानावृत्त समान वायु
(xv)	व्यानावृत्त समान वायु	(xvi)	अपानावृत्त समान वायु
(xvii)	प्राणावृत्त अपान वायु	(xviii)	समानावृत्त अपान वायु
(xix)	उदानावृत्त अपान वायु	(xx)	व्यानावृत्त अपान वायु

1. विंशतिर्वरणान्येतान्युलब्धानां परस्परम्।
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक प्रतर्कयेत्।। (च.चि. 28/201)

आचार्य सुश्रुत ने दश प्रकार के आवरण का वर्णन किया है, जिनके नाम एवं लक्षण निम्नलिखित हैं[1]–

क्र.सं.	आवरण के नाम	लक्षण
1.	पित्तावृत्त प्राण	वमन, दाह
2.	कफावृत्त प्राण	दौर्बल्य, सदन, तन्द्रा, मुख वैरस्य
3.	पित्तावृत्त उदान	दाह, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम
4.	कफावृत्त उदान	अस्वेद, हर्ष, मन्दाग्नि, शीतता
5.	पित्तावृत्त समान	स्वेद, दाह, उष्णता, मूर्च्छा
6.	कफावृत्त समान	मलमूत्रावरोध, गात्रहर्ष
7.	पित्तावृत्त अपान	दाह, उष्णता, रक्तमूत्रता
8.	कफावृत्त अपान	स्तम्भन, शूल, शोथ
9.	पित्तावृत्त व्यान	दाह, अंगविक्षेप, क्लम
10.	कफावृत्त व्यान	स्तम्भन, शूल, शोथ

2. एकांग में उत्पन्न वात व्याधियाँ (Localised Vatavyadhis)

(i) अवबाहुक (Frozen shoulder)
(ii) अंश शोष (Wasting of shoulder muscle)
(iii) क्रोष्टुकशीर्ष (Pyogenic arthritis of knee)
(iv) कम्पवात (Tremors and Palsy)
(v) खल्ली (Cramps)
(vi) गृध्रसी (Sciatica)
(vii) जिह्वास्तम्भ (Glossal Palsy)
(viii) पाददाह (Burning feet)
(ix) पादहर्ष (Tingling sensation of feet)
(x) विश्वाची (Brachial Neuritis)

1. प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते।
उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छा दाहभ्रमक्लमाः।।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते।
समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्।।
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते।
अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः।।
अधः कायगुरुत्वं च तास्मिन्नेव कफावृते।
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणः क्लमः।।
गुरुणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम्।
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टा स्तम्भस्तथैव च।। (स.नि. 1/34-39)

(xi) वातकण्टक (Ankle sprain)
(xii) सिरागत वात (Engorged Veins)
(xiii) स्नायुगत वात (Fibromyalgia)
(xiv) सन्धिगत वात (Osteoarthritis)
(xv) सिराग्रह (Trigeminal neuralgia)
(xvi) मन्यास्तम्भ (Torticolis or Neck Rigidity)
(xvii) हनुग्रह (Lock jaw).

3. सर्वाङ्ग में उत्पन्न वात व्याधियाँ (Generalised Vatavyadhis)

(i) अर्दित (Facial Paralysis)
(ii) आक्षेपक (Convulsions)
(iii) अपतानक (Tetanus like convulsions)
(iv) अपतन्त्रक (Hysteria like convulsions)
(v) कम्पवात (Tremors & Palsy/Parkinsonism)
(vi) कलाय खञ्ज (Lathyrism)
(vii) खञ्ज (Lame from one leg)
(viii) पङ्गु (Lame from both legs)
(ix) पक्षवध (Paralysis/Hemiplegia)
(x) स्नायुगत वात (Diseases of tendons & ligaments)

4. कोष्ठगत वात व्याधियाँ

(i) आमाशयगत वात (Acute Gastroenteritis)
(ii) आनाह (Distension of Abdomen & Constipation)
(iii) अष्ठीला (Enlarged Prostate)
(iv) आध्मान (Generalised Tympanitis)
(v) उर्ध्ववात (Erructations/Belching)
(vi) गुदस्थित वात (Obstructive entero Uropathy)
(vii) तूनी (Renal colic)
(viii) प्रतितूनी (Urethral colic)
(ix) प्रत्यध्मान (Gastric Tympanitis)
(x) पक्वाशयगत वात (Irritable bowel)
(xi) प्रत्यष्ठीला (Rectovesical tumour)
(xii) मूक, मिन्मिन, गदगद (Aphasia, Rhinophonia, Disarthria)
(xiii) मूत्रावरोध (Retention of Urine)
(xiv) ज्ञानेन्द्रियगत वात (Neuropathis of sense organs)

5. दूष्यगत वात व्याधियाँ

(i) त्वक्गत (रसगत) वात (Peripheral Neuritis)
(ii) रक्तगत वात (Hypertension)
(iii) मांसगत वात (Myopathy)
(iv) मेदोगत वात (Deep muscle fatigue)
(v) अस्थिगत वात (Rheumatism)
(vi) मज्जागत वात (Osteomyelitis)
(vii) शुक्रगत वात (Sex Neurosis)

सापेक्ष निदान

प्राय: सभी वात व्याधियों के अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण अन्य व्याधियों के साथ उनके सापेक्ष निदान में कठिनाई नहीं होती है, परंतु, फिर भी मुख्यत: वातरक्त, आमवात एवं उरुस्तम्भ व्याधियों के लक्षण वातव्याधि के लक्षणों के साथ मेल खाते हैं अत: इनके निदान में सावधानी रखनी चाहिए। आधुनिक प्रयोगशालीय परीक्षणों की सहायता से भी वात व्याधियों के सापेक्ष निदान में सहायता मिल सकती है।

साध्यासाध्यता

वात व्याधियाँ नानात्मज रोग होते हैं जिसमें वात दोष की दुष्टि होती है, जिसके पूर्णरुपेण प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न होने वाली वात व्याधियाँ चिरकारी तथा अधिक तीव्र लक्षणों वाली होती हैं। वात व्याधियाँ प्राय: दुश्चिकित्स्य होती हैं। वात व्याधियों के समूह का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि आमाशयगत वात, पक्वाशयगत वात, उरुसाद एवं विडभेद सदृश कुछ ऐसी व्याधियाँ हैं जो लक्षण के रूप में विभिन्न व्याधियों में एवं स्वयं स्वतन्त्र व्याधि के रूप में भी प्रकट होती हैं। इनके विपरीत वात व्याधियों के अन्तर्गत कुछ व्याधियाँ ऐसी हैं जिनकी चिकित्सा प्राय: जटिल होती है। यथा–गृध्रसी, अर्दित एवं आक्षेपक इत्यादि। नवीन एवं उपद्रव रहित वात व्याधियाँ प्राय: सुख साध्य अथवा कृच्छ्र साध्य एवं जीर्ण, उपद्रव युक्त वात व्याधियाँ प्राय: याप्य अथवा असाध्य होती हैं। अत: वात व्याधियों को नवीन अवस्था में सुखसाध्य या कृच्छ्रसाध्य तथा जीर्ण अवस्था में याप्य या असाध्य माना जा सकता है। शास्त्र में भी एक दोषज रोग साध्य, द्विदोषज रोग याप्य एवं त्रिदोषज व्याधियाँ असाध्य बताई गई हैं।

वात व्याधियों का सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त[1]

वात व्याधियों की सामान्य चिकित्सा में निम्नलिखित चिकित्सा सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए–

1. स्नेह के साथ मृदु विरेचक औषधि
2. वातानुलोमन चिकित्सा
3. दीपन पाचन औषधि प्रयोग
4. निरुह बस्ति एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग
5. नस्य कर्म
6. धूमपान
7. मधुर, अम्ल, लवण एवं स्निग्ध आहार का प्रयोग

चिकित्सा

शास्त्र में वर्णित चिकित्सा सूत्रों के आधार पर वात व्याधि चिकित्सा को निम्न दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

I शोधन चिकित्सा
II शमन चिकित्सा

I शोधन चिकित्सा

वात व्याधियों की शोधन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न कर्म सम्पादित किए जाते हैं–

1. स्नेहन कर्म[2]

यदि आवरण रहित केवल शुद्ध वात दोष से रोगोत्पत्ति हुई हो तो रोगी को सर्वप्रथम घृत, तैल, वसा अथवा मज्जा द्वारा वाह्य एवं आभ्यान्तर स्नेहन करना चाहिए। इसके लिए दुग्ध, यूष, ग्राम्य या आनूप मांसरस में घृत आदि स्नेह का प्रयोग अथवा

1. मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्।
घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातला सिद्धमेव वा।।
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्।
स्निग्धाम्ल लवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः।।
स्रोतोबद्धवाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत्।
दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरुहैरुपाचरेत्।।
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम्।
संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ।।
स्वाद्वम्ल लवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः।।
नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत्।
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम्।। (च.चि. 28/84-89)
2. केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत।
वायुं सर्पिर्वसातैल मज्जपानैर्नरं ततः।। (च.चि. 28/75)

अनुवासन बस्ति, स्निग्ध नस्य तथा स्निग्ध अन्न का प्रयोग लाभकारी रहता है। सम्यक् स्नेहन के पश्चात रोगी का स्वेदन करना चाहिए।

2. स्वेदन कर्म[3]

रोगी का सम्यक रूप से स्नेहन होने के पश्चात सर्वशरीर गत अथवा शरीर के प्रभावित भाग पर वात नाशक तैल का अभ्यङ्ग कर नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद, संकर स्वेद अथवा चरक संहिता में वर्णित साग्नि-निराग्नि भेद से बताए गए स्वेदों में से उपयुक्त स्वेदन विधि द्वारा रोगी का स्वेदन करवाना चाहिए।

स्नेहन स्वेदन से लाभ

1. रोगी के शरीर में स्नेहन एवं स्वेदन का प्रयोग करने से विकृत एवं स्तब्ध हुए शरीर अवयवों में लोच उत्पन्न होती है जिससे धीरे-धीरे उनमें गति (Movement) उत्पन्न होने लगती है[2]।

2. स्वेदन के प्रयोग से रोगी के शरीर में उत्पन्न हर्ष, तोद (Pricking Pain), शोथ (Oedema), स्तम्भ (Stiftness) एवं अंगग्रह आदि वात विकार दूर होते हैं[3]।

3. धातुओं का शीघ्र पोषण होता है तथा शरीर में बल, अग्नि, जीवनीय शक्ति की वृद्धि होती है[4]।

3. विरेचन कर्म[5]

यदि उत्पन्न वात व्याधि अधिक बलवान होने के कारण स्नेहन एवं स्वेदन से शान्त नहीं होती है तो रोगी के शरीर का स्नेह के साथ मृदु विरेचक औषधियों द्वारा शोधन करवाना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित योग का प्रयोग करना चाहिए–

1. तिल्वक से सिद्ध घृत का प्रयोग अथवा
2. सातला से सिद्ध घृत का प्रयोग अथवा
3. एरण्ड तैल को दुग्ध के साथ मिला कर देना चाहिए।

4. बस्ति प्रयोग[6]

यदि रोगी विरेचन योग्य नहीं हो तो बस्ति के द्वारा उसकी चिकित्सा करनी

1. स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडी प्रस्तरसङ्करैः।
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत्।। (च.चि. 28/78)
2. स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा।
शनैर्नामयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत्।। (च.चि. 28/79)
3. हर्षतोदरुगायामशोथस्तम्भग्रहादयः।
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते।। (च.चि. 28/80)
4. स्नेहश्च धातूंस्संशुष्कान पुष्णात्याशु प्रयोजितः।
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत्।। (च.चि. 28/81)
5. यद्यनेन स दोषत्वात कर्मणा न प्रशाम्यति।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्।। (च.चि. 28/83)
6. दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरुहैरुपाचरेत।
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तुद्यतैर्नरम्।। (च.चि. 28/86)

चाहिए अथवा दीपन-पाचन द्रव्यों से युक्त भोजन खाने को देना चाहिए। संशोधन के पश्चात तथा अग्नि दीप्त हो जाने पर पुनः स्नेहन स्वेदन कराया जा सकता है।

आयुर्वेद में दूषित वात दोष के निर्हरण एवं चिकित्सा के लिए बस्ति को सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा माना गया है[1]। अतः वात व्याधियों की चिकित्सा में बस्ति प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

5. रसायन चिकित्सा

जीर्ण वात व्याधियों सहित अधिकांश अन्य जीर्ण रोगों में रोगी के बल का नाश हो जाता है एवं धातुएँ क्षीण हो जाती हैं जिनकी पूर्ति हेतु रसायन चिकित्सा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। यथा–शिवागुटिका, शिलाजतु एवं दुग्ध के साथ गुग्गुलु प्रयोग, बला रसायन तथा चरक संहिता के 'अभयामलकीय रसायन पाद' में वर्णित योग, जैसे–ब्रह्मरसायन, च्यवनप्राश, आमलक रसायन, हरीतक्यादि रसायन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं।

6. नस्य एवं धूमपान[2]

वात व्याधि से पीड़ित रोगी को महानारायण तैल, षड्बिन्दु तैल अथवा अणुतैल आदि से नस्य का प्रयोग करवाना चाहिए तत्पश्चात वातनाशक द्रव्यों का चूर्ण करके धूम्रपान विधि से रोगी को प्रयोग करवाना चाहिए।

7. आवरण की चिकित्सा[3]

वात व्याधि की चिकित्सा के अन्तर्गत 'आवरण' पर विचार एवं वात की विविध गतियों (क्षय, वृद्धि, समता) का ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है।

आवरण जन्य वात व्याधि की चिकित्सा में सर्वप्रथम आवरण की चिकित्सा करनी चाहिए। यदि कफ और पित्त दोनों दोष आवरक के रूप में हों तो पहले पित्त की चिकित्सा करनी चाहिए[4]।

आवरण चिकित्सा में सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि आवरण की वृद्धि नहीं होने पाए। बिना आवरक की पहचान एवं आतुरीय ज्ञान के आवरण चिकित्सा में सफलता सम्भव नहीं है। आवरण चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. आवरण चिकित्सा में जो औषधि कफ कारक नहीं हो परन्तु स्निग्ध एवं स्रोतोशोधक हो उनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए[5]।

---

1. बस्तिर्वातहराणाम् श्रेष्ठम्। (च.सू. 25/40)
2. नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत्। (च.चि. 28/88)
3. क्षय वृद्धि समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
   विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु।। (च.चि. 28/247)
4. संसृष्टे कफपित्ताभ्याम् पित्तमादौ विनिर्जयेत्। (च.चि. 28/188)
5. भिषग्जितमलः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत्।
   अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः।। (च.चि. 28/238)

2. जो औषध द्रव्य कफ ओर पित्त की वृद्धि न करे तथा वात का अनुलोमन करे, उनका प्रयोग चिकित्सा में करना चाहिए[1]।

3. प्रायः अनुवासन बस्ति या मधुर यापना बस्ति का प्रयोग करें, बलवान रोगी में विरेचन तथा दुर्बल रोगी में मृदुविरेचन या दीपन पाचन औषध प्रयोग करें[2]।

4. रसायन के रूप में, शिलाजतु, दुग्ध एवं गुग्गुलु तथा अभ्यामलकी का प्रयोग करें[3]।

5. पित्तावृत वात की चिकित्सा में बारी-बारी से शीतल एवं उष्ण क्रियाओं का प्रयोग एवं जीवनीय घृत का प्रयोग करना चाहिए[4]।

6. कफावृत वात चिकित्सा में तीक्ष्णस्वेदन, निरुहबस्ति, वमन, विरेचन, पुराना घृत, तिल एवं सर्षप तैल लाभदायक होता है[5]।

7. रक्तावृत्त वात में वात रक्त के समान चिकित्सा करनी चाहिए[6]।

8. मेदावृत्त वात में मेदनाशक, प्रमेहहर एवं वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिए[7]।

9. मूत्रावृत वात में मूत्र विरेचनीय औषधि तथा उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिए[8]।

10. पुरीषावृत वात चिकित्सा में एरण्ड तैल पान, स्निग्ध द्रव्यों का सेवन तथा उदावर्त के समान चिकित्सा करनी चाहिए[9]।

इस प्रकार सम्यक रूप से आवरण की चिकित्सा करनी चाहिए तथा अपने स्थान पर स्थित बलवान दोष की पहले चिकित्सा करें तत्पश्चात दुर्बल दोष को दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

II शमन चिकित्सा

वात व्याधि के शमन के लिए निम्नलिखित औषध द्रव्यों का प्रयोग युक्तिपूर्वक कर सकते हैं–

---

1. कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम्।
   सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत् कार्यमारुतेहितम्।। (च.चि. 28/239)
2. यापना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः।
   प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम्।। (च.चि. 28/240)
3. रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते।
   शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा।। (च.चि. 28/241)
4. पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्।
   व्यत्यासात् कारयेत सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते।। (च.चि. 28/184)
5. स्वेदास्तीक्ष्णा निरुहाश्च वमनं सविरेचनम्।
   जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्।। (च.चि. 28/187)
6. शोणितेनावृते कुर्याद्वातशोणितकीं क्रियाम्।। (च.चि. 28/194)
7. प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत्। (च.चि. 28/195)
8. मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरवस्तयः।। (च.चि. 28/197)
9. शकृता तैलमैरण्डं स्निग्धोदावर्तवत्क्रिया।। (च.चि. 28/197)

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा–125-250 मि.ग्रा.

अनुपान–मधु

(i) वातगजांकुशरस : वत्सनाभ, मुण्डी, रस सिन्दूर

(ii) महावातगजांकुश रस : अभ्रक भस्म, वत्सनाभ

(iii) चिन्तामणि रस : स्वर्ण, अभ्रक भस्म, घृतकुमारी

(iv) वातचिन्तामणि रस : स्वर्ण, प्रवाल, मुक्ता, कुमारी

(v) चतुर्मुख रस : स्वर्ण, कुमारी

(vi) योगेन्द्र रस : स्वर्ण, मुक्ता, कुमारी

(vii) वातारि रस : गुग्गुलु, त्रिफला

(viii) सर्वांगसुन्दर रस : अभ्रक, गन्धक, कुपीलु

(ix) वातविध्वंसन रस : एरण्ड, अभ्रक

(x) त्रैलोक्यचिन्तामणिरस : हीरक, स्वर्ण, कुमारी

(xi) रसराज रस : स्वर्ण, पारद, गन्धक, कुमारी

(xii) एकांगवीर रस : कुपीलु

(xiii) नवरत्नराजमृगांक रस : स्वर्ण, हीरक, पुष्पराग

(xiv) स्वर्ण भस्म : स्वर्ण

(xv) अभ्रक भस्म : अभ्रक

2. चूर्ण

मात्रा–2-5 ग्राम

अनुपान–कोष्ण जल/मधु

(i) अश्वगन्धा चूर्ण : अश्वगन्धा

(ii) नागराद्य चूर्ण : शुष्ठी, कुपीलु

(iii) पंचकोल चूर्ण : पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य

(iv) नारसिंह चूर्ण : भल्लातक

(v) षडधरण चूर्ण : चित्रक, इन्द्रयव, पाठा

3. क्वाथ/कषाय

मात्रा–20-40 मि.ली.

अनुपान–जल

(i) महारास्नादि क्वाथ : रास्ना

(ii) रास्नासप्तक क्वाथ : रास्ना, एरण्ड

(iii) रास्नादशमूल क्वाथ : रास्ता, बृहतीद्वय, सोनापाठा

(iv) माषबलादि क्वाथ : उड़द, बला

(v) रास्नादि क्वाथ : रास्ना, पुनर्नवा

(vi) गोक्षुरादि क्वाथ : गोक्षुर, एरण्ड

4. तैल

आभ्यान्तर प्रयोगार्थ तैल

मात्रा–10-20 मि.ली.

अनुपान–दुग्ध, उष्णोदक

(i) रसोन तैल : रसोन, तिल तैल

(ii) मूलकाद्य तैल : मूली स्वरस, तिल तैल, बला

(iii) बला तैल : बला, दशमूल, कुलत्थ

(iv) अश्वगन्धा तैल : अश्वगन्धा, केशर, मुलेठी, सारिवा

वाह्य एवं आभ्यान्तर प्रयोगार्थ तैल

(i) नारायण तैल : बिल्व, श्योनाक, बला, अश्वगन्धा

(ii) प्रसारिणी तैल : गन्धप्रसारिणी, चित्रक, पिप्पलीमूल

(iii) नकुल तैल : मधुयष्ठी, जीरक, दशमूल

(iv) माष तैल : माष, अतीस, यव, गोक्षुर

(v) महामाष तैल : माष, दशमूल, अजामांस

(vi) विषगर्भ तैल : धतूर, कुष्ठ, वचा, मरिच

(vii) महा विषगर्भ तैल : धतूर, निर्गुण्डी, कटुतुम्बी

(viii) अमृताद्य तैल : गुडूची, तिल तैल

विषगर्भ तैल एवं महाविषगर्भ तैल का केवल वाह्य प्रयोग किया जाता है।

5. घृत

मात्रा–10-20 मि.ली.

अनुपान–दुग्ध, उष्णोदक

(i) दशमूलाद्य घृत : दशमूल, जीवनीय गण

(ii) अश्वगन्धा घृत : अश्वगन्धा

(iii) नकुलाद्य घृत : नेवला मांस, दशमूल

(iv) छागलाद्य घृत : अजामांस, वृहत् पञ्चमूल

(v) हंसाद्य घृत : हंस मांस, सैन्धव, एरण्ड

(vi) चित्रकाद्य घृत : चित्रक, शुष्ठी, रास्ना

(vii) मज्ज स्नेह : मांस स्नेह, दशमूल

(viii) चतुः स्नेह : त्रिफला, कुलत्थ, सहिजन

6. गुग्गुलु प्रयोग

मात्रा–500 मि.ग्रा.–1 ग्राम

अनुपान–मधु/जल

(i) योगराज गुग्गुल, : चित्रक, पिप्पली, गुग्गुलु

(ii) महायोगराज गुग्गुलु : त्रिकुट, त्रिफला, एरण्ड, गुग्गुलु
(iii) कैशोर गुग्गुलु : त्रिफला, गुडूची
(iv) सिंहनाद गुग्गुलु : गुग्गुलु, त्रिफला, सर्षप तैल
(v) पञ्चामृत लौह गुग्गुलु : त्रिफला, गुग्गुलु, गन्धक
(vi) अमृता गुग्गुलु : गुडूची, त्रिफला, पुनर्नवा
(vii) शतावरी गुग्गुलु : शतावरी, गुग्गुलु
(viii) लाक्षादि गुग्गुलु : लाक्षा, गुग्गुलु

7. आसव/अरिष्ट

मात्रा–10-20 मि.ली.
अनुपान–जल

(i) दशमूलारिष्ट : दशमूल, चित्रक, पुष्करमूल
(ii) बलारिष्ट : बला
(iii) अश्वगन्धारिष्ट : अश्वगन्धा, मूशली, रास्ना
(iv) द्राक्षासव : द्राक्षा, धातकी, निर्गुण्डी

8. रसायन योग

मात्रा–10-15 ग्राम
अनुपान–दुग्ध/जल

(i) च्यवनप्राश : दशमूल, आमलकी
(ii) ब्रह्म रसायन : आमलकी, हरीतकी, दशमूल
(iii) शिलाजतु : शिलाजतु
(iv) शिवा गुटिका : हरीतकी

9. एकल औषधियाँ

निर्गुण्डी, बला, गुग्गुलु, शुण्ठी, लसुन, भल्लातक, हिङ्गु, सहिजन, रास्ना, दशमूल, अश्वगन्धा, एरण्ड, माष, घृत, वसा, मज्जा, शिलाजतु, ब्राह्मी, जटामांसी, वचा, पिप्पली, कौंच, शतावरी, प्रसारिणी, देवदारु, विधारा, कुपीलु, विदारीकन्द, वत्सनाभ, धतूर इत्यादि।

III योगासन/प्राकृतिक चिकित्सा

योग, ध्यान एवं प्राकृतिक चिकित्सा विधियों से भी वात व्याधियों को दूर करने में आशातीत सफलता मिलती है।

निम्न आसन वातव्याधियों में लाभदायक होते हैं–

(i) हलासन
(ii) सर्वाङ्गासन
(iii) विपरीतकरणी
(iv) वज्रासन
(v) भद्रासन
(vi) सूर्य नमस्कार
(vii) अर्धमत्स्येन्द्रासन
(viii) गोमुखासन
(ix) पद्मासन

1. उपरोक्त आसनों का नियमित अभ्यास करने से शरीर के विभिन्न भागों जैसे–पृष्ठ, कटि, जानु, जङ्घा, ग्रीवा इत्यादि अंगों की स्तब्धता एवं शूल में कमी आती है। शरीर की अग्नि में साम्यावस्था आती है तथा शरीर की उपापचय क्रिया में साम्यता स्थापित होती है।

2. प्राकृतिक चिकित्सा के अंतर्गत उष्ण जल में शरीर के विभिन्न प्रभावित भागों को कुछ देर रखते हैं। वाष्प के प्रयोग से भी शरीर की स्तब्धता एवं शूल में अत्यन्त लाभ होता है।

3. वायु एवं आतप स्नान, शरीर मर्दन (Massage), व्यायाम (Exercise) से भी वात व्याधियों को दूर करने में सहायता मिलती है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. पथ्य सेवन तथा वातनाशक आहार एवं विहार
3. शोधन चिकित्सा
   - बाह्य एवं आभ्यान्तर सम्यक स्नेहन
   - स्वेदन–सर्वाङ्ग/एकाङ्ग
   - अनुवासन एवं निरुह बस्ति प्रयोग
   - पत्रपिण्ड स्वेदन/षष्टिक शालि स्वेदन
   - कफ प्रधानता में–नस्य एवं धूम्रपान

	प्रात	: सायं
4.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
5.	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पञ्चामृत	: 250 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1 × 2 मात्रा
6.	भोजनोत्तर	
	रास्नासप्तक क्वाथ	: 20 मि.ली.
	अथवा मापबलादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
7.	ब्रह्मरसायन	: 20 ग्राम
	अथवा अश्वगन्धा पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य[1]

आहार	विहार
घृत, तैल, वसा, तिल, गेहूँ, माष, शालि चावल, साठी चावल, कुलत्थ, सुरा, परवल, सहिजन, बैगन, लहसुन, अनार, पक्व आम, फालसा, नींबू, बेर, द्राक्षा, मधुक, गोक्षुर, दुग्ध, नारियल जल, गोमूत्र, कांजी, इमली, आनूप एवं जांगल मांसरस आदि।	जल क्रीड़ा, संवाहन (शरीर दबवाना), तेज वायु से बचना, दाह कर्म, वमन धारण, भूमि पर शयन, स्नान, आसन पर बैठना, संतर्पण, बृंहण कर्म, धूप आतनाशक कर्म आदि।

अपथ्य[2]

आहार	विहार
चना, मटर, कोदो, साँवा, अरहर, कुरुविन्द आदि, धान्य, बोड़ा, मूँग, तालाब एवं नदी का जल, जामुन, कशेरु, तृणक, सुपारी, कमलनाल, सेमबीज, तालफल की गुठली का गूदा, करेला, ताड़ का कच्चाफल, पत्र शाक, गूलर, गधी का दुग्ध, क्षारीय पदार्थ, शुष्क मांस, तीक्ष्ण पदार्थ, मधु, दूषित जल आदि का सेवन।	चिन्ता, शोक, रात्रि जागरण, अधारणीय वेग धारण, श्रम, अनशन, स्त्री सङ्गम, हाथी, घोड़े की सवारी, चक्रमण, एक ही स्थान पर देर तक पड़े रहना इत्यादि।

1. अभ्यंगो मर्दनं बस्तिः.....पथ्यमेतन्नृणां भवेत्॥ (भै.र. 26/611-625)
2. चिन्ता प्रजागरण.....।
.....नृणां समीरणगदेषु मुदं न धत्ते॥ (भै.र. 26/626-630)

2. पक्षाघात रोग (PARALYSIS)

परिचय

संहिता ग्रन्थों में पक्षाघात का वर्णन वात व्याधि के अन्तर्गत प्राप्त होता है। जैसा कि स्पष्ट है संहिता ग्रन्थों में वात व्याधियों के वर्णन में किसी विशेष स्रोतस का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि प्रायः वात व्याधियाँ सर्वांग में रोग उत्पन्न करती हैं। पक्षाघात के संदर्भ में किसी विशिष्ट स्रोत का वर्णन संहिता ग्रन्थों में नहीं मिलता है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर पक्षाघात रोग में रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह एवं प्राणवह स्रोतस की दुष्टि प्रतीत होती है, क्योंकि प्रायः देखने में आता है कि पक्षाघात रोग प्रायः रक्तवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न होने या रक्तवाहिनियों के विदीर्ण होने से रक्तस्राव उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न होता है तथा शरीर में अधिकांश स्रोतसों को प्रभावित करते हुए विविध लक्षण उत्पन्न करता है। लक्षणों के आधार पर पक्षाघात का साम्य आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Paralysis नामक रोग से कर सकते हैं।

पक्षाघात (Paralysis) एक कृच्छ्रसाध्य रोग है। आयुर्वेद में 'पक्ष' का अर्थ शरीर के आधे भाग से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार पक्ष का तात्पर्य शरीर का ऊपर से नीचे तक का आधा भाग अथवा शरीर के मध्य से नीचे या ऊपर के आधे भाग से ग्रहण किया जाता है।[1]

आचार्य वाग्भट ने सम्भवतः इसीलिए एकाङ्गघात (Monoplegia) का समावेश पक्षाघात में किया है। पक्षाघात रोग में वातवह नाड़ियों का दूषित कफ से आवरण उत्पन्न हो जाता है, जिससे प्रभावित भाग में संज्ञा एवं क्रिया हानि (Loss of Sensations and functions of nerves), कार्श्य (Emaciation) एवं अंगों की गति में असमर्थता (Loss of movements) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तथा पक्षाघात रोग समस्त लक्षणों सहित व्यक्त हो जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

पूर्व वर्णित वात व्याधि के सभी सन्दर्भ

परिभाषा

अपने कारणों से प्रकुपित वायु जब शरीर के आधे भाग में अधिष्ठित होकर सिराओं एवं स्नायुओं को सुखाकर तथा सन्धि बन्धनों को शिथिल करके मनुष्य के अर्ध शरीर के क्रियाओं एवं चेतना को नष्ट कर देती है, उस अवस्था को कुछ विद्वान् एकांग रोग और कुछ विद्वान् पक्षवध या पक्षाघात कहते हैं। इसी प्रकार प्रकुपित वायु

1. कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यात्कर्मण्यो विचेतनः॥ (अ.हृ.नि. 15/39)

के सर्वशरीरगत होने पर सर्वशरीर की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती हैं, उस अवस्था को सर्वाङ्ग रोग अथवा सर्वाङ्गघात कहते हैं[1]।

निदान

पक्षाघात रोग की उत्पत्ति में सभी निदान वही होते हैं जो कि वात व्याधि के उत्पादक निदान हैं। अतः इन्हें वात व्याधि प्रकरण में ही देखें।

सम्प्राप्ति

विभिन्न प्रकार के निदान सेवन से वात दोष प्रकुपित होकर सर्वशरीर गत सिरा तथा स्नायुओं में स्थान संश्रय करता है तथा स्थान संश्रय के उपरांत शरीर के विशिष्ट अङ्ग, प्रत्यङ्ग भाग में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होती है, जिसके फलस्वरूप शरीर के आक्रान्त भाग की सिरा तथा स्नायुओं का शोषण प्रारम्भ हो जाता है तथा धीरे-धीरे शरीर का आधा भाग कार्य करने में अक्षम जाता है[2]। इसी अवस्था को पक्षाघात कहते हैं। पक्षाघात रोग में रस, रक्त, मांस धातु की दुष्टि एवं स्नायुओं की विकृति होती है। पक्षाघात में शिरा संकोच होने के कारण पोषणाभाव से मांस धातु का क्षय होने लगता है एवं प्रभावित भाग कृश तथा दुर्बल हो जाता है।

सम्प्राप्ति चक्र

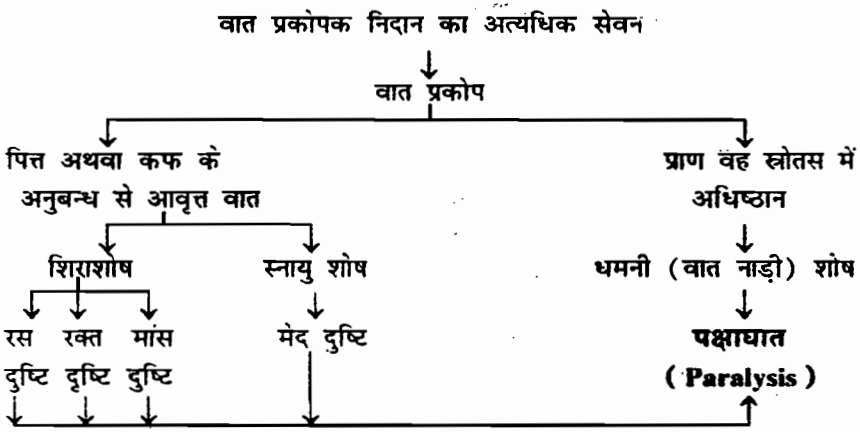

1. गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायु सिरो स्नायूर्विशोष्य च।
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्।।
कृत्स्नोऽर्धं कायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः।
एकाङ्ग रोगं तं कंचिदन्यं पक्षवधं विदुः।।
सर्वाङ्ग रोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले। (अ.हृ.नि. 15/38-40)
2. अथांगमाः सतिर्यग्गा धमनीरुर्ध्वं देहगाः।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते।।
तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान विमोक्षयन्।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः।। (सु.नि. 1/60-61)

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात प्रधान त्रिदोष
दूष्य	:	रस, रक्त, मांस, मेद, नाड़ी संस्थान
अधिष्ठान	:	शरीरार्ध
स्रोतस	:	रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदवह, प्राणवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	सङ्ग, अतिप्रवृत्ति, ग्रन्थि निर्माण
अग्नि स्थिति	:	विषमाग्नि
व्याधि स्वभाव	:	आशुकारी/चिरकारी
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/याप्य

सामान्य लक्षण[1, 2]

1. शरीर के प्रभावित भाग की चेष्टा का नाश (Loss of functions of the affected body parts)
2. बोलने में कठिनाई (Dysarthria)
3. हनुग्रह (Lock Jaw)
4. हस्त पाद सङ्कोच (Contractures of upper/lower extremities of affected side)
5. शरीरार्ध में तीव्र वेदना (Severe pain in affected body parts)
6. शिरा, स्नायु शोष (Atrophy of tendons)
7. हस्तपाद शोष (Muscular atrophy of affected arms/legs)
8. यदि दाह (Burning), सन्ताप (Hyperpyrexia) एवं मूर्च्छा (Fainting) हो तो वहाँ पर पक्षाघात में पित्त का अनुबन्ध समझना चाहिए।
9. यदि शीतलता (Cold extremities), शोथ (Oedema) एवं भारीपन (Heaviness) लक्षण मिलें तो वहाँ पर पक्षाघात में कफ का अनुबन्ध समझना चाहिए।

1. हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा।
कुर्याच्चेष्टा निवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च।।
गृहीत्वाऽर्धं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च।
पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तादृशूल कृत्।। (च.चि. 28/53-54)
2. दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तस।
शैत्य शोथ गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते।। (मा.नि. 22/42

पक्षाघात की विभिन्न अवस्थाएँ

पक्षाघात निम्नलिखित स्वरूपों में उत्पन्न हो सकता है–

1. एकाङ्गघात (Monoplegia)

प्रकुपित वायु शरीर के किसी एक भाग में रहने वाली शिरा एवं स्नायुओं को शुष्क कर एक हाथ अथवा एक पैर में सङ्कोच उत्पन्न कर देती है इससे प्रभावित भाग क्रियाहीन, कृश और शूलयुक्त हो जाता है। एकाङ्ग रोग को ही कुछ आचार्य पक्षवध भी कहते हैं[1]।

2. सर्वाङ्गघात (Quadriplegia)

प्रकुपित वायु शरीर की सम्पूर्ण शिरा एवं स्नायुओं को शुष्क कर देती है तथा सर्व शरीर में व्याप्त हो जाती है तब उसे सर्वाङ्गघात कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण शरीर निष्क्रिय हो जाता है[2]।

3. अधराङ्गघात (Paraplegia)

अधराङ्गघात में शरीरार्ध अर्थात कमर के नीचे का आधा भाग क्रियाहीन हो जाता है तथा कभी-कभी स्वतः मलमूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। अधरांगघात भी वस्तुतः आयुर्वेद की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार पक्षवध ही है, क्योंकि आचार्यों ने शरीर के उपर से नीचे तक का आधाभाग या मात्र नीचे के आधे भाग का क्रियाहीन होना पक्षवध ही माना है।

4. पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia)

इसमें शरीर के दक्षिण या वाम भाग में, लंबाई में प्रत्येक अङ्ग का घात हो जाता है।

साध्यासाध्यता[3, 4]

1. वह पक्षाघात जो पित्त या कफ दोष के अनुबन्ध से उत्पन्न होता है, साध्य होता है।

2. शुद्ध वात से उत्पन्न पक्षाघात कृच्छ्रसाध्य होता है।

3. रक्तादि धातुक्षय जन्य पक्षाघात असाध्य होता है।

4. गर्भिणी स्त्री, प्रसूता, बालक, वृद्ध, क्षीण तथा जिसे रक्तक्षय जन्य पक्षाघात हुआ हो उनकी चिकित्सा नहीं करें। यह असाध्य होता है।

5. वेदना रहित पक्षाघात भी असाध्य होता है।

---

1. एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः। (अ.हृ.नि. 15/40)
2. सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले। (अ.हृ.नि. 15/40)
3. शुद्धवातहतं पक्षं कच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
   साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम्। (सु.नि. 1/63)
4. गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये।
   पक्षाघातं परिहरेद्वेदनारहितो यदि।।
   वेदनारहितो यदीति भिन्नमसाध्यलक्षणम्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/208)

उपद्रव

पक्षाघात रोगी की सुव्यवस्थित ढंग से चिकित्सा नहीं करने पर निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं–

1. मूर्च्छा (Fainting) 2. क्षीण मांस (Emaciation)
3. विसर्प (Erysepalis/Cellulitis) 4. दाह (Burning)
5. मृत्यु (Death)

चिकित्सा सिद्धान्त[1, 2]

पक्षाघात चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व दोष एवं उसके अनुबन्ध तथा आवरण की स्थिति पर सम्यक रूप से विचार करने के उपरान्त चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए।

संहिता ग्रन्थों में पक्षाघात का निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धान्त वर्णित है–

1. स्वेदन (Sudation)
2. स्नेह द्रव्य से युक्त विरेचन कर्म
3. आचार्य वाग्भट ने स्नेहन तथा स्नेह मिश्रित विरेचन देने का निर्देश किया है।

चिकित्सा

1. **शोधन चिकित्सा**–पक्षाघात में शोधन प्रक्रिया पूर्णतः वातव्याधि के समान करें।

2. **शमन चिकित्सा**–पक्षाघात रोग में शमन चिकित्सा भी वात व्याधि चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

वस्तुतः पक्षाघात में मांस, सिरा, स्नायु, शोष की स्थिति पायी जाती है अतः विशेषकर बल्य औषधियों का प्रयोग अधिक करना चाहिए जिससे नाड़ी तंत्र (Nervous System) की कार्य क्षमता में वृद्धि होकर पक्षाघात रोग में पर्याप्त लाभ मिल सके।

पथ्यापथ्य

पक्षाघात रोग में पथ्यापथ्य का पालन वात व्याधि के समान करना चाहिए। **अतः वहीं पर पथ्यापथ्य का अवलोकन करें।**

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

---

1. स्वेदनं स्नेह संयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्।। (च.चि. 28/100)
2. स्नेहनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्।। (अ.हृ.चि. 21/44)

	प्रात	: सायं
2.	रसायन योगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1 × 2 मात्रा
3.	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	वातारि गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समान भाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	माष बलादि क्वाथ	: 30 मि.ली.
		1 × 2 मात्रा
6.	रात्रि में सोते समय	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	एक मात्रा
7.	स्थानीय अभ्यंग	: प्रसारिणी तैल + चन्दनबलालाक्षादि तैल
	स्वेदन	: सर्वाङ्ग पेटिका स्वेदन या
	जीर्ण रोग की अवस्था में	: पत्रपिण्ड स्वेदन
8.	शरीर बल के अनुसार यथोचित व्यायाम।	
9.	समुचित पथ्यापथ्य का पालन।	

योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा

1. पक्षाघात में शिरा, स्नायु, कण्डराओं का शोष हो जाने से वे कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। अत: रोगी को आवश्यकतानुसार योगासन या व्यायाम करना चाहिए।

2. पक्षाघात में प्रभावित भाग में बार-बार गति (Physiotherapy) तथा अभ्यंग अवश्य करायें।

3. प्राकृतिक चिकित्सा में मर्दन का प्रयोग करना चाहिए। प्रभावित भाग का मर्दन करने से रक्त संचरण प्रभावित होता है जिससे प्रभावित भाग में पर्याप्त स्वास्थ्य लाभ देखा जाता है।

4. पक्षाघात में Spinal Massage भी अत्यधिक लाभदायक होती है।

Latest Developments

I. Paraplegia

Definition

Paraplegia is paralysis of both the lower limbs.

Causes

1. Intracranial causes

(i) Tumor of falx cerebri.
(ii) Thrombosis of unpaired anterior cerebral artery.
(iii) Thrombosis of superior saggittal sinus.

2. Spinal causes

(i) Systemic Diseases of the cord.
(ii) Secondary affection of the white matter-like trauma, infections, embolism, thrombosis, haemorrhage, angiomas, neoplasms, etc.

3. Deficiency diseases

Pellagra, Nutritional myelopathy, Subacute combined degeneration.

4. Diseases of the lower motor neurons

(i) Motor neuron disease
(ii) Peripheral Neuritis
(iii) Myasthenia gravis
(iv) Tabes dorsalis

5. Lathyrism

Management: Principles

1. Management of paraplegia is directed to the cause.
2. Pressure sores are liable to develop because of the loss of sensation, diminished blood supply and immobility. The patient must be turned every 2-4 hours to a position which avoids pressure on bony prominences.
3. Aseptic intermittent catheterization must be performed if retention occurs.
4. Constipation must be prevented by suitable diet and laxatives.
5. Spasticity is prevented by regular passive movement of the limbs and nursing the patient.
6. A great deal can be done by rehabilitation when the cause of paralysis is not progressive.
7. Physiotherapy.

II. Hemiplegia

Definition

Hemiplegia is paralysis of one half of the body i.e. upper and lower limbs of the same side (epsilateral) or opposite side (contralateral hemiplegia).

Causes

1. Vascular Causes

(i) Thrombosis—Atherosclerosis, Arteritis. Syphilis, Collagen diseases. Cortical Thrombophlebitis.

(ii) Embolism—Auricular fibrillation, Myocardial infarction, Infective endocarditis, Atheromatous plaque. Thrombophlebitis, Post cardiac surgery etc.

(iii) Haemorrhage—Due to Hypertension, Arteritis, Atherosclerotic vessels, Berry's Aneurysm; Angiomatous Malformation.

2. Intracranial Infections

Encephalitis, Meningitis.

3. Trauma

Depressed fracture of skull.

4. Other causes

(i) Cerebral tumour
(ii) Chronic Subdutal Haematoma
(iii) Congenital Defects e.g. Cerebral Agenesis
(iv) Hysteria

Signs and Symptoms

(i) Mode of onset–Catastrophic in haemorrhage, progressive in thrombosis and instantaneous in embolism.
(ii) Intense headache
(iii) Vomiting preceding a stroke favours a diagnosis of haemorrhage.
(iv) Chest Pain–Suggests associated Myocardial infarction.
(v) Coma
(vi) Seizures–especially in tumour
(vii) Mental symptoms–encephalitis and some times tumour.
(viii) Abdominal pain and malena Suggests G.I. bleeding as the precipitating cause.
(ix) Lethargy & Stupor.
(x) Speech is slurred, dysarthric speech or dysphasic speech.
(xi) Neck regidity is important feature.

Investigations

(i) C.T. Scan
(ii) MRI
(iii) ECG
(iv) C.S.F. Examination
(v) Complete Haemogram
(vi) X-Ray Chest–P.A. View

Management–Principles

1. To check the Haemorrhage
2. Patient should be nursed with the head in a flat position. Frequent change of position to prevent lung congestion and bed sores.

3. Maintenance of airways
4. Maintenance of hydration and nutrition
5. Care of skin over pressure points like heels. ankles, buttocks, shoulders and elbows.
6. Care of bowel and bladder
7. Care of the eyes–Antibiotic drops to prevent exposure keratitis.
8. Treat the complications.
9. Appropriate antibiotics for pulmonary and urinary infections.
10. To reduce cerebral oedema.
11. Steroid therapy
12. Diuretics
13. Other symptomatic management.

III. Quadriplegia

Definition

Quadriplegia is paralysis of all the four limbs and may be trunk.

Causes

1. Cortical lesion

Cerebral palsy, microcephaly.

2. Brain Stem lesion

Vertebrobasilar insufficiency, Brainstem space occupying lesions, Bulbar Poliomyelitis, Motor Neuron Diseases.

3. High Cervical Cord Lesion

Fracture dislocation of cervical spine, craniovertebral anamaly, cervical spondylosis, hematomyelia.

4. Polyneuropathy

Acute infective polyneuritis, Porphyria, Diphtheria, Botulism, Infectious mononucleosis, Infective Hepatitis.

5. Muscle Diseases

Acute myasthenia gravis, periodic paralysis, polymyositis.

6. Anterior horn cell diseases

Poliomyelitis

7. Brain stem lesions with neuronal shock.

Management : Principles

1. Immobilization of the patients with the use of Crutchfield tongs.
2. Antibiotics.
3. To establish and maintain a patent airway.
4. Monitor respairatory status for signs of insufficiency.
5. Assess bowel sounds for paralytic ileus.
6. Maintain all the vital signs.
7. Symptomatic management with antibiotics and Corticosteroids.

IV. Monoplegia

Definition

Paralysis of a single limb or a single group of muscles is called monoplegia.

Causes

1. Compression of the nerves.
2. All the causes of Quadriplegia.

Management : Principles

1. Symptomatic management.
2. Use of Vitamin B_1, B_6, B_{12}.
3. Treat the causative factors.

3. गृध्रसी रोग
(SCIATICA)

परिचय

गृध्रसी रोग का वर्णन प्राय: सभी संहिता ग्रन्थों में मिलता है। गृध्रसी नाड़ी पर दबाव पड़ने के कारण रोगी को एक तरफ के पैर में कटि पदेश से पैर की अंगुलियों तक तीव्र शूल की अनुभूति होती है। सम्भवत: गृध्रसी रोग में निम्नलिखित स्रोतसों की दुष्टि होती है-

1. रक्तवह स्रोतस
2. मांसवह स्रोतस
3. मेदोवह स्रोतस
4. प्राणवह स्रोतस

गृध्रसी रोग में स्फिक् प्रदेश से वेदना प्रारम्भ होकर सक्थि (पैर) के पृष्ठ भाग में होते हुए क्रमश: पैर तक होती है। इसमें तीव्र शूल तथा आक्रान्त पैर का स्तम्भ लक्षण मिलता है। इस प्रकार का शूल प्राय: Sciatic Nerve के क्षेत्र में होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसे गृध्रसी नाड़ी शोथ (Sciatic Neuritis) या केवल गृध्रसी रोग (Sciatica) भी कहते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

पूर्व वर्णित वात व्याधि के सभी सन्दर्भ।

परिभाषा[1]

एक विशिष्ट प्रकार की पीड़ा जो स्फिक् प्रदेश से प्रारम्भ होकर क्रमश: कटि के पिछले भाग, उरु प्रदेश, जानु, पिण्डली तथा पैर तक जाती है, उसे गृध्रसी रोग कहते हैं।

1. स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्। गृध्रसी........ (च.चि. 28/56)

निदान

1. वात प्रकोपक सभी निदान गृध्रसी रोग के भी निदान हैं। अत: वात व्याधियों के सभी निदानों को गृध्रसी रोग का भी निदान समझना चाहिए।
2. मृदु शय्या या आसन पर अधिक देर तक शयन करना या बैठे रहना।
3. अत्यधिक पैदल चलना।
4. आघात लगना।

सम्प्राप्ति

विभिन्न प्रकार के वात प्रकोपक आहार एवं विहार का सेवन करने पर वात दोष अथवा वात एवं कफ दोष प्रकुपित हो जाते हैं तथा रस रक्तादि स्रोतसों में अधिष्ठित होकर कटि, पृष्ठ, उरु, जानु, जङ्घा एवं पैर में शूल उत्पन्न करते हैं इसे ही गृध्रसी रोग के नाम से जाना जाता है।

सम्प्राप्ति चक्र

विविध निदान सेवन
↓
वात अथवा वात कफ दोष का प्रकोप
↓
धमनी, शिरा, नाड़ी आदि में वात का आवरण एवं दोषों का अधिष्ठान
↓
रस दुष्टि — रक्त दुष्टि — मांस दुष्टि
↓
गृध्रसी रोग

सम्प्राप्ति घटक

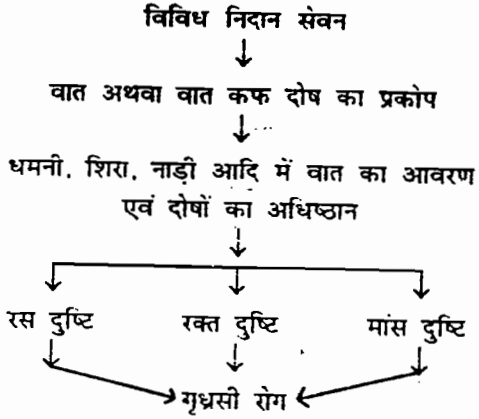

दोष	:	वात, कफ प्रधान त्रिदोष
दूष्य	:	रक्त, मांस, मेद, नाड़ी संस्थान
अधिष्ठान	:	कटि, उरु, जानु, जङ्घा, पैर
स्रोतस	:	रक्तवह, मांसवह, मेदवह, अस्थिवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	सङ्ग, सिरा ग्रन्थि
अग्नि स्थिति	:	विषमाग्नि, मन्दाग्नि
व्याधि स्वभाव	:	आशुकारी/चिरकारी
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य

सामान्य लक्षण[1]

1. **स्फिग प्रदेश से वेदना का प्रारम्भ होना (Origin of pain from hip region)**
2. **वेदना क्रमशः कटि, पृष्ठ, उरु, जानु, जङ्घा और पैर की ओर जाती है। (Pain radiates from hip to thigh, knee, leg and foot posteriorly)**
3. **पैर में स्तम्भ (Stiffness in leg)**
4. **सभी प्रभावित भाग में सुई चुभोने के समान वेदना तथा स्पन्दन।** (Needling pain in the affected parts and pulsations)
5. **वात कफज गृध्रसी में इन लक्षणों के अतिरिक्त तन्द्रा** (Drowsiness), शरीर में भारीपन (**Heaviness in body**) तथा अरोचक (Anorexia) के लक्षण भी रहते हैं।

भेद

गृध्रसी सामान्यत: दो प्रकार की होती है–

1. वातज गृध्रसी 2. वातकफज गृध्रसी

1. वातज गृध्रसी के लक्षण[2]

(i) सुई चुभोने के समान वेदना (Shooting type of pain)
(ii) शरीर में टेढ़ापन (Typical posture (curved) of the leg/body)
(iii) कटि, उरु एवं जानु की सन्धियों में स्तम्भ एवं स्फुरण (Stiffness and tingling sensation in the jonts of waist, thigh and knee)

2. वातकफज गृध्रसी के लक्षण[3]

(i) अग्निमांद्य (Poor Appetite)
(ii) तन्द्रा (Drowsiness)
(iii) मुख से लालास्राव (Excessive Salivation)
(iv) भक्त द्वेष (Anorexia)

साध्यसाध्यता

1. प्राय: गृध्रसी कृच्छ्रसाध्य होती है।
2. जीर्ण गृध्रसी रोग प्राय: असाध्य होती है।
3. वात कफज गृध्रसी साध्य होती है।

1. स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहु:॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रा गौरवारोचकान्विता॥ (च.चि. 28/56)
2. वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
जानु कट्यूरुसन्धीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम्॥ (मा.नि. 22/55)
3. वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तम् वन्हिमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च॥ (मा.नि. 22/56)

चिकित्सा सिद्धान्त[1, 2]

गृध्रसी रोग चिकित्सा में निम्नलिखित चिकित्सा सूत्र प्रयोग करने का विधान है–

1. कण्डरा और गुल्फ के बीच में शिरावेध।
2. अनुवासन तथा निरुह बस्ति का प्रयोग।
3. कण्डरा एवं गुल्फ के बीच अग्नि कर्म।
4. वमन एवं विरेचन के पश्चात् स्नेह वस्ति का प्रयोग।
5. आमरहित एवं दीप्ताग्नि होने पर ही स्नेह बस्ति का प्रयोग करें।

चिकित्सा

I. निदान परिवर्जन

यथावस्यक गृध्रसी के कारणों का ज्ञान कर उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

II. शोधन चिकित्सा

1. सर्वप्रथम प्रसारिणी तैल या महाविषगर्भ तैल से स्थानीय अभ्यंग करें।
2. वातहर द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए। वात कफज गृध्रसी में विशेषकर रुक्ष स्वेदन, जैसे बालुका स्वेद या सैन्धव लवण की पोट्टली बनाकर स्वेदन करें।
3. सैन्धवादि तैल की अनुवासन वस्ति तथा एरण्डमूलादि क्वाथ की निरुह बस्ति अत्यन्त लाभदायक होती है।
4. विबन्ध की स्थिति में विरेचन योगों का प्रयोग करना चाहिए।

III. शमन चिकित्सा

गृध्रसी रोग की शमन चिकित्सा के लिए वात व्याधि में वर्णित सभी योग अतीव लाभकारी हैं। अत: उन्हीं योगों का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र*

1. निदान परिवर्जन

1. अन्तराकण्डरागुल्फं सिरा बस्त्यग्नि कर्म च।
गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत.............................॥ (च.चि. 2[illegible]
2. गृध्रस्यार्तं नरं सम्यगग्निकेण वमनेन वा।
ज्ञात्वा निरामं दीप्ताग्निं बास्तिभि: समुपाचरेत्॥
नादौ बस्तिविधिं कुर्याद्यावदूर्ध्वं न शुध्यति।
स्नेहो निरर्थक: स स्याद् भस्मन्येव हुतं यथा॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24 [illegible]

	प्रात	: सायं
2.	रास्नादि गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	समीरपन्नग रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु/निर्गुण्डी पत्र स्वरस से	1 × 2 मात्रा,
3.	अजमोदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समान भाग जल	1 × 2 मात्रा
5.	रसोन क्षीर पाक	: 25 ग्राम
	एरण्ड मूल क्वाथ	1 × 2 मात्रा
	30 मि.ली. के साथ	
6.	रात्रि 9 बजे	
	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	एक मात्रा × 7 दिन तक
7.	पंचकर्म	: सैन्धवादि तैल अथवा महाविषगर्भ तैल से स्थानिक अभ्यङ्ग
		: स्थानिक नाड़ी स्वेदन अथवा पोट्टली स्वेदन
8.	नियमित व्यायाम	

योगासन एवं प्राकृतिक चिकित्सा

(i) गृध्रसी रोग में मुख्यत: गृध्रसी नाड़ी (Sciatic Nerve)पर अधिक दबाव पड़ने के कारण शूल होता है। अत: शवासन एवं सुखासन आदि अधिक लाभदायक होते हैं।

(ii) गृध्रसी रोग में इस प्रकार का व्यायाम करना चाहिए जिससे गृध्रसी नाड़ी पर अधिक दबाव नहीं पड़े।

(iii) हल्के हाथों से गृध्रसी नाड़ी प्रदेश में मर्दन (Massage)

(iv) उष्ण जल से कटि स्नान एवं वाष्प स्नान।

पथ्यापथ्य

पूर्व वर्णित वात व्याधि के समान

Latest Developments

Sciatica

Definition

Sciatica is characterized by a sharp shooting pain running down back of thigh. Movement of limb generally intensifies the suffering. Sciatica arises to compression or trauma of the Sciatic Nerve or its roots, especially that resulting from ruptured intervertebral disc or osteoarthritis of lumbo sacral vertebrae.

Composition of Sciatic Nerve

Sciatic nerve is the thickest nerve in the body. Sciatic nerve is composed by primary raimi of L4, L5, S1, S2, & S3 nerves. Due to compression of the nerves or nerve roots, the symptoms of sciatica appear.

Causes of Sciatica

The causes of sciatica are listed below

1. In the vertebral canal

(i) Prolapsed disc. (ii) Carries spine. (iii) Tumour of the cauda equina or meninges. (iv) Tumour of the vertebral column.

2. In the vertebral foramen

(i) Tumour of the nerve root. (ii) Lymphadenomatous Deposits. (iii) Spondylolisthesis (iv) Lumbago (v) Ankylosing spondylosis

3. In the pelvis

(i) Compression by an abscess, (ii) Compression by a tumour, (iii) Hip diseases, (iv) Infection of prostate or female genital tract.

4. In the thigh and Buttock

(i) Fibrositis, (ii) Sacro sciatic band, (iii) Hip joint diseases, (iv) Neurofibroma.

Signs and Symptoms

(i) Pain which starts in the back and radiates down towords one or both the legs .

(ii) Straight leg raising test, (S.L.R.) if positive is diagnostic of sciatica.

(iii) Lasegue's sign (Pain and discomfort in the back, when the fully extended leg of the supine patient is gently raised) is present in all cases.

(iv) According to nerve roots affected, the lower limbs may show diminished sensations

(v) Knee jerk or ankle jerk may be diminished or absent according to the nerve root affected.

Investigations

(i) Imaging of spine

1. Straight x-ray for detecting disc narrowing.
2. M.R.I.

(ii) Examination of C.S.F
(iii) Complete Haemogram

Management : Principles

1. Complete bed rest.
2. Analgesics and antiinflammatory drugs.
3. Local Heat.
4. Injection of 2% Lignocaine (local Anaesthetic) in to the sciatic nerve may produce dramatic relief.
5. Manage the causative factors of Sciatica.

Prognosis

- Recovery follows in majority of patients.

4. अर्दित रोग
(FACIAL PARALYSIS)

परिचय

अर्दित भी वात व्याधियों की तरह ही एक प्रकार का जीर्ण रोग है। इसमें मुख का आधा भाग विकृत हो जाता है। आधुनिक मतानुसार Facial Nerve की विकृति से अर्दित रोग की उत्पत्ति मानी जाती है। अर्दित एक चिरकारी रोग है, परन्तु यदि प्रारंभिक अवस्था में ही चिकित्सा की जाये तो व्याधि का शमन हो जाता है। अर्दित में मुखार्ध में टेढ़ापन एवं वेदना होती है। आचार्य चरक ने अर्दित को मुख के आधे भाग में अथवा शरीर के आधे भाग में होने वाला रोग बतलाया है[1]। जबकि आचार्य सुश्रुत ने अर्दित को केवल मुखार्ध में होने वाला रोग माना है[2]। यहाँ पर आचार्य सुश्रुत का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है तथा इससे अर्दित एवं पक्षाघात में अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अर्दित रोग की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के संक्रमण या अन्य कारणों से Facial Nerve की विकृति के कारण होती है। इसमें मुख का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है। इसे Facial Paralysis या Bell's Palsy भी कहते हैं।

परिभाषा

"अर्दयति पीडयति इति अर्दित:"

अर्थात् वह रोग जिसमें मुख के आधे भाग में टेढ़ापन एवं पीड़ा हो उसे अर्दित कहते हैं। अर्दित को मुखार्धघात भी कहा जाता है।

1. अतिवृद्ध: शरीरार्धमेक वायु: प्रपद्यते।
   यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च:॥ (च.चि. 28/38)
2. अर्दयित्वाऽनिल: [illegible] [illegible]जनयत्यत:॥
   वक्री भवति वक्त्रार्धं ग्रीवा [illegible]॥ (सु.नि. 1/70)

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

पूर्व वर्णित वात व्याधि के सभी सन्दर्भ

निदान[1, 2]

आचार्यों ने शास्त्रों में अर्दित रोग के निम्न निदान वर्णित किये हैं–

1. गर्भिणी, प्रसूता स्त्री, बालक, वृद्ध एवं क्षीण पुरुषों में अत्यधिक रक्त क्षय होने के कारण।
2. अत्यधिक उच्चस्वर में भाषण करना
3. अत्यन्त कठिन पदार्थों का भक्षण
4. अत्यधिक हँसना
5. बार-बार जम्हाई लेना
6. अत्यधिक भार उठाना
7. विषम स्थान (ऊँची नीची भूमि) पर शयन करना
8. मुख को टेढ़ा करके छींकना
9. वातकारक आहार विहार का सेवन

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदानों के सेवन करने से वात दोष प्रकुपित हो जाता है। यह प्रकुपित वात दोष शिर, नासिका, ओष्ठ, हनु, ललाट और नेत्र की सन्धियों में अवस्थित होकर उन्हें टेढ़ा कर देता है तथा मुखार्ध में वेदना की उत्पत्ति भी होती है। इसे अर्दित रोग कहते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
वात प्रकोप
↓
शिर, नासा, हनु, ललाट, नेत्र की सन्धियों में प्रकुपित वात दोष की व्याप्ति
↓
अर्दित रोग

1. गर्भिणी सूतिका बाल वृद्ध क्षीणेष्वसृक्क्षये।
   उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादत: कठिनानि च॥
   हसतो जृम्भतो भाराद् विषमाच्छयनादपि।
   शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिग:॥
   अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यत:।
   वक्री भवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते॥ (सु.नि. 1/68-70)
2. शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात्।
   उत्त्रासवक्त्रक्षवथो: खरकार्मुककर्षणात्॥ (अ.हृ.नि. 15/32)

सम्प्राप्ति घटक

आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में अर्दित रोग के अलग से सम्प्राप्ति घटकों का वर्णन नहीं मिलता है, परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट है कि अर्दित रोग की उत्पत्ति में निम्नलिखित सम्प्राप्ति घटक महत्वपूर्ण योगदान देते हैं–

दोष	:	वात प्रधान त्रिदोष
दूष्य	:	रस, रक्त, मांस, सिरा
अधिष्ठान	:	मुखार्ध
स्रोतस	:	रसवह, रक्तवह, मांसवह, प्राणवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, सिराग्रन्थि
अग्नि स्थिति	:	विषमाग्नि
व्याधि स्वभाव	:	नवीन-मृदु/जीर्ण-दारुण
साध्यासाध्यता	:	नवीन-साध्य, जीर्ण-याप्य/असाध्य

पूर्वरूप[1]

आचार्य सुश्रुत ने अर्दित के निम्नलिखित पूर्वरूप वर्णित किये हैं–

1. रोमहर्ष (Horripilation)
2. वेपथु (कम्पन Tremors)
3. आविल नेत्रता (Lacrimation of eyes or fullness of eyes with tears)
4. वायु का उर्ध्ववेग (डकार आना Erructations)
5. त्वचा में सुन्नता (Loss of sensation of skin/numbness)
6. तोद (Tingling Sensation)
7. मन्यास्तम्भ (Neck Rigidity)
8. हनुस्तम्भ (Lock Jaw)

भेद[2]

बृहत्रयी के ग्रन्थों में अर्दित के भेदों का वर्णन नहीं मिलता है। आचार्य भावमिश्र ने अर्दित रोग को निम्न तीन प्रकार का बताया है–

1. वातज अर्दित
2. पित्तज अर्दित
3. कफज अर्दित

1. यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम्।
वायुरुर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्या हनुग्रहः।।
तमर्दितामिति प्राहुर्व्याधिम् व्याधिविशारदाः। (सु.नि. 1/71-72)
2. वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्त्रिविधं तस्समासतः। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/64)

सामान्य लक्षण[1]

विभिन्न आचार्यों ने अर्दित रोग के निम्नलिखित लक्षण वर्णित किये हैं–

1. मुख का एक तरफ टेढ़ा हो जाना (Unilateral facial paralysis)
2. नेत्र, ललाट, ओष्ठ एवं जिह्वा एक तरफ वक्र हो जाती है (Drooping of muscles of eyes, fore head, lip and tongue on the affected side)
3. शिरःकम्प (Tremors of head, Involuntary movements of head)
4. वाक्सङ्ग (Aphonia)
5. स्तब्धनेत्रता (Immobilization of eyes)
6. दन्तचाल (Friction of teeth)
7. स्वर भ्रंस (Hoarseness of voice)
8. श्रुति हानि (Deafness)
9. क्षवग्रह (छींक रूक जाना Difficulty in sneezing)
10. गन्ध का ज्ञान नहीं होना (Anosmia)
11. स्मृति मोह (यादास्त की कमी Decreased Memory)
12. निद्रा में भय लगना
13. मुख के प्रभावित भाग से निष्ठीव (थूक) अन्न एवं जल का गिरना
14. गले के उर्ध्व अथवा अधो भाग में पीड़ा (Pain in the upper or lower part of the neck)

आचार्य वाग्भट ने केचित् मत से अर्दित रोग को 'एकायाम' नाम भी दिया है।

भेदानुसार अर्दित रोग के लक्षण

1. वातज अर्दित[2]

(i) मुख से अत्यधिक लालास्राव (Excessive salivation)
(ii) व्यथा (Pain) (iii) कम्प (Tremors)
(iv) हनुग्रह (Lock Jaw) (v) वाग्ग्रह (Difficulty in Speech)
(vi) ओष्ठ में शोथ एवं शूल (Oedema and pain in Lips)

1. चक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम्।
ततोऽस्य कम्पतं मूर्धा वाक्सङ्गः स्तब्धनेत्रता।।
दन्तचालः स्वरभ्रंसः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः।
गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोहस्त्रासः सुप्तस्य जायते।।
निष्ठीव पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णो निमीलनम्।
जत्रोरुर्ध्वं रुजातीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपि वा।।
तमाहुरर्दितं कंचिदेकायामथापरे। (अ.हृ.नि. 15/34-36)
2. लालास्रावो व्यथा कम्पः स्फुरणं हनुवाग्ग्रहः।
ओष्ठयोः श्वयथुः शूलं चार्दिते वातजे भवेत्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/65)

2. पित्तज अर्दित[1]

(i) मुख का वर्ण पीताभ (Yellow colouration of face)
(ii) ज्वर (Fever)
(iii) पिपासा (Thirst)
(iv) मोह (Confusion)
(v) उष्णता (Heat)

3. कफज अर्दित[2]

(i) गाल, शिर एवं मन्या में शोथ तथा स्तम्भ (Oedema and Stiffness in Cheeks, Head and Neck)

सापेक्ष निदान

अर्दित रोग का निदान इसके लक्षणों के आधार पर प्राय: आसानी से हो जाता है। निम्नलिखित व्याधियों के साथ अर्दित रोग का सापेक्ष निदान करना चाहिए।

1. पक्षाघात

पक्षाघात में ऊपर से नीचे तक शरीर के अर्ध भाग में चेष्टा का नाश होता है। जबकि अर्दित में केवल मुखार्ध प्रभावित होता है। पक्षाघात में शरीरार्ध में तीव्र वेदना होती है, अर्दित में मुखमण्डल के अर्ध भाग में ही पीड़ा होती है। पक्षाघात का प्रमुख कारण आघात, रक्त स्राव इत्यादि होता है, अर्दित का मुख्य कारण, वातज आहार, विहार एवं मुखगत नाड़ी (Facial Nerve) की विकृति होती है।

2. जिह्वास्तम्भ

जिह्वा स्तम्भ वाग्वाहिनी नाड़ी (Hypoglossal Nerve) की विकृति के कारण होता है जबकि अर्दित में Facial Nerve की विकृति होती है। जिह्वास्तम्भ में आहार ग्रहण, जल ग्रहण एवं बोलने में कठिनाई होती है लेकिन मुख पर वाह्य लक्षण नहीं मिलते हैं। अर्दित में भी उपरोक्त लक्षण मिलते हैं, परन्तु मुख पर मांसपेशियाँ कमजोर हो जाती हैं जबकि जिह्वास्तम्भ में बाह्य लक्षण नहीं मिलता है।

साध्यासाध्यता[3]

निम्न लक्षणों की उपस्थिति पर अर्दित रोग असाध्य होता है–

1. अत्यन्त क्षीण रोगी (Very weak patient)
2. जिनके नेत्र न खुल सकें और न ही बन्द हो सकते हों (Immobilization of eyes)

1. पीतमास्यं ज्वरस्तृष्णापित्तजे मोहधूपते। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/66)
2. गण्डं शिरसिमन्यां शोथ: स्तम्भ: कफात्मके।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/66)
3. क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्तं मक्तभाषिण:।
न सिद्धयत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च।। (सु.नि. 1/73)

3. निरन्तर अस्पष्ट बोलने वाला रोगी (Unclear Speech)
4. तीन वर्ष का पुराना अर्दित रोग (Three years old Facial Paralysis)
5. जिस रोगी में कम्प लक्षण हो (Facial Paralysis with tremors)
6. जिस रोगी के नेत्र, नासा, मुख से निरन्तर स्राव होता हो (Secretions from eyes, nose and salivations)।

उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से युक्त अर्दित रोग साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

आचार्य चरक ने अर्दित रोग के निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धान्त वर्णित किए हैं–

1. नस्य
2. मूर्धा पर तैलाभ्यङ्ग
3. सन्तर्पण आहार का सेवन
4. नाड़ी स्वेदन
5. आनूप जीवों के मांस का उपनाह

आचार्य वाग्भट ने उपरोक्त चिकित्सा क्रम के अतिरिक्त निम्नलिखित चिकित्सा क्रम और बताये हैं[1]–

1. कर्ण एवं नेत्र का तर्पण
2. शोफ होने पर वमन
3. दाह एवं लालिमा होने पर शिरा वेधन

आचार्य सुश्रुत ने अर्दित रोग चिकित्सा हेतु शिरोवस्ति का प्रयोग तथा सम्पूर्ण चिकित्सा व्यवस्था वात व्याधि चिकित्सा के अनुसार करने का निर्देश दिया है।

चिकित्सा

I. निदान परिवर्जन

अर्दित रोग के वर्णित निदानों के सेवन का प्रतिकार करना चाहिए।

II. शोधन चिकित्सा

1. स्नेहपान, बाह्य अभ्यङ्ग एवं नाड़ी स्वेदन
2. शोफावस्था में वमन
3. विरेचन कर्म
4. रक्तमोक्षण

1. अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च।
नाड़ी स्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिता:।। (च.चि. 28/99)
2. अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं श्रोतोक्षितर्पणम्।
सशोफे वमनं दाहरागे युक्तं शिराव्यधः।। (अ.हृ.चि. 21/43)

III. शमन चिकित्सा

अर्दित रोग में शमन चिकित्सा पूर्णतया वात व्याधि में वर्णित शमन चिकित्सा के अनुसार करें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	वातारि गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
3.	योगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	स्वर्ण समीर पन्नग रस	: 125 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	बलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	सम भाग जल से	1×2 मात्रा
5.	एरण्ड पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
6.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 मात्रा
7.	पथ्यापथ्य का पालन	

पथ्यापथ्य

वात व्याधि में वर्णित पथ्यापथ्य का पालन करना चाहिए।

Latest Developments

Facial Paralysis – Bell's Palsy

Facial palsy is a common condition affecting all age groups and both sexes.

Causes

1. The exact cause is unknown but the site of damage is generally the portion of facial nerve lying within the Facial canal.
2. Recent evidences suggest that Bell's palsy may be due to reactivation of latent Herpes simplex virus-1 infection since HSV-1 virus genome has been identified in facial nerve, endoneural fluid and in saliva of patients with Bell's palsy.

Signs and Symptoms

1. The onset usually is subacute. with symptoms developing over a few hours.
2. Pain around ear may precede loss of movement of one side of the face .
3. Difficulty in eating, chewing and drinking.
4. Numbness of affected side of the face.

Diagnosis of Facial Palsy

1. Asymmetry of the face.
2. Stasis of food in the mouth.
3. Dribbling of saliva through the angle of the mouth.
4. Inability to close the mouth.

Management : Principles

1. There is no proven medical treatment, though a course of steroids such as 40-60 mg daily for a week may speed up recovery.
2. About 70-80% of patients recover spontaneously within 2-12 weeks but elderly patients with complete Facial Palsy have a poorer prognosis.

5. प्रमुख विशिष्ट वात व्याधियाँ

कोष्ठगत वात

सामान्य लक्षण[1]

कोष्ठगत प्रकुपित वात के निम्नलिखित लक्षण शास्त्र में वर्णित हैं–

1. मूत्र निग्रह (Retention of urine)
2. मल निग्रह (Constipation)
3. व्रघ्न रोग (Inflammation of Cervical lymph glands)
4. हृदय रोग (Cardiac diseases)
5. गुल्म रोग (Generalised Abdominal Tumours)
6. अर्श (Piles)
7. पार्श्वशूल (Pain in ribs)

---

1. तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
व्रह्म हृद्रोग गुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते।। (च.चि. 28/24)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. क्षार प्रयोग
2. दीपन पाचन चिकित्सा
3. अम्ल रस प्रधान द्रव्यों का प्रयोग
4. दुग्ध पान

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	शिवा क्षार पाचन चूर्ण	: 2 ग्राम
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	नींबू स्वरस से	1×2 मात्रा
3.	षड्धरण योग	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	: 1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	शंख वटी	: 250 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	उष्णजल से	1×2 मात्रा
5.	रात्रि में	
	त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
6.	पथ्य–लघु, सुपाच्य भोजन एवं गोदुग्ध।	

6. सर्वाङ्गगत वात

सामान्य लक्षण[3]

1. गात्रस्फुरण (Tingling sensation all over the body)
2. गात्र भञ्जन (Bodyache)
3. सन्धिस्फुटन (Pain in the joints)
4. सन्धियों में वेदना (Pain and inflammation in the joints)

1. विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः।
   पाचनैर्दीपनीयैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान्।। (च.चि. 28/89)
2. विशेषतः पिबेत्क्षीरं नरः कोष्ठगतेऽनिले।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/239)
3. सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने।
   वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तिवास्यसन्धयः।। (च.चि. 28/25)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. वात नाशक तैलों से अभ्यङ्ग
2. एकान्तर क्रम से अनुवासन एवं निरुह बस्ति का प्रयोग
3. पथ्यापथ्य का पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	योगराज गुग्गुल	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पंचामृत	: 250 मि.ग्रा.
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
4.	(i) सर्वाङ्ग अभ्यङ्ग–महानारायण तैल एवं प्रसारिणी तैल मिला कर (ii) सर्वाङ्ग स्वेदन--दशमूल क्वाथ वाष्प स्वेद	
5.	एरण्ड स्नेह अनुवासन बस्ति एवं एरण्ड मूलादि निरुह बस्ति (अवान्तर क्रम से)	
6.	पथ्य सेवन	

7. आमाशयगत वात

सामान्य लक्षण[2]

1. हृदय शूल (Cardiac pain or Angina)
2. नाभि शूल (Umbilical pain)
3. पार्श्व शूल (Pain in lateral sides of the chest)
4. उदर शूल (Pain Abdomen)
5. तृष्णा (Thirst)

1. सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गे वस्तयः सानुवासनाः। (च.चि. 28/91)
2. हृत्पार्श्वोदरनाभीरुक्तृष्णोद्गार विसूचिकाः।
   कासः कण्ठास्य शोषश्च श्वासश्चामाशयेऽनिले।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/240)

6. उद्गार (Eructations /Belching)
7. विसूचिका (Diarrhoea & Vomiting with pain in Abdomen)
8. कास (Cough)
9. कण्ठ एवं मुख का शुष्क होना (Dryness of throat and mouth)
10. श्वास रोग (Breathlessness)
11. मोह (Confusion)
12. मूर्च्छा (Fainting)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. सर्वप्रथम लंघन 2. दीपन पाचन चिकित्सा
3. वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन
4. पुराण मूँग, यव, शालि चावल का सेवन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
   प्रात : सायं
2. त्रिकटु चूर्ण : 2 ग्राम
   भुवनेश्वर चूर्ण : 2 ग्राम
   कोष्ण जल से 1×2 मात्रा
3. षड्धरण चूर्ण[2] : 3 ग्राम
   उष्ण जल से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   शंख वटी : 250 मि.ग्रा.
   चित्रकादि वटी : 250 मि.ग्रा.
   जम्बीरी नींबू स्वरस से 1×2 मात्रा
5. रात्रि में
   पञ्चसकार चूर्ण : 2 ग्राम
   कोष्ण जल से 1 मात्रा
6. पथ्य सेवन

---

1. आमशयस्थेत्वनिले प्रशस्तं प्राग् लङ्घनं दीपनपाचनञ्च।
प्रच्छर्दनं तीक्ष्णविरेचनं वा मुद्गा यवा: शालियुता: पुराणा:।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/241)
2. चित्रकेन्द्रयवौ पाठा कटुकातिविषाऽभया।
आमाशयोत्थ वातघ्नं चूर्णं पेयं सुखाम्बुना।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/243)

8. पक्वाशयगत वात

सामान्य लक्षण[1]

1. आन्त्र कूजन (Gargling sound in Abdomen)
2. उदर शूल (Pain Abdomen)
3. आटोप (Tympanitis)
4. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria / Retention of urine)
5. पुरीष सङ्ग (Constipation)
6. आनाह (Distension of Abdomen)
7. त्रिक प्रदेश में वेदना (Low Backache)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. जाठराग्नि प्रदीप्त करना 2. उदावर्त नाशक चिकित्सा
3. स्नेह युक्त विरेचन औषधि प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
   प्रात : सायं
2. हिंग्वाष्टक चूर्ण : 2 ग्राम
   प्रवाल पञ्चामृत : 250 मि.ग्रा.
   सूतशेखर रस : 125 मि.ग्रा.
   कोष्ण जल से 1×2 मात्रा
3. शंखवटी : 250 मि.ग्रा.
   अग्नितुण्डी वटी : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   नारिकेल खण्ड : 20 ग्राम
   दुग्ध से 1×2 मात्रा
5. रात्रि में
   त्रिफला चूर्ण : 3 ग्राम
   गर्म जल से 1×2 मात्रा
6. पथ्य सेवन

---

1. पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाह त्रिकवेदनाम्।। (च.चि. 28/28)
2. वन्हे: सम्वर्धनं कार्यं मौदावर्तकं तथा।
देय: स्नेहविरेकस्य पक्वाशय गतेऽनिले।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/247)

9. गुदस्थित वात

सामान्य लक्षण[1]

1. मूत्र निग्रह (Retention of Urine)
2. पुरीष निग्रह (Constipation)
3. अपान वायु निग्रह (Retention of Flatus)
4. उदर शूल (Pain Abdomen)
5. आध्मान (Tympanitis)
6. मूत्राशय में अश्मरी होना (Urinary Bladder Stone)
7. मूत्र में शर्करा की उत्पत्ति (Urine Sugar / Diabetes Mellitus)
8. जङ्घा में वेदना (Pain in calf muscles)
9. उरु प्रदेश में वेदना (Pain in thigh muscles)
10. त्रिक प्रदेश में वेदना (Low Backache)
11. पाद शूल (Pain feet)
12. पृष्ठ शूल (Backache)
13. शोष (Emaciation)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. उदावर्त में प्रयुक्त चिकित्सा हित कारक होती है।
2. दीपन, पाचन योगों का प्रयोग।
3. अम्ल एवं लवण रस प्रधान द्रव्यों का प्रयोग।
4. विरेचन योगों का प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	हिंग्वाष्टक चूर्ण	: 3 ग्राम
	वैश्वानर चूर्ण	: 2 ग्राम
	घृत के साथ	1×2 मात्रा
3.	स्थिराद्य घृत	: 15 मि.ली.
	शुण्ठी क्वाथ के साथ	1×2 मात्रा

---

1. ग्रहोविण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोग शोषो गुदस्थिते।। (च.चि. 28/26)
2. वाते गुदगते दुष्टे कर्मोदावर्तनकम हितम्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/251)

4.	रात्रि में	
	पञ्चसकार चूर्ण	: 2 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
5.	पथ्य सेवन	
6.	भोजन के पश्चात वज्रासन	

10. त्वक् स्थित वात
(PERIPHEREL NEURITIS)

सामान्य लक्षण[1]

1. त्वक् रुक्षता (Dryness of skin)
2. त्वक् स्फुटन (Blisters in the skin)
3. त्वचा में सुप्ति (Numbness in the skin)
4. त्वक् कृशता (Thinning of the skin)
5. कृष्ण वर्णता (Blackish colouration of skin)
6. त्वक् में सूची वेधनवत पीड़ा (Pricking pain)
7. तनाव (Tense skin)
8. त्वक् लालिमा (Inflammatory skin)
9. पर्वरुक् (सन्धियों में वेदना–Joint pain)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. सर्वाङ्ग स्वेदन
2. सर्वाङ्ग अभ्यङ्ग (वातनाशक तैलों के द्वारा)
3. अवगाहन
4. हृदय के लिए हितकर अन्न का प्रयोग
5. मर्दन, रक्तमोक्षण, आलेप आदि चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	नागरादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	हरिद्रा खण्ड	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा

---

1. त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले।। (च.चि. 28/30)
2. स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते। (च.चि. 28/91)

3. आमल्क्यावलेह : 20 ग्राम
दुग्ध से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. पञ्चगुण तैल अथवा प्रसारिणी तैल से स्थानीय अभ्यङ्ग एवं सर्वाङ्ग स्वेदन
6. रात्रि में
मुख विरेचन वटी : 250 मि.ग्रा.
गर्म जल से एक मात्रा
7. पथ्य सेवन

11. रक्तगत वात (Hypertension)

सामान्य लक्षण[1]

1. सम्पूर्ण शरीर में तीव्र वेदना (Severe bodyache)
2. सन्ताप (Feverish sensation)
3. विवर्णता (Discolouration of the body)
4. कृशता (Lean & thin body structure)
5. भोजन में अरुचि (Anorexia)
6. सर्वशरीर में फुन्सियों का होना (Boils all over the body)
7. भोजनोत्तर शरीर में स्तम्भ (Stiffness in the body after meals)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. शीतल द्रव्यों का प्रदेह 2. विरेचन चिकित्सा 3. रक्तमोक्षण

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
प्रात : सायं
2. अश्वगन्धा चूर्ण : 2 ग्राम
पुनर्नवादि चूर्ण : 2 ग्राम
कोष्ण जल से 1×2 मात्रा

---
1. रुजस्तीव्रा: ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचि:। गात्रे चारुचि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥ (च.चि. 28/31)
2. शीता: प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्। (च.चि. 28/92)

Parul ... Ayurveda Library
616
SHA
A 6990

3. चन्दनादि लौह : 250 मि.ग्रा.
प्रवाल पिष्टी : 250 मि.ग्रा.
सर्पगन्धा चूर्ण : 250 मि.ग्रा.
मधु से 1×2 मात्रा
4. ब्रह्म रसायन : 20 ग्राम
गोदुग्ध से 1×2 मात्रा
5. भोजनोत्तर
अर्जुनारिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा
6. रात्रि में
त्रिवृत् चूर्ण : 3 ग्राम
गर्म जल से एक मात्रा
7. पथ्य सेवन

विशेष—वर्तमान समय में आयुर्वेद के विद्वान रक्तगत वात की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) से करते हैं, क्योंकि दोनों व्याधियों के लक्षणों में पर्याप्त समानता मिलती है। चिकित्सा सूत्र की दृष्टि से भी रक्तगत वात को उच्च रक्त चाप मान सकते हैं। अत: उच्च रक्तचाप की चिकित्सा भी रक्तगत वात के समान ही करनी चाहिए।

12. मांसगत एवं मेदोगत वात

सामान्य लक्षण[1]

1. सम्पूर्ण शरीर में गौरव (Heaviness in the body)
2. सर्व शरीर में तोदवत वेदना (Pricking pain all over the body)
3. दण्ड या मुष्टि प्रहार समान वेदना (Pain like fist blow)
4. सर्वाङ्ग वेदना (Generalised Bodyache)
5. थकावट (Fatigue)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. सर्वप्रथम सम्यक स्नेहन के उपरान्त विरेचन।
2. निरुह बस्ति प्रयोग।
3. दोषानुसार शमन चिकित्सा प्रयोग

---
1. गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा। सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले॥ (च.चि. 28/32)
2. विरेको निरूहा: स्नेहा: शमनानि च॥ (च.चि. 28/93)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

	प्रात	: सायं
2.	सिंहनाद गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नि तुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	रात्रि में	
	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	एक्र मात्रा
5.	वचादि लेखन वस्ति	: 15 दिन
6.	पथ्य सेवन	
7.	व्यायाम	

13. अस्थि एवं मज्जागत वात

सामान्य लक्षण[1]

1. अस्थि भेद (Breaking pain in bones)
2. पर्व भेद (Pain in all the joints)
3. सन्धि शूल (Joint pains)
4. मांस क्षय (Myopathy)
5. बल क्षय (Weakness)
6. अनिद्रा (Insomnia)
7. शरीर में निरन्तर वेदना (Continuous Bodyache)
8. अस्थि शोष (Osteoporosis)
9. अस्थि शूल (Ostalgia/Bony pain)
10. मज्जा शोष (Depleted bone marrow)

---

1. [illegible]ऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं [illegible]।
अस्वप्नः सन्ततारुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले॥ (च.चि. 28/33)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. वाह्य एवं आभ्यान्तर स्नेहन
2. वात नाशक तैल से अभ्यङ्ग
3. वात नाशक घृत एवं तैल का आभ्यान्तर प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

	प्रात	: सायं
2.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	पंचकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	वातकुलान्तक रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	त्रिफला घृत	: 15 मि.ली.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
5.	एरण्ड पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
6.	वाह्य अभ्यङ्गार्थ	: महानारायण तैल
	सर्वाङ्ग स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
रात्रि		
7.	त्रिफला चूर्ण	: 2 ग्राम
	गर्म जल से	एक मात्रा
8.	पथ्य सेवन	

•••❧•••

14. शुक्रगत वात

सामान्य लक्षण[1]

1. शुक्र का शीघ्र स्खलन अथवा अति स्तम्भन (Early ejaculation or stagnation of the semen)
2. कभी-कभी शीघ्र गर्भस्राव (Missed abortion occasionally)

---

1. वाह्याभ्यान्तरत: स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत्। (च.चि. 28/93)
2. क्षिप्रं मुञ्चति वध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जन्येच्चापि शुक्रस्थ: कुपितोऽनिल:॥ (च.चि. 28/34)

3. कभी-कभी गर्भ संग होना (Breach presentation of foetus occasionally)
4. शुक्र एवं गर्भ में अनेक प्रकार की विकृतियों की उत्पत्ति (Various types of deformities and abnormalities in the semen and foetus)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. हर्ष उत्पन्न करना।
2. बल एवं शुक्र को उत्पन्न करने वाले आहार एवं विहार का प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	मकरध्वज वटी	: 500 मि.ग्रा.
	कामचूड़ामणि रस	: 250 मि.ग्रा.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	शतावरी चूर्ण	: 2 ग्राम
	अश्वगन्धा चूर्ण	: 2 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
4.	कौंच पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
5.	उत्तर बस्ति	
6.	रात्रि	
	पञ्चसकार चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	एक मात्रा
7.	मधुर, स्निग्ध, गुरु, पौष्टिक आहार सेवन	

15. स्नायुगत वात

सामान्य लक्षण[2, 3]

1. वाह्यायाम (बहिरायाम) (Opisthotonus-Backward bending of body)

1. हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम्। (च.चि. 28/94)
2. वाह्याभ्यन्तरमायामं खल्ली कुब्जत्वमेव च।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगाश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः॥ (च.चि. 28/35)
3. स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा। (सु.नि. 1/27)

2. अन्तरायाम (Emprosthotonus- Forward bending of body)
3. खल्ली (Cramps in the ankle joint, knee joint, and wrist joint)
4. कुब्जता (Back hump)
5. सर्वाङ्ग वात (Generalised Neurological Disorders)
6. एकांग वात (Localised Neurological disorder)
7. स्तम्भ, कम्प, शूल एवं आक्षेप (Stiffness of body, tremors, bodyache and spasm of tendons)[3]

चिकित्सा सिद्धान्त

उपरोक्त लक्षण संहिता ग्रन्थों में व्याधि के रूप में वर्णित हैं। अतः उन-उन व्याधियों के वर्णन में ही चिकित्सा सिद्धान्त देखें।

16. सिरागत वात

सामान्य लक्षण[1]

1. सर्व शरीर में मृदु वेदना (Mild Bodyache)
2. शोफ (Oedema)
3. सर्व शरीर में शोष (Emaciation)
4. शरीर में स्पन्दन (Pulsations in the body)
5. सिराओं का शून्य होना (Numbness of veins)
6. सिराकुञ्चन अथवा सिरास्तब्धता (Constriction or stiffness of the veins)
7. सिराध्मान (Fullness of veins)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. स्नेह से अभ्यङ्ग
2. स्नेह से उपनाह
3. स्नेह मर्दन
4. स्नेह प्रलेप
5. रक्तमोक्षण

1. शरीरं मन्दरुक् शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा।
सुप्तास्तब्ध्यां महत्यां वा सिरा वाते सिरागते॥ (च.चि. 28/36)
2. स्नेहाभ्यङ्गोपनाहश्च मर्दनालेपनानि च।
वाते शिरागते कुर्यात्तथा चासृग्विमोक्षणम्॥ (भा.प्र. उत्तर खण्ड 24/256)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	पञ्चकोल चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
4.	(i) अभ्यंग	: महानाराण तैल
	(ii) नाड़ी स्वेदन	: दशमूल क्वाथ
5.	जलौकावचारण / रक्तविस्रावण	
6.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	एक मात्रा
7.	पथ्य सेवन	

17. सन्धिगत वात
(OSTEO ARTHRITIS)

परिचय

संहिता ग्रन्थों में सन्धिगत वात का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु वर्तमान काल में सन्धिगत वात की भयावहता के कारण इसके विशेष वर्णन की आवश्यकता प्रतीत होती है। सन्धिगत वात में मुख्यत: अस्थिगत सन्धियाँ प्रभावित होती हैं। यह रोग प्राय: मध्यमावस्था के पश्चात एवं वृद्धावस्था में अधिक पाया जाता है। इस रोग में अस्थियों में विकृति आ जाती है। अत: सन्धिगत वात में मुख्यत: अस्थिवह स्रोतस एवं मज्जावह स्रोतस की विकृति होने की अधिक सम्भावना रहती है।

सन्धिगत वात में विशेष रूप से शरीर की बड़ी सन्धियाँ (Weight bearing joints) अधिक प्रभावित होती हैं जैसे जानु सन्धि (Knee joints) गुल्फ सन्धि (Ankle joint) आदि। सन्धिगत वात रोग में अस्थि सन्धियों के बीच की कला (Synovial membrane) में स्थित द्रव पदार्थ (Synovial fluid) सूख जाता है जिसके फलस्वरूप अस्थि के दोनों सिरों में घर्षण होने के कारण रोगी शूल का

अनुभव करता है तथा चलते समय या उस सन्धि विशेष में गति कराने पर एक विशेष प्रकार की कट्-कट् (Crepitations) की आवाज उत्पन्न होती है जिससे रोगी चलने फिरने में कष्ट का अनुभव करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

वात व्याधि में उल्लिखित सभी सन्दर्भ ग्रन्थ

परिभाषा

वात दोष की विकृति के कारण सन्धियों में शूल होना, आकुञ्चन एवं प्रसारण में कठिनाई तथा शोथ होना सन्धिगत वात कहलाता है। सन्धिगत वात का सामञ्जस्य आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Osteoarthritis नामक रोग से किया जा सकता है।

निदान

सन्धिगत वात में केवल वात दोष की ही विशेष दुष्टि मिलती है तथा वात दोष का ही प्रकोप भी होता है। अत: पूर्व में वर्णित वात व्याधि के सभी निदान सन्धि वात के भी निदान हैं।

सम्प्राप्ति

विभिन्न प्रकार के वात प्रकोपक आहार एवं विहार के सेवन से वात दोष प्रकुपित होकर शरीर की सन्धियों में अवस्थित हो जाती हैं क्योंकि सन्धिवात में 'ख वैगुण्य' सन्धि स्थानों में ही प्राप्त होता है। सन्धियों में दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के उपरान्त वात दोष सन्धियों को विकृत कर देता है जिससे सन्धिगत वात रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

वात प्रकोपक निदान का अत्यधिक सेवन
↓
वात दोष का प्रकोप
↓
वात दोष का सन्धियों में स्थान संश्रय
↓
सन्धि, स्नायु, कण्डरा की विकृति
↓
सन्धिगत वात

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	रस, रक्त, अस्थियाँ
अधिष्ठान	:	अस्थिसन्धि

स्रोतस : अस्थिवह, मज्जावह
स्रोतो दुष्टि प्रकार : संग, ग्रन्थि, विमार्गगमन
अग्नि स्थिति : प्राय: विषमाग्नि
व्याधिस्वभाव : चिरकारी
साध्यासाध्यता : कृच्छ्रसाध्य / याप्य

सामान्य लक्षण[1]

1. सन्धियों में भारीपन (Heaviness in the joints)
2. सन्धियों में शोथ (Inflammation in joints)
3. सन्धियों में आकुंचन एवं प्रसारण के समय अत्यधिक शूल होना। (Pain during movements of joints)
4. चलते समय सन्धियों में से कट् कट् शब्द की उत्पत्ति (Crepitation during walking or movement of joints)
5. सन्धियों के सिरों का विकृत होना (Deformity in the joints)

साध्यासाध्यता

सन्धिगत वात विशेषकर वृद्धावस्था में होता है। अत: इसमें धातुक्षय भी अधिक मिलता है। सन्धिगत वात में अस्थि संधियाँ विकृत हो जाती हैं। अत: यह रोग प्राय: कृच्छ्रसाध्य या याप्य होता है। जब तक चिकित्सा करते हैं तब तक लाभ मिलता है। यदि सन्धियों में स्थायी स्वरूप की विकृति उत्पन्न नहीं हुई हो तथा रोगी प्रारम्भिक अवस्था में ही चिकित्सा प्रारम्भ कर दे तब वह थोड़ी कठिनाई से ठीक हो सकता है। सन्धिगत वात नवीन अवस्था में कृच्छ्रसाध्य एवं जीर्ण अवस्था में याप्य या असाध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. दाह कर्म 2. स्नेहन कर्म 3. उपनाह चिकित्सा
4. अन्य सभी चिकित्सा सूत्र का प्रयोग वात व्याधि में उल्लिखित चिकित्सा के समान करना चाहिए।

सन्धिगत वात मूलत: वात प्रधान रोग है। अत: इसमें शोधन एवं शमन चिकित्सा की प्राय: वही औषधियाँ प्रयुक्त होती है जो सामान्य वात व्याधि चिकित्सा में प्रयुक्त होती हैं। अत: सन्धिवात में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के उपयोगी योग वात व्याधि की सामान्य चिकित्सा में ही देखें।

योगासन/व्यायाम

सन्धिगत वात चिकित्सा में योगासन एवं व्यायाम अत्यन्त लाभदायक हैं। रोगी को सलाह दी जाती है कि वह प्रभावित सन्धि का अधिक से अधिक धीरे-धीरे

1. वातपूर्णदृतिस्पर्श: शोथ: सन्धिगतेऽनिले।
   प्रसारणाकुञ्चनयो: प्रवृत्तिश्च सवेदना।। (च.चि. 28/37)
2. कुर्यात्सन्धिगते वाते दाह स्नेहोपनाहनम्। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/259)

संचालन करे जिससे शूल में कमी आती है। संधिगत वात में मत्स्येन्द्रासन, गोमुखासन, पश्चिमोत्तानासन, भद्रासन, पद्मासन, साइकिल चलाना, दीवार पर चक्र स्थापित कर उसे चलाना इत्यादि व्यायाम एवं योगासन से अत्यन्त लाभ होता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
   प्रात : सायं
2. त्रयोदशांग गुग्गुलु : 500 मि.ग्रा.
   रास्नादि गुग्गुल : 500 मि.ग्रा.
   कोष्ण जल से 1×3 मात्रा
3. भोजनोत्तर
   पञ्चकोल चूर्ण : 2 ग्राम
   वातविद्धवंसक रस : 125 मि.ग्रा.
   प्रवालपिष्टी : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   दशमूलारिष्ट : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. रात्रि
   हरीतकी चूर्ण : 3 ग्राम
   गर्म जल से एक मात्रा
6. स्नेहनार्थ : महानारायण तैल
   नाड़ी स्वेदनार्थ : दशमूल क्वाथ
7. अनुवासन बस्ति : महानारायण अथवा दशमूल तैल
   निरुह बस्ति : एरण्डमूलादि निरुह बस्ति
8. पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

वात व्याधि चिकित्सा के समान

Latest Developments

Osteoarthritis

Osteoarthritis is the most common form of chronic disorder of synovial joints. It is characterized by progressive degenerative changes in the articular cartilages over the years, particularly in weight bearing joints.

Types

Two main types–

1. Primary osteoarthritis.
2. Secondary osteoarthritis.

1. Aetiology of Primary osteoarthritis–

A number of factors predispose primary osteoarthritis. These includes–

(i) Genetic Factors.
(ii) Metabolic disorders.
(iii) Age–It is a disease of old age.
(iv) Idiopathic avascular necrosis- It is occasionally seen in alcoholic middle aged men with high serum lipid and altered blood coagubility.
(v) Endocrinal Factors.
(iv) Obesity.

2. Aetiology of Secondary Osteoarthritis

It is most common. Secondary osteoarthritis is usually caused by local factors which include–

(i) Trauma
(ii) Mal-alignments.
(iii) Inadequate blood supply.
(iv) Infections of the joints- e.g. pyogenic, tuberculosis, etc.
(v) Diseases interfering with the nerve supply of the joint may cause osteoarthritis.
(vi) Inflammatory Diseases.
(vii) Nutritional bone diseases- e.g. rickets in infancy, osteomalacia in adults may cause osteoarthritis.

Signs and Symptoms

(i) Pain–It is initial and leading symptom.
(ii) Stiffness–It follows pain.
(iii) Deformity due to shrinkage of capsule, fibrosis, muscle imbalance.
(iv) Swelling of the joint may also be noticed in superficial joints.
(v) Limping-due to pain, stiffness and deformity of the joint.
(vi) Synovial thickening and effusion.
(vii) Osteophytes may be felt on palpation.

Investigations

1. Complete Haemogram-HB %, ESR, TLC, DLC.
2. X-ray of affected joints, AP and Lateral view.
3. RA factor to exclude Rheumatoid arthritis.

Management : Principles

1. There is no specific treatment. Hot bath, Hot vapours, Ice produce anaesthesia.
2. Various analgesics like Aspirin, Paracetamol, Ibuprofen, Cefecoxib etc. may be used.

3. Physiotherapy is of some help to keep joint moving and build up muscular strength.
4. Weight loss by reducing diet is of extreme help.
5. Operative (Surgical) Treatment

(1.) Osteotomy (The operation through cutting of the bone)
(2.) Arthroplasty. (To reshape, reconstuct Joints)
(3.) Arthrodesis. (Fusion of two Joints)
(4.) Excision of the joint. (Cutting away or taking out Joints)
(5.) Manipulation of the joint under anaesthesia with Hydrocortisone injection.

18. मन्यास्तम्भ
(TORTICOLIS)

निदान[1]

1. दिन में शयन करना
2. ऊँची नीची शय्या का होना
3. अचानक उपर की ओर देखना

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदान सेवन से वात दोष का प्रकोप हो जाता है। यह प्रकुपित वात, कफ दोष से आवृत्त होकर मन्या प्रदेश को आक्रान्त कर मन्यास्तम्भ रोग उत्पन्न करता है।

सामान्य लक्षण

1. ग्रीवा प्रदेश की मांसपेशियों में खिचाँव (Streching in the sterno mastoid muscles)
2. मन्या प्रदेश में जकड़ाहट (Stiffness in the neck muscles)
3. मन्या में अत्यधिक शूल (Pain in the neck muscles)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. बालुका अथवा लवण की पोट्टली से रुक्ष स्वेदन
2. नस्य कर्म
3. व्यायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

---

1. दिवास्वप्नासनस्थान विकृतोर्ध्व निरीक्षणैः।
   मन्या स्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः॥ (सु.नि. 1/67)
2. मन्यास्तम्भेऽप्येतदेव विधानं, विशेषतो वातश्लैष्महरैर्नस्यै रुक्षस्वेदैश्चोपचरेत्॥ (सु.चि. 5/20)

	प्रात	: सायं
2.	पथ्यादि गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	चन्द्रामृत रस	: 125 मि.ग्रा.
	प्रवाल पंचामृत	: 125 मि.ग्रा.
	गोदन्ती	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	पथ्यादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
5.	भोजनोत्तर	1×2 मात्रा
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
6.	व्यायाम	
7.	पथ्य सेवन	

19. हनुस्तम्भ
(LOCK JAW)

निदान[1]

1. जिह्वा निर्लेखन
2. जिह्वा निर्लेखन हेतु अधिक मुख खोलना
3. शुष्क पदार्थों का अति सेवन
4. आघात

सामान्य लक्षण[2]

1. मुख का पूर्णतः खुला रहना अथवा बन्द हो जाना (Spontaneous opening or clossure of mouth)
2. हनु में शून्यता (Diminished sensation in jaw)
3. भोजन ग्रहण करने में कठिनाई (Difficulty in swallowing)
4. बोलने में कठिनाई (Difficulty in speech)

1. जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम्।। (मा.नि. 22/49)
2. हनुमूलं स्थितोबन्धात् स्रंसयत्यनिलोहनू।
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम्।।
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं (नू) संवृतवक्त्रताम्।। (च.चि. 28/49)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. स्थानीय अभ्यंग
2. स्थानीय स्वेदन
3. गण्डूष अथवा कवल धारण
4. अर्दित के समान चिकित्सा
5. शल्य क्रिया

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	वात कुलान्तक रस	: 125 मि.ग्रा.
	प्रवाल पञ्चामृत	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	महानारायण तैल से	: गण्डूष
5.	स्थानीय अभ्यंग	: महामाष तैल या प्रसारिणी तैल से
6.	स्थानीय वाष्प स्वेदन	
7.	व्यायाम	
8.	पथ्य सेवन	

20. जिह्वा स्तम्भ
(TONGUE PARALYSIS)

निदान सम्प्राप्ति

जिह्वा स्तम्भ रोग में वात दोष के साथ कफ का भी अनुबन्ध रहता है जिससे जिह्वाघात हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Twelvth Cranial Nerve (Hypoglossal Nerve) की विकृति के कारण जिह्वा स्तम्भ रोग उत्पन्न हो जाता है। Hypoglossal Nerve की विकृति का कारण आघात (Trauma), अर्बुद (Tumour) घनास्रता (Thrombosis) इत्यादि होता है।

1. हनुस्रंसे हनू स्निग्धस्विन्नौ स्वस्थानमानयेत्।
उन्नामयेच्च कुशलश्चिबुकं विवृते मुखे।।
नामयेत्संवृते शेषमेकायामवदाचरेत्।। (अ.हृ.चि. 21/41)

सामान्य लक्षण[1]

1. अन्न ग्रहण में कठिनाई (Difficulty in swallowing)
2. जल ग्रहण में कठिनाई (Difficulty in drinking)
3. बोलने में कठिनाई (Difficulty in speaking)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. कवल अथवा गण्डूष धारण करना
2. नस्य कर्म
3. व्यायाम
4. वात व्याधि के समान चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	सितोपलादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	नागरादि चूर्ण	: 1 ग्राम
	बालसुधा	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	कल्याणकावलेह	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
4.	महानारायण तैल से	: कवल/गण्डूष धारण
5.	अणु तैल से	: नस्यकर्म
6.	पथ्य सेवन	

21. विश्वाची
(RADIOULNAR NEURITIS OR RADIOULNAR PARALYSIS)

निदान

1. वात कारक आहार एवं विहार का सेवन
2. अत्यधिक भारी वजन उठाना

1. वाग्वाहिनीसिरा संस्था जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता।। (अ.हृ.नि. 15/31)
2. जिह्वास्तम्भेयथावस्थं कार्यं वातचिकित्सितम्।' (अ.हृ.चि. 21/42)

3. हाथ में खिचाँव होना

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार हाथ की मांसपेशियों में चेष्टावह कार्य (Motor functions) नहीं हो पाने से विश्वाची रोग की उत्पत्ति होती है। प्राय: Radial Nerve अथवा Ulnar Nerve के Paralysis के कारण हाथ का प्रसारण एवं आकुञ्चन नहीं होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार विचार करने पर विश्वाची रोग 3 प्रकार से उत्पन्न हो सकता है–

1. प्रसारक पेशी कर्म क्षय अथवा बहि: प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Radial Neuritis or Radial Paralysis)
2. आकुञ्चक पेशी कर्म क्षय अथवा अन्त: प्रकोष्ठिका नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Ulnar Neuritis or Ulnar Paralysis)
3. उभय पेशी कर्म क्षय अथवा उभय नाड़ी विकृति जन्य विश्वाची (Radioulnar Neuritis or Radioulnar Paralysis)

सामान्य लक्षण[1]

1. हस्त तल के अन्त: भाग व कण्डरा में विकृति (Deformity in the muscles of the medial part f arm)
2. बाहु के प्रसारण एवं आकुञ्च में कठिनाई (Difficulty in the movement of arm)
3. हाथ की पेशियों में क्षय (Weakness in muscles of the arm)
4. यह रोग प्राय: एक हाथ में होता है, परन्तु कभी-कभी दोनों हाथों में भी हो सकता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. स्थानीय अभ्यङ्ग
2. नाडी स्वेदन
3. नस्य प्रयोग
4. नाशक चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	योगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	बृहत वातगजांकुश रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा

1. तलं प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता।। (सु.नि. 1/75)

3.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	सम भाग जल से	1×2 मात्रा
4.	अभ्यंगार्थ	: प्रसारिणी तैल
	स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
5.	नस्यार्थ	: अणु तैल या महानारायण तैल
6.	पथ्य पालन	

22. अवबाहुक
(PARALYSIS OF THE BRACHIAL PLEXUS)

निदान

1. वात दोष कारक आहार एवं विहार सेवन
2. गर्दन में आघात लगना
3. अंश सन्धि का विश्लेष (Dislocation of shoulder joint)
4. अक्षकास्थि (Clavicle) का भग्न होना
5. अर्बुद (Tumour)
6. Brachial Plexus में आघात होकर Paralysis उत्पन्न होना

सामान्य लक्षण[1]

1. अंश सन्धि की सिराओं में संकोच (Constriction in the veins of shoulder joints)
2. हस्त की चेष्टा का पूर्णत: नष्ट हो जाना (Loss of functions of hands)
3. बाहु में शोष (Atrophy of muscles of arm)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. नस्य कर्म
2. स्नेह पान
3. स्नेहपान के पश्चात् भोजन
4. स्थानीय अभ्यंग एवं स्वेदन

1. अंसमूलस्थितो वायु: सिरा संकोच्य तत्रगा:।
बाहुप्रस्पन्दितहरं जनयत्यवबाहुकम्।। (अ.हृ.नि. 15/43)
2. अवबाहौ हितं नस्यं स्नेहश्चोत्तरभक्तिक:। (अ.हृ.चि. 21/44)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	अग्नितुण्डी वटी	: 500 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मल्ल सिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	शुण्ठी चूर्ण	: 2 ग्राम
	अश्वगन्धा चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	अभ्यंगार्थ	: प्रसारिणी तैल या महानारायण तैल
	स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
6.	नस्य कर्म हेतु	: व्याघ्री तैल
7.	व्यायाम	
8.	पथ्य सेवन	

23. अंश शोष
(ATROPHY OF SHOULDER JOINT)

सामान्य लक्षण[1]

1. अंश प्रदेश में स्थित वायु प्रकुपित होकर श्लेष्मा को सुखाकर अंश शोष रोग उत्पन्न करता है।
2. अंश प्रदेश में मांस क्षय (Emaciation)
3. अंश सन्धि में दौर्बल्य (Weakness of shoulder joint)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. स्नेहन
2. स्वेदन
3. बृंहण औषधि प्रयोग
4. नस्य कर्म

1. अंशदेशस्थितो वायु: शोषयित्वा अंसबन्धनम्। (सु.नि. 1/82)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
	श्रृंग भष्म	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	अश्वगन्धा चूर्ण	: 2 ग्राम
	शुष्ठी चूर्ण	: 2 ग्राम
	उष्ण जल से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	बलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	सम भाग जल से	1×2 मात्रा
5.	स्थानीय अभ्यंगार्थ	: महामाष तैल
	स्थानीय नाड़ी स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
6.	नस्य कर्म हेतु	: अणु तैल
7.	व्यायाम	
8.	पथ्य सेवन	

24. क्रोष्टुकशीर्ष
(SINOARTHRITIS OF KNEE JOINT)

निदान सम्प्राप्ति

क्रोष्टुकशीर्ष में वात एवं रक्त दोष की विकृति होती है। वात एवं रक्त दोष प्रकुपित होकर जानु सन्धि में अवस्थित होकर क्रोष्टुक शीर्ष रोग की उत्पत्ति करते हैं।

वात एवं रक्त की दुष्टि वातरक्त में भी होती है परन्तु दोनों में यह अन्तर है कि वातरक्त किसी भी सन्धि में हो सकता है जबकि क्रोष्टुकशीर्ष केवल जानु सन्धि में ही होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार विभिन्न प्रकार के संक्रमण के कारण जानु सन्धि में उत्पन्न शोथ को क्रोष्टुकशीर्ष माना जा सकता है जैसे–पूयमेह उपदंश इत्यादि।

सामान्य लक्षण[1]

1. वात एवं रक्त दोष की विकृति
2. जानु सन्धि में तीव्र शूल (Severe Pain in knee joint)
3. जानु सन्धि में अत्यधिक शोथ (श्रृंगाल के सिर के सामान शोथ) (Severe inflammation of knee joint)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. वातरक्त नाशक चिकित्सा[2]
2. अभ्यंग
3. रुक्ष स्वेदन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	कैशोर गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	अजमोदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	गोदन्ती भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पञ्चामृत	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	कुमार्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	व्यायाम	
6.	पथ्य सेवन	

1. वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः।
   शिरः क्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकमूर्धवत।। (सु.नि. 1/76)
2. वातरक्तक्रियाभिश्च जयेज्जम्बूकमस्तकम्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/157)

25. खञ्ज एवं पङ्गु
(LIMPING BY ONE LEG & LIMPING BY BOTH LEGS)
OR
(MONOPLEGIA & DIPLEGIA)

निदान एवं सम्प्राप्ति[1]

कटि प्रदेश में स्थित वात दोष प्रकुपित होकर कटि से गुल्फ तक एक पैर की कण्डरा को चलते समय कपाँती है अथवा चलने में असमर्थ बना देती है, उसे खञ्ज रोग कहते हैं।

वात के द्वारा ही यदि कटि प्रदेश से गुल्फ तक के दोनों पैरों में चलने की क्रिया नष्ट हो जाय तो उसे पङ्गु रोग कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के मत से खञ्ज एवं पङ्गु का कारण Cerebral cortex की विकृति है अथवा पैर को गति प्रदान करने वाली वात नाड़ियों (Nerves) में आघात या संक्रमण के कारण यह रोगोत्पत्ति होती है।

सामान्य लक्षण

1. खञ्ज में रोगी एक पैर द्वारा चलने में असमर्थ होता है (Loss of movements of one Leg)
2. पङ्गु में रोगी के दोनों पैर क्रियाहीन हो जाते हैं (Loss of movements of both Legs)

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. स्वेदन
2. विरेचन
3. आस्थापन बस्ति
4. स्नेह बस्ति प्रयोग
5. गुग्गुलु प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	एरण्ड पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	अभ्यंगार्थ	: प्रसारिणी तैल या महानारायण तैल
	नाड़ी स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
6.	कर्म बस्ति क्रम	
	अनुवासनार्थ	: दशमूल तैल
	आस्थापनार्थ	: एरण्डमूलादि क्वाथ
7.	पथ्य सेवन	

1. वायुः कटयां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यता।
   खञ्जस्तदापक्वेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात।। (सु.नि. 1/77)
2. उपाचरेदभिनवं खञ्जं पङ्गुमथापि च।
   विरेकास्थापनस्वेदगुग्गुलुस्नेहबस्तिभिः।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/152)

26. वात कण्टक
(ANKLE SPRAIN)

निदान एवं लक्षण[1]

1. पैर के टेढ़ा रखने से अथवा अधिक श्रम के कारण प्रकुपित वात गुल्फ में वेदना की उत्पत्ति करता है इसे वात कण्टक कहते हैं।
2. चलते समय अधिक वेदना होती है।

वस्तुतः वात कण्टक एक सामान्य लक्षण है जो प्रायः चोट लगने, गिर जाने अथवा असमतल भूमि पर चलने से गुल्फ सन्धि (Ankle Joint) में मोच आ जाने को वातकण्टक कहते हैं।

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. पुनः पुनः रक्तमोक्षण
2. एरण्ड तैल पान
3. अग्नि दग्ध चिकित्सा

1. रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा।
   वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम्।। (अ.हृ.नि. 15/53)
2. रक्तावसेचनं कुर्यादभीक्ष्णं वातकण्टके।
   पिवेदैरण्डतैलं वा दहेत्सूचीभिरेव च।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/161)

A6990

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	सिंहनाद गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	अजमोदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	शंख भष्म	: 250 मि.ग्रा.
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
4.	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
5.	अभ्यंगार्थ	: दशमूल तैल
	नाड़ी स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
6.	रक्त मोक्षण / जलौकावचारण	
7.	पथ्य सेवन	

27. कलाय खञ्ज
(LATHYRISM)

निदान

कलाय खञ्ज का मुख्य निदान वात कारक आहार एवं विहार का सेवन करना है। वर्तमान समय में कलाय खञ्ज का प्रमुख कारण एक विशेष प्रकार की काली मटर या खेसारी की दाल का सेवन करना माना जाता है। इस प्रकार की दाल के अधिक सेवन से Spinal Cord Paralysis हो जाता है। कलाय खञ्ज का दूसरा प्रमुख कारण विटामिन 'ए' की कमी माना जाता है। दोनों पैरों पर इस रोग का समान प्रभाव पढ़ता है।

सामान्य लक्षण[1]

1. मनुष्य चलते समय काँपता है (Tremors during walking)

4. प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जानिव च गच्छति।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मन्तसन्धिप्रबन्धनम्।। (सु.नि. 1/78)

2. रोगी चलते समय लँगड़ाता है (Limping)
3. रोगी व्यक्ति के सन्धि बन्धन शिथिल हो जाते हैं। (Looseness of Joints)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. कलाय खञ्ज की चिकित्सा खञ्जता एवं पङ्गु के समान करनी चाहिए।
2. कलाय खञ्ज में विशेषकर स्नेहन चिकित्सा करनी चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	अर्धांग वातारि रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	महारास्नादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
		1×2 मात्रा
5.	अभ्यंगार्थ	: महामाष तैल
	नाड़ी स्वेदनार्थ	: दशमूल क्वाथ
6.	व्यायाम	
7.	पथ्य सेवन	

28. पाददाह
(BURNING IN FEET)

निदान एवं लक्षण[2]

1. प्रकुपित वात, पित्त एवं रक्त के साथ मिश्रित होकर पैर में स्थान संश्रय करके दाह उत्पन्न करता है।
2. व्यक्ति को चलते समय दाह का अनुभव अधिक होता है।

1. क्रमः कलायखञ्जस्य खञ्जपङ्ग्वोरिवस्मृतः।
विशेषात्स्नेहनं कर्म कार्यमत्र विचक्षणै।। (भा.प्र. मध्यमखण्ड 24/154)

2 पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः।
विशेषतश्चङ्क्रमणात् पाददाहं तमादिशेत्।। (सु.नि. 1/80)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. वातरक्त नाशक चिकित्सा
2. श्रृत शीत जल में मसूर की दाल पीसकर लेप

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

प्रात	: सायं
2. कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा
3. भोजनोत्तर	
चन्दनादि चूर्ण	: 2 ग्राम
शतावरी चूर्ण	: 2 ग्राम
कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
4. अमृतारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

5. पैरों पर मक्खन से अभ्यंग एवं दशमूल क्वाथ से सिञ्चन

29. पादहर्ष
(TINGLING SENSATION IN THE FOOT)

निदान सम्प्राप्ति[2]

1. वात कारक एवं कफज आहार सेवन से प्रकुपित वात दोष कफ के साथ मिलकर पादहर्ष रोग उत्पन्न करता है।
2. आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार सुन्नता एवं झनझनाहट का मुख्य कारण Peripheral Nerves की विकृति के कारण Superficial Sensations का समाप्त होना है।

---

1. वातरक्तक्रमं कुर्यात्पाद दाहे विशेषत:।
   मसूर विदलै: पिष्टै: श्रृतशीतेन वारिणा।।
   चरणौ लेपयेत्सम्यग्पाददाहप्रशान्तये।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/166)
2. हृष्यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत्।
   पादहर्ष: स विज्ञेय: कफवात प्रकोपज:।। (सु.नि. 1/81)

सामान्य लक्षण

1. पाद हर्ष (Tingling sensation in foot)
2. कभी-कभी पैरों में सुन्नता (Numbness in the Leg)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. वातहर चिकित्सा
2. कफ नाशक चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन

प्रात	: सायं
2. रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
वातारि रस	: 125 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा
3. भोजनोत्तर	
पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
यष्ठीमधु चूर्ण	: 2 ग्राम
गर्म जल से	1×2 मात्रा
4. योगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
उष्ण जल से	1×2 मात्रा
5. अभयारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

6. पथ्य सेवन

30. मूक-मिन्मिन, गद्गद्
(APHASIA, DISPHONIA & DISARTHRIA)

निदान एवं सम्प्राप्ति[1]

1. वात कारक आहार एवं विहार का अधिक सेवन करना।

वात दोष प्रकुपित होकर कफ के साथ मिलकर शब्दवाहिनी धमनी में अवरोध उत्पन्न करके मूक, मिन्मिन, गद्गद् व्याधि उत्पन्न करता है।

---

1. पादहर्षे तु कर्तव्य: कफवातहरो विधि:।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/166)
2. आवृत्य सकफो वायुर्धमनी: शब्दवाहिनी:।
   नरान् करोत्यक्रियकान मूकमिन्मिनगद्गदान्।। (सु.नि. 1/85)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से शब्दवाहिनी धमनी से जिह्वा की चेष्टावह नाड़ी (Hypoglossal Nerve), प्रत्यावृत्य स्वर यन्त्रीय नाड़ी (Recurrent Laryngeal Nerve) तथा मस्तिष्कगत वाणी केन्द्र (Speech Centre) का ग्रहण करना चाहिए। मस्तिष्क के वाणी केन्द्र को Broca's Area कहते हैं। यहाँ पर ही शब्दों को समझने, सुनने, लिखने का भी केन्द्र होता है। अतः Broca's area में विकृति से वाक्लुप्तता (Aphasia) उत्पन्न हो जाती है। यदि वाणी केन्द्र पूर्णतः नष्ट हो जाता है तो बोलने की शक्ति भी पूर्णतः नष्ट जो हाती है जिसे मूकता (Aphonia) कहते हैं। यदि अल्प विकृति है तो रोगी हकलाते हुए बोलता है इस स्थिति को Dysphonia कहते हैं। यदि रोगी बोलते समय कुछ शब्द या अक्षरों को छोड़ देता है तो इसे गद्गद् वाक्यता (Disarthria) कहते हैं।

यदि रोगी सभी शब्दों या वाक्यों को नासिका के स्वर से बोलता है तो इसे मिन्मिन या Rhinophonia कहते हैं।

सामान्य लक्षण

1. बोलने में असमर्थता (Aphasia) 2. अस्पष्ट उच्चारण (Disphonia)
3. गद्गद् वाक्यता (Disarthria)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. स्नेहन
2. गण्डूष एवं कवल धारण
3. नस्य कर्म
4. बल्य औषधि प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	स्मृति सागर रस	: 125 मि.ग्रा.
	वचादि चूर्ण	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	कल्याणकावलेह	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
4.	अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	गण्डूष अथवा कवल धारण	: महानारायण तैल से
6.	नस्य कर्म	: अणु तैल अथवा व्याघ्री तैल से
7.	पथ्य सेवन	

31. तूनी रोग
(RENAL COLIC)

सामान्य लक्षण[1]

1. मलाशय (Rectum) एवं मूत्राशय (Bladder) से वेदना का प्रारम्भ होकर नीचे गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय तक वेदना का गमन (Radiation of pain from rectum and urinary bladder up to the Anus and Penis)
2. तूनी में भेदनवत पीड़ा होती है (Cutting type of pain)

तूनी रोग को वृक्काश्मरी जन्य शूल भी कह सकते हैं। संभवतः वृक्काश्मरी (Renal Stone) जब वृक्क, गवीनी (Ureter) या मूत्राशय में रूक जाता है तो इस प्रकार के शूल की उत्पत्ति होती है।

32. प्रतितूनी रोग
(URETHRAL COLIC)

सामान्य लक्षण[2]

1. शूल का प्रारम्भ गुदा एवं उपस्थ (Penis) से होता है (Pain originates from Anus & Penis)
2. शूल उपर की तरफ पक्वाशय तक जाता है।

वस्तुतः प्रतितूनी रोग तूनी के ठीक विपरीत होता है एवं इसका प्रमुख कारण अश्मरी (Stone) का मूत्र प्रसेक (Urethra) में रूक जाना है। कभी-कभी मलावरोध में भी यह लक्षण मिलता है।

तूनी एवं प्रतितूनी रोग का चिकित्सा सिद्धान्त

1. तूनी एवं प्रतितूनी रोग में स्नेह बस्ति प्रशस्त मानी गई है।
2. मूत्रविरेचनीय औषधि का प्रयोग
3. वातानुलोमन चिकित्सा

---

1. अधो या वेदना यादि वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
   भिन्दतीव गुदोपस्थम् सा तूनीत्यभिधीयते।। (सु.नि. 1/86)
2. गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोम विसर्पिणी।
   वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता।। (सु.नि. 1/87)

आदर्श चिकित्सा पत्र

(1) तूनी रोग

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	पुनर्नवादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	पाषाण भेदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	यवक्षार	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
3.	तृण पञ्चमूल क्वाथ	: 20 मि.ली.
	सम भाग जल से	1×2 मात्रा
4.	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
5.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 2 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
7.	पथ्य सेवन	

(2) प्रतितूनी रोग

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	हिंग्वादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	यवक्षार	: 250 मि.ग्रा.
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
3.	पिप्पल्यादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
4.	रात्री में	
	पञ्चसकार चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
5.	पथ्य सेवन	

33. आध्मान
(TYMPANITIS)

परिचय

आध्मान रोग में आटोप एवं उदर प्रदेश में वायु के भर जाने से उदर प्रदेश फूल जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार आध्मान को General Tympanitis कह सकते हैं। आध्मान रोग में उदर प्रदेश में वायु भरी रहती है। अत: इसमें मुख्य रूप से अन्नवह स्रोतस की दुष्टि होती है तथा प्राय: अग्निमांद्य की स्थिति मिलती है।

आध्मान वस्तुत: कोई रोग नहीं है। यह एक लक्षण मात्र है जो विभिन्न रोगों में मिलता है। आध्मान रोग 'उदावर्त' एवं 'आनाह' से समानता रखता है, जैसे–उदावर्त में वायु की उर्ध्वगति होती है, आनाह में उदर प्रदेश में स्तब्धता हो जाती है। आध्मान में आटोप एवं उदर प्रदेश में वायु संचय हो जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 28
2. सुश्रुत संहिता निदान स्थान–अध्याय 01
3. अष्टांग संग्रह निदान स्थान–अध्याय 4 एवं 5
4. माधव निदान–अध्याय 22
5. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड–अध्याय 24

व्युत्पत्ति/निरुक्ति

आध्मान = आ + ध्मा
ल्युट् प्रत्यय

अर्थात् आ एवं ध्मा शब्द में ल्युट् प्रत्यय करने से आध्मान शब्द बनता है, जिसका अर्थ है उदर में वायु भर जाना।

परिभाषा[1]

वायु प्रकुपित होने के कारण नाभि के नीचे के भाग में होने वाला शूल या शूल के साथ वायु का नाभि से नीचे के भाग में संचरण को आध्मान कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी आमाशय या आन्त्र में वायु भर जाने की क्रिया को आध्मान (Tympanitis) कहते हैं।

---

1. वायुना कुपितेन नाभेरध: सशूलमापूर आध्मान:।। (अ.सं.नि. 5/8 पर इन्दु टीका)

निदान

आयुर्वेद शास्त्र में आध्मान के स्वतंत्र निदानों का वर्णन नहीं मिलता है। वस्तुतः आध्मान का मुख्य कारण ऐसे आहार विहार का सेवन करना है जो पाचन के उपरान्त अत्यधिक वायु की उत्पत्ति करते हों, जैसे–मटर, चना, सेम, फूलगोभी, अति भोजन इत्यादि।

सम्प्राप्ति

आध्मान की स्वतन्त्र सम्प्राप्ति का वर्णन प्राप्त नहीं होता है क्योंकि यह विभिन्न व्याधियों में एक लक्षण के रूप में मिलता है, परन्तु विशेष रूप से वात प्रकोपक आहार-विहार के अधिक सेवन से प्रकुपित वात दोष विशेषकर आन्त्र प्रदेश या पक्वाशय में अपान वायु का अवरोध कर देता है जबकि मल मूत्र की सम्यक प्रवृत्ति होती रहती है। इस विशेष अवस्था को ही आध्मान कहते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

वात प्रकोपक आहार विहार का सेवन
↓
वात दोष प्रकोप
↓
वात दोष का आन्त्र में अवस्थान
↓
अपान वायु का निरोध
↓
आध्मान

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	रस
अधिष्ठान	:	आन्त्र, पक्वाशय
स्रोतस	:	अन्नवह, पुरीषवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संङ्ग, विमार्ग गमन
अग्नि स्थिति	:	विषमाग्नि
साध्यासाध्यता	:	साध्य

सामान्य लक्षण[1]

1. अधो वायु का निरोध (Obstruction in passing of flatus)

1. साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति जानीयाद घोरं वात निरोधजम्।। (सु.नि. 1/88)

2. उदर में शूल के साथ गुड़ गुड़ शब्द (Bubbling sound with pain in Abdomen)
3. उदर का मशक के समान फूल जाना (Distension of Abdomen with air)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. लंघन
2. दीपन एवं पाचन
3. फल वर्ति प्रयोग
4. बस्ति कर्म

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	हिंग्वादि वटी	: 250 मि.ग्रा.
	नाराच रस	: 125 मि.ग्रा.
	क्रव्याद रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	नारायण चूर्ण	: 2 ग्राम
	शिवाक्षार पाचन चूर्ण	: 2 ग्राम
	सुखोष्ण जल से	1×2 मात्रा
4.	रात्री	
	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	1 मात्रा
5.	उदर प्रदेश पर लेपनार्थ	: दारुषटक लेप + गोमूत्र
6.	उदर पर कोष्ण सेक	
7.	पथ्य सेवन	

1. आध्माने लंघनं पूर्वं दीपनं पाचनं ततः।
फलवर्तिक्रियां कुर्यात् वस्तिकर्म च शोधनम्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/94)

34. प्रत्याध्मान
(GASTRIC TYMPANITIS)

सामान्य लक्षण[1]

1. आध्मान के सभी लक्षण केवल आमाशय तक ही सीमित हों तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं।
2. आमाशय में आटोप, अत्यधिक शूल एवं वायु का भर जाना।

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर प्रत्याध्मान को Gastric Tympanitis माना जा सकता है। प्रत्याध्मान मुख्यत: Pyloric Stenosis की अवस्था में पाया जाता है।

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. सर्वप्रथम वमन
2. दीपन पाचन चिकित्सा
3. आध्मान के समान बस्ति चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	हिङ्गु उग्रगन्धादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	अविपत्तिकर चूर्ण	: 3 ग्राम
	सूतशेखर रस	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
4.	बृहत् पञ्चमूल क्वाथ	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	चित्रकादि वटी	: 500 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
6.	रात्रि में	
	दुग्ध से एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
		1 मात्रा
7.	पथ्य सेवन	

1. विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
   प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम्।। (सु.नि. 1/89)
2. प्रत्याध्माने समुत्पन्ने कुर्याद् वमन लङ्घने।
   दीपनादीनि युञ्जीत पूर्ववद् बस्ति कर्म च।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/106)

35. अष्ठीला
(ENLARGEMENT OF PROSTATE)

सामान्य लक्षण[1]

1. नाभि के नीचे वर्तुलाकार, पाषाण खण्ड के समान कठोर, घन, उपरी भाग में लम्बी एवं उँची, स्थिर अथवा चलायमान ग्रन्थि को अष्ठीला कहते हैं।
2. मूत्रावरोध (Retention of urine)
3. मलावरोध (Retention of stool)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अष्ठीला रोग का पूर्ण रूप से किसी व्यधि से सामञ्जस्य बैठाना कठिन है। परन्तु अधिकांश विद्वान् Enlargement of Prostate (पौरुष ग्रन्थि वृद्धि) को अष्ठीला मानते हैं। पौरुष ग्रन्थि पूर्णत: निश्चल होती है जबकि दूसरी ओर अष्ठीला को चलायमान भी माना गया है। कुछ विद्वान अष्ठीला को गुदा के पास का अर्बुद (Tumour) भी मानते हैं। परन्तु अष्ठीला को पौरुष ग्रन्थि वृद्धि के समीप मानना उचित प्रतीत होता है।

36. प्रत्यष्ठीला
(RECTOVESICULAR TUMOUR)

सामान्य लक्षण[2]

1. अष्ठीला ही यदि उदर में तिरक्षे रूप में स्थित हो।
2. रुजा (Pain) उत्पन्न होना।
3. मल, मूत्र, वात का निरोध हो जाता है, उस अवस्था को प्रत्यष्ठीला कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के मत से प्रत्यष्ठीला के लिए भी पूर्ण साम्य वाला शब्द नहीं दिया जा सकता है फिर भी प्रत्यष्ठीला को लक्षणों के आधार पर बस्ति गुदान्तरालीय अर्बुद (Rectovesicular Tumour) कहा जा सकता है।

1. नाभेरधस्तात्सञ्जात: संचारी यदि वाऽचल:।
   अष्ठीलावद्धनो ग्रन्थिरुर्ध्वमायत उन्नत:।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/107)
2. एतामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
   प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्य्यगुत्थिताम्।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/109)

अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला का चिकित्सा सिद्धान्त

1. अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला की चिकित्सा गुल्म एवं आभ्यान्तर विद्रधि के समान करनी चाहिए[1]।
2. अष्ठीला एवं प्रत्यष्ठीला में सेक, अवगाह, प्रदेह, अभ्यंग, स्वेदन, लङ्घन, क्षपण एवं वमन क्रिया करनी चाहिए[2]।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	हिंग्वादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शिवाक्षर पाचन चूर्ण	: 2 ग्राम
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
3.	दशमूल क्वाथ	: 20 मि.ली.
	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
		1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	नारायण चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	1×2 मात्रा
5.	कर्म बस्ति क्रम	
	अनुवासन बस्ति	: महानारायण तैल
	निरुह बस्ति	: दशमूल क्वाथ
6.	पथ्य सेवन	

•••

37. खल्ली रोग
(CRAMPS)

सामान्य लक्षण[3]

1. प्रकुपित वात दोष से पैर, जंघा, उरु एवं हाथों के मूल अर्थात् Ankle joint, knee joint, thigh region and wrist joint में मर्दन करने के समान वेदना।

1. अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यन्तर विद्रधिवत क्रिया विभाग इति।। (सु.चि. 5/27)
2. अष्ठीलाया: क्रिया कार्या गुल्मस्यान्तरविद्रधे:।
चूर्णं हिंग्वादिकं चात्र पिबेदुष्णेन वारिणा।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/110)
3. खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी।। (च.चि. 28/57)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. अभ्यङ्ग 2. स्वेदन 3. मर्दन
4. उपनाह[1] (तैल, घृत, खीर, कृशरा एवं मांस से)
5. स्निग्ध, अम्ल एवं लवण रस वाले द्रव्यों की पोट्टली, क्वाथ, चूर्ण अथवा उद्वर्तन (कल्क) बनाकर स्वेदन करना, मर्दन करना अथवा उपनाह स्वेद करना चाहिए[2]।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
	प्रात	: सायं
2.	महायोगराज गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
4.	उपनाह स्वेदन	
5.	विषगर्भ तैल	: स्थानीय प्रयोग एवं स्वेदन
6.	पथ्य सेवन	
7.	नियमित व्यायाम	

•••

38. कम्पवात
(PARKINSONISM)

निदान

1. वात कारक आहार एवं विहार का अत्यधिक सेवन।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कम्पवात को Parkinsons Disease के समीप माना जा सकता है। इसके प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं–

1. Idiopathic – Paralysis agitans
2. Post encephalitic Parkinsonism
3. Trauma – Head injury
4. Carbon monoxide intoxication

1. ....खल्लयां तृष्णोपनाहनम्।
पायसै: कृशरैर्मांसैः शस्तं तैलघृतान्वितै:।। (च.चि. 28/101)
2. खल्लयां स्निग्धाम्ललवणै: स्वेदमर्दोपनाहनम्।। (च.द. वातव्याधि चिकि.)

5. Metalic Poisoning
6. Drugs – Reserpine, Phenothiazine, haloperidol etc.

उपरोक्त कारणों से Substantia nigra और Lewy bodies में उपस्थित Dopaminergic Neurons, जिनमें कि Melanin होता है, उनका क्षय (Degeneration) होता है। फलस्वरूप रोगी के शरीर में कम्प (Tremors), अनामयता (Rigidity) एवं पेशीक्रिया हानि आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

सामान्य लक्षण[1]

1. सर्व शरीर में कम्पन (Generalised Tremors) अथवा
2. केवल शिर में कम्पन होना (Tremors of head)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. स्नेहन
2. स्वेदन
3. बृंहण चिकित्सा
4. रसायन चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. व्यायाम
3. पत्रपिण्ड स्वेदन
   प्रात : सायं
4. कौंचपाक : 15 ग्राम
   दुग्ध से 1×2 मात्रा
5. भोजनोत्तर
   नारसिंह चूर्ण : 2 ग्राम
   अग्नितुण्डी वटी : 250 मि.ग्रा.
   जल से 1×2 मात्रा
6. बलारिष्ट : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
7. रात्रि में
   हरीतकी चूर्ण : 3 ग्राम
   कोष्ण जल से 1 मात्रा

1. सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः। (मा.नि. वातव्याधि निदान)

39. सिराग्रह
(HERPES SUPRA ORBITALIS)

सामान्य लक्षण[1]

1. ग्रीवा की सिराओं में रुक्षता (Dryness in veins of neck)
2. वेदना (Pain)
3. कृष्णवर्णता (Black colour of the veins of Neck)
4. असाध्यता (Uncurable)

चिकित्सा सिद्धान्त

वातशामक चिकित्सा व्यवस्था

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
   प्रात : सायं
2. सिंहनाद गुग्गुलु : 500 मि.ग्रा.
   अग्नितुण्डी वटी : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
3. एरण्ड पाक : 15 ग्राम
   दुग्ध से 1×2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. अभ्यंगार्थ : प्रसारिणी तैल
   स्वेदनार्थ : दशमूल क्वाथ
6. पथ्य सेवन

40. ज्ञानेन्द्रियगत वात

सामान्य लक्षण[2]

1. इन्द्रियों के स्वाभाविक कर्मों का नाश, जैसे–कर्ण से सुनाई नहीं देना, जिह्वा से रस ज्ञान नहीं होना, त्वचा में स्पर्श की अनुभूति का अभाव, नेत्र

1. रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्द्धधराः सिराः।
   रुक्षाः सवेदनाः कृष्णा सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः।। (अ.हृ.नि. 15/37)
2. श्रोतादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः। (च.चि. 28/29)

से दिखाई नहीं देना अथवा कम दिखाई देना एवं नासा से गन्ध ज्ञान का अभाव।

2. इन्द्रियों के कर्मों का विकृत होना।

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. वातनाशक चिकित्सा 2. स्नेह अभ्यङ्ग 3. अवगाहन
4. मर्दन 5. स्नेह लेपन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. वात नाशक आहार एवं विहार
3. स्थानीय अभ्यंग एवं स्वेदन

	प्रात	: सायं
4.	सिंहनाद गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
5.	रसोन क्षीरपाक	: 20 ग्राम
		1×2 मात्रा
6.	भोजनोत्तर	
	रास्ना सप्तक क्वाथ	: 20 मि.ली.
		1×2 मात्रा
7.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा

41. आनाह
(CONSTIPATION)

परिचय

वात दोष की विगुणता के कारण उत्पन्न विषमाग्नि से आहार का सम्यक प्रकार से उपापचय नहीं हो पाता है जिसके फलस्वरूप आमाशय में आम रस अथवा अपक्व अन्न रस की उत्पत्ति होती है। यह अपक्व अन्न रस आमाशय अथवा पक्वाशय में संचित होते रहते हैं तथा उनका सम्यक रूप से कोष्ठ से बाहर निर्गमन नहीं होता है

1. श्रोतादिष्वनिले दुष्टे कार्यो वातहरः क्रमः।
स्नेहाभ्यङ्गावगाहाश्च मर्दनालेपनानि च।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/254)

जिसके फलस्वरूप आनाह रोग की उत्पत्ति होती है। आनाह रोग में मुख्य रूप से अन्नवह स्रोतस तथा पुरीषवह स्रोतस की विकृति होती है जो कालांतर में अन्य स्रोतसों की विकृति भी करते हैं, जैसे–रसवह स्रोतस, मेदोवह स्रोतस इत्यादि।

आनाह रोग में मुख्यतः उदर प्रदेश में स्तब्धता मिलती है तथा उदावर्त रोग से आनाह की प्रायः साम्यता स्थापित होती है। आचार्य चरक ने चिकित्सा स्थान अध्याय 28 में केवल आम दोष के कारण उत्पन्न आनाह का ही वर्णन किया है। उदावर्त तथा आनाह दोनों ही समान कारणों से उत्पन्न होते हैं, केवल लक्षणों में विभिन्नता पाई जाती है। आनाह रोग में हृदय प्रदेश में स्तम्भ, शिर में वेदना, उद्गार का रुक जाना आदि लक्षण भी मिलते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार आनाह रोग की तुलना Constipation नामक रोग से की जा सकती है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 26
2. सुश्रुत संहिता निदान–अध्याय 01
3. सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र–अध्याय 56
4. अष्टांग संग्रह सूत्रस्थान–अध्याय 04
5. भाव प्रकाश चिकित्सा–अध्याय 31
6. भैषज्य रत्नावली–अध्याय 31

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

अनाह = आ + नह् + घञ् प्रत्यय
= आनाह
= बन्धन, मलावरोध
= आङ् + णह् बन्धने धातु + घञ्

अर्थात् आङ् उपसर्ग पूर्वक णह् बन्धने धातु से आनाह शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार–

"आ समन्तात नह्यते बध्यते अवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गो यस्मिन रोगे स आनाहः"

अर्थात् जिस रोग में उर्ध्व एवं अधः उभय मार्ग से वायु की प्रवृत्ति नहीं हो, उदर में गुड़-गुड़ शब्द भी न हो, उसे आनाह कहते हैं। इस अवस्था में पूर्णतया अवरोध रहता है तथा मल का निस्सरण पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है। वायु का निर्गमन भी अपान वायु अथवा उद्गार किसी भी रूप में नहीं होता है।

परिभाषा

जिस अवस्था में आम अथवा पुरीष, आमाशय अथवा पक्वाशय में क्रमशः सञ्चित होता रहे एवं वात की विगुणता से और भी अवरोध होकर अपने यथोचित मार्ग से न निकले, उस विकार को आनाह कहते हैं।

निदान

1. उदावर्त रोग के सभी निदान आनाह रोग के भी निदान हैं।
2. कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार का अत्यधिक सेवन।
3. रुक्ष आहार का अति ग्रहण।
4. मल, मूत्र आदि वेगों का अवरोध।

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त मिथ्याहार विहार के निरन्तर सेवन करने के कारण उत्पन्न विषमाग्नि से आमरस की अधिक उत्पत्ति होती है एवं पुरीष का भी पक्वाशय में धीरे-धीरे संचय होता रहता है जिसके फलस्वरूप उर्ध्व एवं अधः दोनों ही मार्गों से उद्‌गार या अपान वायु की प्रवृत्ति नहीं होती है तथा मलावरोध भी हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप आनाह रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
आमरस एवं पुरीष की उत्पत्ति
↓
आमाशय एवं पक्वाशय में क्रमशः संचय
↓
विगुणित वायु द्वारा आमरस एवं पुरीष का अवरोध होना
↓
उर्ध्व अथवा अधः मार्ग से वायु एवं मल की अप्रवृत्ति
↓
अनाह रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात (अपान वायु) प्रधान
दूष्य	:	अपक्व अन्न, रस, पुरीष
अधिष्ठान	:	आमाशय, पक्वाशय
स्रोतस	:	अन्नवह, पुरीषवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग
अग्नि स्थिति	:	मन्दाग्नि, विषमाग्नि
व्याधि स्वभाव	:	मृदु – नवीन, दारुण – जीर्ण
साध्यासाध्यता	:	सुखसाध्य/कृच्छ्रसाध्य

1. आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण, भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्त्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति।। (सु.उ. 56/20)

भेद

विकृति भेद से आनाह दो प्रकार का होता है–

1. आमाशयोत्थ आमज आनाह
2. पक्वाशयोत्थ पुरीषज आनाह

सामान्य लक्षण[1]

1. हृदय में जकड़ाहट (Stiffness in the chest region)
2. शिर में वेदना (Headache)
3. शिर में भारीपन (Heaviness in the Head)
4. उद्‌गार सङ्ग (No Belching)
5. पीनस (Rhinitis)
6. उदर की स्तब्धता (Abnormal feeling in abdomen)
7. बेचैनी (Feeling of uneasiness)

आनाह के भेदानुसार लक्षण

1. **आमज आनाह के लक्षण[2] (Pyloric Obstruction)**

आमज आनाह के निम्नलिखित लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं–

1. तृष्णा (Thirst)
2. प्रतिश्याय (Rhinitis)
3. शिर में दाह (Burning Sensation in Head)
4. आमाशय में शूल (Pain Abdomen)
5. शरीर में भारीपन (Heaviness in the body)
6. हृदय स्तम्भ (Stiffness in Cardiac region)
7. उद्‌गार विघात (No Belching)

2. **पुरीषज आनाह के लक्षण[3] (Intestinal Obstruction)**

पुरीषज आनाह के लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. कटि एवं पृष्ठ में स्तब्धता (Stiffness in waist region and back)
2. पुरीष एवं मूत्र का अवरोध (Retention of stool and urine)
3. कटि एवं पृष्ठ में शूल (Pain in waist region and urine)
4. मूर्च्छा (Fainting)
5. पुरीष वमन (Vomiting mixed with faeces)

1. हस्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्यामुद्‌गारसङ्गेन सपीनसेन।। (च.चि. 26/26)
2. तस्मिन् भवन्त्याम् समुद्‌भवेतु तृष्णा प्रतिश्याय शिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृल्लास उद्‌गार विद्यातन्त्र्च।। (सु.उ. 56/21)
3. स्तम्भः कटिपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलांऽथ मूर्च्छा स शकृद्वमेच्च।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति लिङ्गानि चात्रालसकोद्‌भवानि।। (सु.उ. 56/22)

6. श्वास (Dyspnoea / Breathlessness)
7. अलसक (Gastroenteritis)

सापेक्ष निदान

आनाह रोग का निम्नलिखित व्याधियों के साथ सापेक्ष निदान किया जाना चाहिए–

1. उदावर्त

आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में प्राय: उदावर्त एवं आनाह का एक साथ वर्णन मिलता है। नैदानिक एवं लाक्षणिक दृष्टि से भी उदावर्त एवं आनाह में पर्याप्त समानता मिलती है, परन्तु संहिता ग्रन्थों में इन व्याधियों का पृथक स्वरूप मिलता है। उदावर्त में मुख्यत: वायु की गति उर्ध्व होती है तथा आनाह में उदर स्तब्ध हो जाता है। आनाह में मल सञ्चय भी होता है जबकि उदावर्त में वायु का अवरोध हो जाता है।

2. आध्मान

आध्मान एक विशेष अवस्था होती है जिसमें आटोप तथा उदर का फूलना मुख्य लक्षण होता है। इसमें मल सञ्चय की प्रवृत्ति आवश्यक नहीं है।

3. उर्ध्ववात

संहिता ग्रन्थों में उर्ध्ववात का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है। उर्ध्ववात में वात दोष विशेष रूप से प्रभावी होता है। उर्ध्ववात में उद्‌गार बाहुल्यता मिलती है अर्थात् आमाशय अथवा पक्वाशय में किसी प्रकार का अवरोध होने से वात का विसर्जन उसके स्वाभाविक मार्ग से नहीं हो पाता है तब वही वायु प्रतिलोम होकर मुख द्वारा उद्‌गार के रूप में बार-बार निकलती है।

साध्यासाध्यता

सम्यक् रूप से चिकित्सा करने पर आनाह रोग प्राय: साध्य होता है। परन्तु यदि आन्त्र में शल्य जन्य अवरोध हो तब शल्य क्रिया की भी आवश्यकता पड़ सकती है। अन्यथा आनाह रोग साध्य है।

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. लंघन
2. पाचन औषधि प्रयोग
3. वमन
4. उदावर्त नाशक चिकित्सा[2]

उदावर्त नाशक चिकित्सा के अन्तर्गत सम्यक् रूप से स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, अनुलोमन, अनुवासन बस्ति, निरुह एवं बस्ति, गुदवर्ति का विधान किया जाता है। इनका प्रयोग आनाह में भी लाभदायक होता है।

चिकित्सा

आनाह रोग में निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिए

1. आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च।। (च.चि. 26/26)
2. तुल्यकारणकार्यत्वादुदावर्तहरीक्रियाम्।
आनाहेषु च कुर्वीत विशेषश्चापि धीयते।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 31/45)

I. निदान परिवर्जन

आनाह के जो भी निदान हैं उनका त्याग करना चाहिए। अत: निदान परिवर्जन से आनाह रोग स्वत: ठीक हो जाता है।

II. शोधन चिकित्सा

1. वमन

सर्वप्रथम स्नेहन, स्वेदन करना चाहिए, तत्पश्चात सम्यक स्नेहन का लक्षण उत्पन्न होने पर मदनफलपिप्पली, वचा, सैन्धव लवण तथा मधुयष्ठी फाण्ट पिलाकर सम्यक् रूप से वमन करना चाहिए। वमन मुख्य रूप से आमज आनाह में लाभदायक होता है।

2. विरेचन

पुरीषज आनाह में विरेचन कर्म कराना चाहिए। विरेचन हेतु त्रिवृत्त चूर्ण, आरवधा फलमज्जा एरण्ड स्नेह आदि का प्रयोग लाभदायक है।

3. बस्ति चिकित्सा

आनाह रोग में वातानुलोमन हेतु आवश्यकतानुसार अनुवासन अथवा निरुह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

III. शमन चिकित्सा

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा : 125 मि.ग्रा.
अनुपान: मधु/कोष्ण जल

(i) नाराच रस : पारद, गन्धक, दन्ती बीज, स्नुही
(ii) इच्छाभेदी रस : जयपाल, पारद, गन्दक, त्रिवृत
(iii) उदय मार्तण्ड रस : हिंगुल, जयपाल, वत्सनाभ, दन्ती

2. वटी

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान: जल/मधु

(i) चित्रकादि वटी : चित्रक
(ii) व्योषादि वटी : शुण्ठी, पिप्पली, मरिच
(iii) वैद्यनाथ वटी : दन्ती, त्रिकटु, रस सिन्दूर

3. चूर्ण

मात्रा : 2-5 ग्राम
अनुपान: कोष्ण जल

(i) त्रिकटु चूर्ण : शुण्ठी, पिप्पली, मरिच
(ii) पञ्चकोल चूर्ण : पिप्पली, चव्य, चित्रक, शुण्ठी
(iii) हिंग्वादि चूर्ण : हिंग, वचा, कूष्ठ, यवक्षार, वायविडंग

(iv) वचादि चूर्ण : वचा, हरीतकी, चित्रक, यवक्षार
(v) त्रिवृत्तादि चूर्ण : त्रिवृत्त, स्नुही

4. घृत/तैल

मात्रा : 10-20 मि.लि.
अनुपान : उष्णोदक

(i) स्थिराद्य घृत : शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोक्षुर, वृहती
(ii) शुष्कमूलाद्य घृत : मूली, आद्रर्क, पुनर्नवा, लघु पञ्चमूल
(iii) दन्ती घृत : दन्ती, गोघृत
(iv) एरण्ड स्नेह : एरण्ड

5. एकल औषधियाँ

शुष्ठी, पिप्पली, जीरक, अजवायन, हिंङ्गु, एरण्ड, त्रिवृत, अमलतास, चित्रक, मरिच, धान्यक, मदनफल, दन्ती, पुनर्नवा एवं मेथी इत्यादि।

IV. योगासन

आनाह रोग में निम्न योगासन लाभदायक होते हैं–

(i) सर्वाङ्गासन (ii) पवन मुक्तासन (iii) वज्रासन
(iv) योगमुद्रा (v) शवासन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन 2. विरेचन, बस्ति आदि शोधन चिकित्सा
3. भोजनोत्तर
   नारचरस : 125 मि.ग्रा.
   पंचकोल चूर्ण : 2 ग्राम
   कोष्ण जल से 1×2 मात्रा
4. चित्रकादि वटी : 500 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य[1]

आहार	विहार
उदावर्त के समान पथ्य पालन, ग्राम्य, आनूप, पशु पक्षियों का मांसरस, एरण्ड तैल, मदिरा, मूली, अमलतास, निशोथ, तिल, थूहर आर्द्रक, विजौरा नींबू, यवक्षार, हरीतकी, लवंग, दाल, गोमूत्र इत्यादि।	स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, बस्ति, फलवर्ती, योगासन, व्यायाम इत्यादि।

1. उदावर्त्ते हितं सर्वं पाचनं लंघनं तथा।
आनाहेऽपि यथायोग्यं संवयेन्मतिमान्नरः।। (भै.र. 31/61)

अपथ्य[1]

आहार	विहार
शमीधान्य, माष, मटर, कोदो, शालूक, जामुन, ककड़ी, पिण्याक, आलू, बेसन, विरुद्ध पदार्थ, कषाय रस द्रव्य, गुरु पाकी पदार्थ अपथ्य होते हैं।	वमन, मल, मूत्रादि, वेगावरोध

5. रात्रि में
   एरण्ड स्नेह : 20 मि.ली.
   दुग्ध से 1 मात्रा
6. त्रिकटुकादि वर्ति : घृत लिप्त कर गुदा में प्रवेश कराना चाहिए।
7. वज्रासन, शवासन, पवन मुक्तासन, सर्वाङ्गासन
8. पथ्य सेवन

42. उर्ध्ववात
(BELCHING)

परिचय

उर्ध्ववात रोग आनाह और आध्मान से मिलती जुलती अवस्था है। संहिता ग्रन्थों में उर्ध्ववात का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिलता है। उर्ध्ववात में कुछ गुल्म रोग के तथा कुछ लक्षण उदावर्त रोग के मिलते हैं। उर्ध्ववात रोग में प्रायः उद्गार की बहुलता अर्थात् बार-बार उद्गार का वेग आता है। आचार्य चरक ने नानात्मज वात व्याधियों में भी उर्ध्ववात का उल्लेख किया है। उर्ध्ववात में मुख्य रूप से वात दोष की विकृति होती है इसलिए अधिकांश आचार्यों ने उर्ध्ववात का वर्णन वात व्याधि चिकित्सा अध्याय में किया है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 28
2. माधव निदान–अध्याय 28
3. योग रत्नाकर–उदावर्त निदान
4. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड–अध्याय 24

1. अपथ्यानि प्रदिष्टानि यान्युदावर्तिनां पुरा।
अनाहार्त्तः परिहरेत् तानि सर्वाणि यत्नतः।। (भै.र. 31/62)

व्युत्पत्ति/निरुक्ति

उर्ध्ववात = उर्ध्व + वात
= उर्ध्ववात

उर्ध्व = (विशेष) उद + हा + ड
= पृषोदरादित्वेन, उर् आदेश
= ऊपर, उन्नत, उठाया हुआ
= शरीर के उर्ध्व भाग में रहने वाली वायु
= उर्ध्ववात

आचार्य चक्रपाणि ने उर्ध्ववात को परिभाषित करते हुए कहा है कि "उर्ध्वकाये वात उर्ध्ववात:"

परिभाषा[1]

जब श्लेष्म स्थान (आमाशय) अथवा वात स्थान (पक्वाशय) में किसी प्रकार का अवरोध हो जाता है तब वायु का निष्क्रमण उसके स्वाभाविक मार्ग से नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप यह वायु प्रतिलोम होकर मुख मार्ग द्वारा बार-बार उद्गार के रूप में निकलती है। यही उर्ध्ववात की अवस्था है।

आचार्य भाव मिश्र ने भी स्पष्ट किया है कि स्वकारणों से प्रकुपित समान वायु, कफ तथा अपान वायु से अधोनिरुद्ध होकर बार-बार उद्गार को उत्पन्न कर देता है। इसे उर्ध्ववात कहते हैं।

निदान

आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में उदावर्त के निदानों का अलग से वर्णन नहीं मिलता है। सामान्यत: निम्नलिखित निदान उर्ध्ववात के निदान होते हैं-

1. आमदोष
2. अधारणीय वेगों का धारण
3. आहार का अयोग, अतियोग अथवा मिथ्यायोग
4. अध्यशन
5. अति लंघन
6. गुरु एवं विदाही आहार सेवन
7. रात्रि जागरण
8. मानसिक कारण, जैसे-काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या इत्यादि।

1. अध: प्रतिहतोवायु: श्लेष्मणा मारुतेन वा।
करोत्युद्गार बाहुल्यमूर्ध्ववात: स उच्यते।। (मा.नि. 22/75)

सम्प्राप्ति

उपरोक्त वर्णित विभिन्न प्रकार के आहार जन्य, विहार जन्य एवं मानसिक निदानों का सेवन करने से वात दोष प्रकुपित होकर जाठराग्निमांद्य उत्पन्न करता है। जाठराग्निमांद्य के फलस्वरूप आमाशय में आम दोष (आमरस) की उत्पत्ति होने लगती है और अन्तत: उर्ध्ववात की उत्पत्ति हो जाती है।

सम्प्राप्ति चक्र

विभिन्न प्रकार के आहारजन्य, विहारजन्य एवं मानसिक निदान का सेवन
↓
अग्निमांद्य
↓
आमरस की उत्पत्ति
↓
आमाशयगत वायु एवं पक्वाशय गत वायु की वृद्धि
↓
पक्वाशय में पुरीष का अत्यधिक शुष्क हो जाना
↓
वायु की अनुलोम गति का अवरोध
↓
वायु की प्रतिलोम गति
↓
प्राण वायु की दुष्टि
↓
उर्ध्ववात रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात, कफ
दूष्य	:	रसधातु, पुरीष
अधिष्ठान	:	आमाशय, पक्वाशय
स्रोतस	:	अन्नवह, पुरीषवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन
अग्नि स्थिति	:	अग्निमांद्य
व्याधि स्वभाव	:	मृदु
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/साध्य

भेद

उर्ध्ववात के सामान्यत: निम्न दो भेद किये जाते हैं–

1. आमाशयोत्थ उर्ध्ववात 2. पक्वाशयोत्थ उर्ध्ववात

सामान्य लक्षण

उर्ध्ववात के निम्नलिखित लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं–

1. उद्‌गार बाहुल्य (Erructations / Belching)
2. उदर में भारीपन (Heaviness in the Abdomen)
3. आनाह (Constipation)
4. आध्मान (Tympanitis)
5. आमज शूल (Pain Abdomen)
6. हृदय प्रदेश में शूल (Pain in cardiac region)
7. मलावरोध (Constipation)
8. अजीर्ण (Indigestion)

उर्ध्ववात के भेदानुसार लक्षण

1. आमाशयोत्थ उर्ध्ववात के लक्षण

आमाशयोत्थ उर्ध्ववात वस्तुत: आमाशयस्थ कफ द्वारा वायु का मार्गावरोध होने के कारण उत्पन्न होता है। इसमें निम्न लक्षण मिलते हैं–

(i) अति उद्‌गार (Excessive Belching)
(ii) अजीर्ण (Indigestion)
(iii) उदर में भारीपन (Heaviness in Abdomen)
(iv) उदर में गुड़-गुड़ शब्द होना।

2. पक्वाशयोत्थ उर्ध्ववात के लक्षण

पक्वाशयोत्थ उर्ध्ववात में मुख्य रूप से अपान वायु की विकृति होती है जिसके फलस्वरूप अपान वायु प्रतिलोम हो जाती है इसमें पुरीष शुष्कता, मलावरोध, आनाह, आध्मान मूर्च्छा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सापेक्ष निदान

उर्ध्व वात का सापेक्ष निदान आनाह, आध्मान, प्रत्याध्मान एवं उदावर्त से किया जाता है। इनका वर्णन पूर्व में आनाह प्रकरण में किया जा चुका है।

साध्यासाध्यता

उर्ध्ववात में मुख्यत: वात दोष की मुख्य विकृति होती है। अत: वातानुलोमन चिकित्सा करने से उर्ध्ववात प्राय: साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. दीपन चिकित्सा 2. पाचन चिकित्सा 3. वातानुलोमन चिकित्सा

चिकित्सा

उर्ध्ववात की सम्पूर्ण चिकित्सा व्यवस्था मुख्यत: आनाह में वर्णित चिकित्सा के अनुसार ही चूर्ण, वटी, रस आदि का प्रयोग करना चाहिए। कुछ अन्य उर्ध्ववात हर औषधियाँ निम्नलिखित हैं–

(i) विश्वादि चूर्ण (शुण्ठी, विधारा, निशोथ, हरीतकी, हिंङ्गु, चित्रक)
(ii) अविपत्तिकर चूर्ण (त्रिवृत्त, लवंग)
(iii) दशमूलादि घृत (दशमूल द्रव्य, गोघृत)
(iv) एरण्ड तैल (एरण्ड)
(v) अभयारिष्ट (अभया)

योग चकित्सा

(i) पवन मुक्तासन (ii) सर्वाङ्गासन (iii) शवासन
(iv) वज्रासन

उपरोक्त आसनों का नियमित प्रयोग उर्ध्ववात में लाभदायक होता है। वज्रासन भोजनोत्तर करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. अनुलोमन चिकित्सा

		प्रात:	सायं
3.	अविपत्तिकर चूर्ण	: 3 ग्राम	
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम	
	उष्ण जल से	1×2 मात्रा	
4.	त्रिवृत्त चूर्ण	: 3 ग्राम	
	घृत से	1×2 मात्रा	
5.	भोजनोत्तर		
	अभयारिष्ट	: 20 मि.ली.	
	समभाग जल से	1×2 मात्रा	
6.	रात्रि में		
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम	
	कोष्ण जल से	1 मात्रा	

7. वज्रासन, पवनमुक्तासन, सर्वाङ्गासन शवासन का नियमित अभ्यास
8. पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
मसूर, मूँग, परवल, बथुआ, मेथी, करेला, आर्द्रक, रसोन, प्याज, लौकी, तोरई, पुनर्नवा, जीवन्ती, लघु, सुपाच्य आहार, पपीता, केला, अंगूर, नींबू, चीकू, अनार इत्यादि।	नियमित दिनचर्या पालन, जल में तैरना, व्यायाम, पैदल चलना इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
वात प्रधान आहार जैसे अरहर, चना, मटर, चावल, आलू, दही, कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान सभी द्रव्य, अत्यधिक तले, भुने पदार्थ, बेसन, मैदा के बने आहार इत्यादि।	दिवाशयन, मल, मूत्र इत्यादि वेग का धारण, वमन इत्यादि।

43. आक्षेपक रोग
(CONVULSIONS)

परिचय

वस्तुतः आक्षेपक एक लक्षण है जो कि अनेक रोगों में लक्षण रूप में पाया जाता है। सामान्यतः सर्वशरीर व्यापी व्यान वायु की विकृति के परिणामस्वरूप आक्षेपक रोग उत्पन्न होता है। आक्षेपक में मुख्यतः मस्तिष्क में स्थित वात दोष की विकृति प्रधान रूप से होती है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार प्रावेगिक (Paroxysmal) तथा आकुञ्चनात्मक (Spasmodic) अनैच्छिक गतियाँ ही आक्षेपक (Convulsion) कही जाती हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

वात व्याधि में उल्लिखित सभी सन्दर्भ ग्रन्थ

परिभाषा

प्रकुपित वायु जब हाथ, पैर, सिरा, स्नायु, कण्डरा को सुखाकर शरीर में बार-बार खिंचाव उत्पन्न करती है उसे आक्षेपक रोग कहते हैं[1]।

आचार्य सुश्रुत ने आक्षेपक का वर्णन करते हुए कहा है कि अत्यधिक प्रकुपित वायु शरीर की सभी धमनियों में प्रविष्ट हो जाती है तब बार-बार आक्षेप उत्पन्न होने लगता है। इस तरह बार-बार आक्षेप के दौरे आने से इसे आक्षेपक रोग कहते हैं[2]।

निदान

वात प्रकोपक सभी निदान आक्षेपक रोग के निदान भी हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

वात प्रकोपक आहार एवं विहार का अत्यधिक सेवन
↓
वात दोष प्रकोप
↓
प्रकुपित वात का सम्पूर्ण धमनियों, वातनाड़ियों में अवस्थान तथा उनमें बार-बार आकुंचन उत्पन्न करना
↓
आक्षेपक रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात (व्यान वायु)
दूष्य	:	रस, रक्त, सिरा, धमनी, कण्डरा
अधिष्ठान	:	वातनाड़ी, धमनी
स्रोतस	:	रसवह, रक्तवह, मनोवह (संज्ञावह)
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन
व्याधि स्वभाव	:	चिरकारी/दारुण
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/याप्य

---

1. मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपको ऽनिलः।
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः॥ (च.चि. 28/50)
2. यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽप्येति मारुतः।
तदाक्षिपत्यतु मुहुर्मुहुर्दैहं मुहुश्चरः॥
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः॥ (सु.नि. 1/50-51)

सामान्य लक्षण[1]

आक्षेपक रोग के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं–

1. शरीर में आक्षेप (Convulsions in the body)
2. हस्त पाद में शोष होना (Emaciation of limbs)
3. सिरा, स्नायु, कण्डरा का शोषण (Deformity / Emaciation in veins, tendons and muscles)
4. प्रसारण विकृति (Defective Extension of Muscles)
5. आकुञ्चन (Spasm of the muscles)

भेद

आचार्य भावमिश्र के अनुसार आक्षेपक निम्न 4 प्रकार का होता है[2]–

1. पित्तयुक्त वातज आक्षेपक
2. कफयुक्त वातज आक्षेपक
3. वातज आक्षेपक
4. अभिघातज आक्षेपक

उपरोक्त भेदों का कोई विशेष वर्णन आचार्य भावमिश्र ने नहीं किया है लेकिन यह बताया है कि कफावृत वात या केवल वात, हाथ, पैर, शिर, पृष्ठ तथा श्रोणि प्रदेश इत्यानि इन सबको स्तब्ध (Stiff) कर देता है तथा शरीर दण्ड के समान कड़ा हो जाता है।

साध्यासाध्यता

केवल वात से उत्पन्न आक्षेपक तथा आगन्तुज आक्षेपक असाध्य होता है जबकि वातपित्तज या वातकफज आक्षेपक साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. सर्वाङ्ग अभ्यङ्ग
2. स्वेदन
3. शिरो अभ्यङ्ग
4. नस्य कर्म
5. उपनाह
6. धूपन कर्म
7. बल्य तथा बृंहण आहार विहार का प्रयोग।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. स्थानीय अभ्यंग, नाड़ी स्वेदन या उपनाह स्वेद
3. अनुवासन बस्ति : एरण्ड स्नेह से
   निरुह बस्ति : दशमूल क्वाथ से
4. माहेश्वर धूप से धूपन कर्म

1 यदा तु धमनीः सर्वाः कृद्धोऽभ्येति मुहुर्मुहुः।
तदाऽङ्गमाक्षिपत्येव व्याधिराक्षेपकः स्मृतः॥ (अ.हृ.नि. 15/16)

2. पित्तश्लेष्मान्वितं वायुर्वायुश्च केवलः।
कुर्यादाक्षेपकं चान्यं चतुर्थमभिघातजम्॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/168)

5. शवासन, सर्वाङ्गासन, योगाभ्यास
   प्रात : सायं
6. ब्राह्मी वटी : 250 मि.ग्रा.
   अपतन्त्रकारिवटी : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
7. बृहत वात चिन्तामणि रस : 125 मि.ग्रा.
   चिन्तामणि चतुर्मुख रस : 125 मि.ग्रा.
   मृगशृंग भस्म : 250 मि.ग्रा.
   मधु से 1×2 मात्रा
8. भोजनोत्तर
   मांस्यादि क्वाथ : 20 मि.ली.
   1×2 मात्रा
9. रात्रि में
   हरीतकी चूर्ण : 3 ग्राम
   गर्म जल से 1 मात्रा
10. पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

1. पथ्य

आहार	विहार
मूँग, मसूर, आर्द्रक, क्षीर, घृत, मांसरस, यव, पुनर्नवा, द्राक्षा, अनार, मौसमी आदि बृंहण एवं बल्य आहार का प्रयोग।	मधुर वातावरण, सम्यक् दिनचर्या, ऋतुचर्या का पालन करना।

2. अपथ्य

आहार	विहार
कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान आहार, चना, मटर, कोदों, अम्ल, विदाही, विरुद्धाहार सेवन।	वेग विधारण, दिवाशयन चिंता, उद्वेग इत्यादि।

44. अपतन्त्रक रोग
(HYSTERIA)

परिचय

अपतन्त्रक, वायु से उत्पन्न होने वाला एक मानसिक रोग है, और इसका प्रभाव रोगी के मस्तिष्क पर ही सर्वाधिक होता है। सर्वप्रथम रोगी को नाभि प्रदेश से वायु उपर की ओर उठती हुई प्रतीत होती है तथा वायु का तीव्र वेग हृदय, शिर एवं शंख प्रदेश में गमन करता हुआ रोगी अनुभव करता है। जब वायु अत्यधिक बढ़ी हुई अवस्था में रहती है तब रोगी को विशेष प्रकार के वेग (दौरा) आते हैं और शरीर धनुष के समान टेढ़ा हो जाता है और रोगी मूर्च्छित तथा ज्ञान शून्य हो जाता है।

यदि वायु का प्रकोप अत्यधिक नहीं हो तो उस अवस्था में शरीर के अंगों में स्तम्भन नहीं होता है तथा पूर्ण मूर्च्छा की स्थिति भी नहीं उत्पन्न होती है। परन्तु इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। उस अवस्था को ही अपतन्त्रक रोग कहते हैं। यह रोग स्त्री एवं पुरुष दोनों में सामान्यत: पाया जाता है। परन्तु प्राय: स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसके लक्षण Hysteria नामक रोग से साम्य रखते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता सिद्धिस्थान–अध्याय 09
2. सुश्रुत संहिता निदान स्थान–अध्याय 01
3. अष्टांग हृदय निदान स्थान–अध्याय 15
4. माधव निदान–अध्याय 22
5. भावप्रकाश चिकित्सा–अध्याय 24

परिभाषा[1]

अधोभाग की ओर जानेवाली वायु प्रतिलोम होकर हृदयस्थिति नाड़ियों में प्रवष्टि होकर सर्व शरीर को आक्षेप युक्त कर देती है तथा रोगी कठिनाई से श्वास लेता है। आँखों का निश्चल होना तथा बंद होना एवं रोगी कबूतर के समान कूजन करता है एवं बेहोश हो जाता है। इस अवस्था को 'अपतन्त्रक' रोग कहते हैं, कुछ विद्वान इसे 'अपतानक' भी कहते हैं।

---

1. अध: प्रतिहतो वायुर्व्रजन्नूर्ध्वं हृदाश्रित:।
नाड़ी प्रविश्य हृदयं शिर: शंखौ च पीडयन्॥
आक्षिपेत्परितो गात्रं धनुर्वच्चास्य नामयेत्।
कृच्छ्रादुच्छ्वसिति स्तब्धस्रस्तमीलित दृक्तत:॥ (अ.हृ.नि. 15/17–18)

निदान

अपतन्त्रक के सभी निदान वात व्याधि के निदान के समान ही होते हैं। अत: निदान वात व्याधि प्रकरण में देखें।

सम्प्राप्ति

विभिन्न प्रकार के वात प्रकोपक आहार विहार का अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित हुआ वायु अपने मुख्य स्थान (पक्वाशय) से उपर उठकर शिर की ओर गमन करता है तो उपर की ओर हृदय, शिर एवं शंख को पीड़ित करता हुआ अंगों को धनुष के समान झुकाकर अपतन्त्रक रोग उत्पन्न करता है।

सम्प्राप्ति चक्र

वात प्रकोपक आहार एवं विहार का अति सेवन
↓
वात दोष का प्रकोप
↓
प्रकुपित वायु का प्रतिलोम होकर उर्ध्व मार्ग में गमन करना
↓
हृदय, शंख, शिर का पीड़न अर्थात् दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना होना
↓
संज्ञावह स्रोतस की दुष्टि
↓
अपतन्त्रक रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	रस, कण्डरा, सिरा, नाड़ी
अधिष्ठान	:	हृदय, शिर एवं शंख प्रदेश
स्रोतस	:	रसवह, मनोवह (संज्ञावह)
स्रोतोदुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन
व्याधि स्वभाव	:	दारुण
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/याप्य

सामान्य लक्षण[1]

अपतन्त्रक रोग के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण होते हैं–

1. शरीर का धनुष के समान टेढ़ा हो जाना (Bow like curvature of the body due to spasm of muscles)
2. रोगी का नेत्र बन्द हो जाता है (Closing of the eyes)
3. रोगी चेष्टा रहित हो जाता है (Fainting attacks)
4. नेत्र स्तब्धता अथवा नेत्र निश्चल हो जाना (Fixation of pupils)
5. गले से कबूतर के समान कूजनवत स्वर प्रवृति (Wheezing sound during respiration from throat)
6. कभी-कभी श्वास बन्द हो जाती है (Intermittent phase of Apnoea)
7. रोगी कष्ट से श्वास लेता है (Breathlessness)

आचार्य चरक ने अपतन्त्रक रोग को अपतानक भी कहा है, जबकि आचार्य सुश्रुत ने इसे अलग माना है। आचार्य सुश्रुत अपतन्त्रक रोग को कफ युक्त वात से उत्पन्न मानते हैं।

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. अपतर्पण क्रिया (लङ्घन) का पूर्ण निषेध
2. वमन, अनुवासन, निरुह बस्ति का निषेध
3. वात एवं कफ से अवरुद्ध श्वास क्रिया को तीक्ष्ण प्रधमन नस्य द्वारा नियमित करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. तीक्ष्ण प्रधमन नस्य : कटफल चूर्ण, नागराध चूर्ण से
3. शवासन, योगासन, प्राणायाम
4. सत्वावजय चिकित्सा

	प्रातः	सायं
5. ब्राह्मी वटी	: 250 मि.ग्रा.	

1. वायुरुर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शंखौ च पीडयत्यङ्गान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रदुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः।
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते हृयावृत्ते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः॥ (सु.नि. 1/64-66)
2. अथापतन्त्रकेऽपतर्पणातुरं नापतर्पयेत्।
निरूहवस्तिं वमनं सेवयेन्न कदाचन॥
श्वसनाः कफवाताभ्याम् रुद्धास्तस्य विमोक्षयेत्।
तीक्ष्णैः प्रधमनैः संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/193-194)

	अपतन्त्रकारि वटी	: 250 मि.ग्रा.
	वृहत वात चिन्तामणि रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
6.	भोजनोत्तर	
	सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
7.	रात्रि में	
	पञ्चसकार चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1×2 मात्रा
8.	पथ्य सेवन	

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
मधुर, अम्ल, लवण पदार्थ, मरिच, सहिजन, कटफल, शुण्ठी, विडंग, हरीतकी, वचा, सैन्धव लवण, केला, पपीता, द्राक्षा, आमलकी, गेहूँ, मसूर, यव एवं मूंग इत्यादि।	शीतल वातावरण में विचरण, सम्यक् दिनचर्या पालन एवं सुबह टहलना इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान द्रव्य, विदाही, गुरु, विष्टम्भी आहार, माष, मैदा, बेसन, तले भुने पदार्थ, पर्युर्सित (बासी) आहार का सेवन, मटर, सेम एवं चना, इत्यादि।	दिवाशयन, रात्रि जागरण, मल, मूत्र इत्यादि वेग धारण, काम, क्रोध एवं मोह इत्यादि।

Latest Developments

Hysteria

Definition

Hysteria is a psychosomatic disorder. Evidences suggest that psychogenic and the environmental factors are important etiological factors. Hysteria is common between the age group of 20 to 35 years and mostly females are the victims. Patients of low intelligence are more affected by Hysteria. It is very common in unmarried, widows and divorced womens. Hysterical symptoms are viewed as symbolic representation and distorted expressions of unresolved intrapsychic conflicts about one's sexual drives (Libido)

Signs and Symptoms

1. Absence of organic basis for symptoms.
2. They serve both primary gain (Resolution of intrapsychic conflicts) and secondary gain (Obtaining sympathy and attention)
3. In conversion disorder symptoms seldom occur when patient is alone. On the other hand, symptoms are exaggerated in presence of other persons.

Management : Principles

1. Isolation of the patient.
2. Placebo therapy.
3. Drugs – Anxiolytics.
4. Hypnosis
5. Psychotherapy / Assurance Therapy

45. अपतानक (TETANUS)

परिभाषा

अपतानक एक विशेष प्रकार की व्याधि है जिसमें रोगी का शरीर आक्षेप के कारण बाहर की तरफ धनुष के समान मुड़ जाता है, नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं तथा शरीर में तीव्र वेदना होती है।

वस्तुत: आक्षेपक का प्रमुख कारण एक प्रकार का संक्रमण है जिसके कारण रोगी में आक्षेप की उत्पत्ति होती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अपतानक की साम्यता Tetanus नामक रोग से की जाती है।

सामान्य लक्षण[1]

शास्त्र में अपतानक रोग के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं–

1. दृष्टि शक्ति का नाश (Low vision)
2. संज्ञानाश (Syncope / Fainting attacks)
3. गले में कूजन (Wheezing sounds from throat)
4. जब वायु का दबाव हृदय पर से हट जाता है तब रोगी में चेतना आ जाती है तथा वह स्वस्थ अनुभव करने लगता है (Intermittent attacks of fits)

1. दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञाश्च हत्वा कण्ठेन कूजति।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृतं पुनः॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तमपतानकम्॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/198)
गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः।
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/199)

साध्यासाध्यता

निम्न प्रकार के अपतानक रोग असाध्य होते हैं[2]–

1. गर्भजात निमित्तज अपतानक
2. रक्तातिस्राव जन्य अपतानक
3. अभिघातज अपतानक

अपतानक की चिकित्सात्मक अवस्थाएं

यदि अपतानक रोगी में निम्न अवस्थाएं उपस्थित हो तो उस रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए[1]–

1. रोगी के नेत्र टेढ़े न हुए हों (Absence of fixed eyes)
2. जिस रोगी में कम्पन नहीं होता हो (Absence of Tremors)
3. स्तब्ध मेढ़ नहीं हो (Absence of Stiffness of Penis)
4. पसीना नहीं आता हो (Absence of Sweating)
5. बहिरायाम रोग से ग्रस्त नहीं हो (Absence of opisthotonos)
6. रोग की प्रारम्भिक अवस्था हो (Primary stage of the disease)

उपरोक्त अवस्थाओं में अपतानक रोगी की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए अन्यथा चिकित्सा करने से कोई लाभ नहीं मिलता है।

चिकित्सा सिद्धान्त[2]

1. स्नेहन-स्वेदन	2. तीक्ष्ण नस्य प्रयोग
3. औषधि सिद्ध घृतपान	4. सेक
5. अभ्यंग	6. अवगाहन
7. नस्य प्रयोग[3]	8. अनुवासन बस्ति प्रयोग

9. दस दिन तक वेग की शान्ति न होने वाले अपतानक रोगी की चिकित्सा स्नेहन, विरेचन, अनुवासन एवं आस्थापन वस्ति के द्वारा तथा वात व्याधि चिकित्सा के समान एवं रक्षा कर्म करना चाहिए[1]।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. सम्यक पञ्चकर्म चिकित्सा

1. अथापतानकेनार्तमस्रस्ताक्षमवेपनम्।
अस्तब्धमेढ्रमस्वेदं बहिरायाम वर्जितम्॥
अखट्वाघातिनं चैनं त्वरितं समुपाचरेत्॥ (अ.हृ.चि. 21/24-25)
2. तत्र प्रागेव सुस्निग्धस्विन्नाङ्गे तीक्ष्णनावनम्।
स्रोतो विशुद्ध्यं युञ्ज्यादच्छपानं ततो घृतम्॥ (अ.हृ.चि. 21/26)
3. सेकाभ्यंगावगाहान्नपाननस्यानुवासनैः।
स हन्ति वातं, ते ते च स्नेह स्वेदाः सुयोजिताः॥ (अ.हृ.चि. 21/29)

3. योगासन, प्राणायाम

प्रात	: दोपहर रात्रि
4. सिद्धमकरध्वज रस	: 125 मि.ग्रा.
वृहत वातगजांकुश रस	: 125 मि.ग्रा.
रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
समीर पन्नग रस	: 125 मि.ग्रा.
मधु से	1×3 मात्रा
5. भोजनोत्तर	
हरीतकी चूर्ण	: 2 ग्राम
अश्वगन्धा चूर्ण	: 2 ग्राम
वचा चूर्ण	: 2 ग्राम
उष्णोदक से	1×2 मात्रा
6. छागलाद्य घृत	: 20 मि.ली.
दशमूल घृत	: 20 मि.ली.
दुग्ध से	1×2 मात्रा
7. भोजनोत्तर	
अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

8. पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
बल्य, बृंहण, मधुर, शीतल, पदार्थ, द्राक्षा, आर्द्रक, आमलकी, पुनर्नवा, हरीतकी, शिग्रु, बथुआ, पपीता, दुग्ध, घृत एवं कृशरा इत्यादि।	शीतल एवं शान्त वातावरण, कम प्रकाश वाले स्थान में शयन एवं मनोरम स्थल इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
कटु, रुक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, विष्टम्भी, पर्युसित आहार का अति सेवन, विषम आहार, अत्यधिक तैल, पिण्याक, लवण, चावल, माष एवं मिष्ठान।	उष्ण आवरण, धूप सेवन, प्रकाश युक्त स्थान में शयन एवं शोरगुल इत्यादि।

1. स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्रा-
हतवेगमुपक्रमेत्, वातव्याधि चिकित्सितम्
चावेक्षेत, रसाकर्म च [illegible] (सु.चि. 5/18)

Latest Developments

Tetanus

Definition

Tetanus is caused by a powerful toxin (Tetanospasmin) produced by strains of Clostridium tetani when introduced into the tissues. The disease is characterized by muscular spasm and rigidity.

Pathogenesis

The toxins travel up local motor axons from the site of infection, causing local Tetanus and spread through blood stream to reach many axons and finally to the C.N.S. Cranial Nerves are usually affected because they are shorter, hence the common initial symptom is lock jaw.

Predisposing factors

Predisposing factors of Tetanus are mostly wounds which are contaminated with soil, metal, wood, calcium salts or bacteria. Spores of Clostridium tetani occur in faeces of hervivorous animals and men.

Signs and Symptoms

Prodromal symptoms of Tetanus are–

(i) Malaise (ii) Fever (iii) Sweating
(iv) Headache (v) Irritability

Main presenting symptoms are Trismus (Lock Jaw) and Dysphagia due to painful rigidity of masseters and muscles of deglutition. Pain and stiffness in the neck and back are also seen.

Management : Principles

The aim of treatment is to neutralize existing toxins before it gains access to the nervous system, reduce further production of toxins, central neuro muscular and autonomic manifestations and sustain the patient until effects of the toxins resolve.

1. **Neutarlization of Unbound toxins**
Use hyperimmune human Antitetanus immunoglobulin 1000-3000 units IM/IV as a single dose.
2. **Reduction of further toxin production**
Use appropriate Antibiotics.
3. **Control of rigidity and Tetanic Seizures**
Tranquilizers, Hypnotics and Sedatives.

46. दण्डापतानक
(ORTHOTONOS)

सामान्य लक्षण[1, 2]

दण्डापतान के लक्षण निम्नलिखित रूप में वर्णित हैं–

1. दण्डक रोग की उत्पत्ति आम दोष एवं वात दोष के कारण होती है (Origin of Dandaka Roga due to Ama Dosha and Vata Dosha)
2. शरीर दण्ड के समान कठोर एवं कड़ा हो जाता है (Hardening of the flexor and extensor muscles of the body)
3. शरीर की सभी चेष्टाएं नष्ट हो जाती हैं (All the activities of body are lost)
4. हाथ, पैर, शिर, पृष्ठ, श्रोणि प्रदेश में स्तम्भ (Stiffness in muscles of hand, feet, head, back and hip regions)

आचार्य चरक ने दण्डापतानक रोग को दण्डक नाम दिया है तथा केवल वात दोष से उत्पन्न रोग माना है जबकि आचार्य वाग्भट एवं सुश्रुत ने दण्डापतानक को आमजन्य या कफजन्य तथा वात से उत्पन्न माना है। वस्तुतः दण्डापतानक एक लक्षण है जो कि अपतानक (Tetanus) की प्रवृद्ध अवस्था में मिलता है।

साध्यासाध्यता[3]

आचार्य चरक एवं वाग्भट ने दण्डापतानक को असाध्य माना है जबकि आचार्य सुश्रुत ने दण्डापतानक को कृच्छ्र साध्य माना है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1.	अभ्यंग	2.	स्नेहन
3.	स्वेदन	4.	तीक्ष्ण नस्य / शिरोविरेचन
5.	सेक	6.	अवगाहन
7.	घृतपान	8.	अनुवासन बस्ति प्रयोग

1. आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्यांङ्गं कफान्वितः।
   असाध्यं हतसर्वेहं दण्डवद् दण्डकं मरुत्।। (अ.हृ.नि. 15/42)
2. पाणिपादशिरः पृष्ठश्रोणिः स्तम्भनाति मारुतः।
   दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः।। (च.चि. 28/51)
3. कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति।
   स दण्डवत्स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः।। (सु.नि. 1/52)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
2.	पंचकर्म चिकित्सा	: स्नेहन, स्वेदन, अनुवासन एवं नस्य का यथोचित प्रयोग
	प्रात	: सायं
3.	मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	त्रैलोक्य चिन्तामणि रस	: 125 मि.ग्रा.
	बृहत वातचिन्तामणि रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	सर्पगन्धा चूर्ण	: 2 ग्राम
	उष्ण जल से	1×2 मात्रा
5.	द्दागलाद्य घृत या	: 20 मि.ली.
	दशमूल धृत	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा
6.	रात्रि में	
	पञ्चसकार चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
7.	अभ्यंग	: महानारायण तैल अथवा प्रसारिणी तैल से
	स्वेदन	: दशमूल क्वाथ
8.	पथ्य सेवन	

47. धनुस्तम्भ
(TETANUS)

परिचय

प्रकुपित वायु यदि शरीर को धनुष के समान टेढ़ा कर दे तो उसे धनुस्तम्भ कहते हैं।

धनुस्तम्भ की इस अवस्था में वस्तुतः केवल संकोचक या केवल प्रसारक पेशियों में ही कड़ापन होता है। वास्तव में यही धनुर्वात का वास्तविक स्वरूप है।

1. धनुस्तुल्य नमद्यस्तु स धनुः स्तम्भसंज्ञकः। (सु.नि. 1/54)

भेद

धनुस्तम्भ दो प्रकार से उत्पन्न होता है–

1. आभ्यान्तरायाम धनुस्तम्भ
2. वाह्यायाम धनुस्तम्भ

आभ्यान्तरायाम धनुस्म्भ की सम्प्राप्ति[1]

(Emprosthotonos)

विभिन्न प्रकार के वात कारक आहार विहार के सेवन करने से प्रकुपित वेगवान वायु जब अंगुलि, गुल्फ, उदर, हृदय तथा गले में संश्रित होकर वहाँ के स्नायु प्रतानों में आक्षेप उत्पन्न करता है तब अन्तरायाम धनुस्तम्भ के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

वात प्रकोपक निदान सेवन

↓

वात दोष प्रकोप

↓

वात का अंगुलि, गुल्फ, उदर, हृदय एवं गले की स्नायु प्रतानों में स्थान संश्रय

↓

अन्तरायाम धनुस्तम्भ

सामान्य लक्षण[2]

1. नेत्रों का स्थिर हो जाना (Fixation of the eye balls)
2. हनु स्तब्धता (Lock jaw)
3. पार्श्व में टूटने के समान पीड़ा (Cracking type of pain in ribs)
4. रोगी कफ का वमन करता है (Vomiting with sputum expectoration)
5. रोगी भीतर की ओर (Internal side) अर्थात् उदर की ओर धनुष के समान झुक जाता है (Emprosthotonos)

वाह्यायाम धनुस्तम्भ की सम्प्राप्ति[3]

वाह्यायाम अर्थात् पृष्ठ भाग की स्नायुओं (कण्डराओं एवं पेशियों) में स्थित वायु कुपित होकर शरीर को जब बाहर (पृष्ठ) की ओर झुका देती है तो उसे वाह्ययायाम (Opisthotonos) कहते हैं।

---

1. अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्।। (सु.नि. 1/55)
2. विष्टाब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः।।
तदाऽऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली। (सु.नि. 1/55-56)
3. वाह्यस्नायुप्रतानस्थो वाह्यायामं करोति च। (सु.नि. 1/57)

सामान्य लक्षण

(i) शरीर पूर्णतः बाहर की ओर झुक जाता है (Extreme hyperextension of neck and spine to a state of rigidity that only heels and vertex touch the bed.)

साध्यसाध्यता[1]

वाह्यायाम में वक्ष, उरु एवं कटि का भञ्जन हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. अन्तरायाम एवं वाह्यायाम में अर्दित के समान चिकित्सा करनी चाहिए[2]।
2. आयाम चिकित्सा में नस्य, शिरोऽभ्यंग तथा श्रोत एवं नेत्र का तर्पण करना चाहिए।

असाध्य धनुस्तम्भ के लक्षण[3]

1. रोगी के दाँत और मुख का रंग बदल गया हो (Discolouration of face and teeth)
2. शरीरांग ढीले पड़ गये हों (Decreased muscular tone)
3. चेतना शक्ति नष्ट हो गई हो (Loss of consciousness)
4. पसीना आता हो (Sweating),

इन लक्षणों से युक्त धनुस्तम्भ का रोगी दस दिन से अधिक जीवित नहीं रहता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. महानारायण तैल का पान एवं नस्य
3. हिमांशु तैल, विष्णु तैल अथवा शतधौत घृत से शिर का अभ्यंग
4. दशमूलादि क्वाथ से निरुह बस्ति
5. महानारायण तैल से अनुवासन बस्ति
6. सर्वशरीर पर प्रसारिणी तैल या माष तैल अभ्यंग

	प्रात	: सायं
7.	वातकुलान्तक रस	: 125 मि.ग्रा.
	स्वर्ण समीरपन्नग रस	: 125 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा

---

1. तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः कट्यूरु भञ्जनम्।। (सु.नि. 1/57)
2. वाह्यायामेऽन्तरायामे विधेयाऽर्दितवत्क्रिया।। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 24/186)
3. विवर्णदन्तवदनः स्रस्तांगो नष्टचेतनः।
प्रस्विद्यंश्च धनुः स्तम्भी दशरात्रं न जीवति।। (अ.हृ.चि. 21/39)

8.	भोजनोत्तर	
	दशमूलारिष्ट या बलारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
9.	महायोगराजगुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	: 125 मि.ग्रा.
	मुक्ता पिष्टी	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
10.	छागलाद्य घृत	: 20 मि.ली.
	गो दुग्ध से	1×2 मात्रा
11.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 मात्र
12.	पथ्य सेवन	

48. वातरक्त

(GOUT)

परिचय

वातरक्त व्याधि का वर्णन प्राय: आयुर्वेद के सभी संहिता ग्रन्थों में मिलता है। वातरक्त रोग में मुख्य रूप से वात एवं रक्त की दुष्टि होती है। वातरक्त में वात दोष की प्रबलता के कारण ही रक्त की दुष्टि होती है। वातरक्त में रसवह तथा रक्तवह स्रोतस की दुष्टि प्रमुखता से मिलती है। कुष्ठ एवं विसर्प आदि व्याधियों में भी रक्त की दुष्टि होती है लेकिन इनमें वात दोष की प्रबलता नहीं होती है। अत: वातव्याधि के अन्तर्गत कुष्ठ एवं विसर्प को नहीं माना जाता है। रक्तगत वात का वर्णन भी वात व्याधि चिकित्सा में मिलता है लेकिन रक्तगत वात में केवल वात की ही दुष्टि होती है रक्त की नहीं, जबकि वातरक्त में वात एवं रक्त दोनों ही दूषित होते हैं। सम्भवत: रक्त दुष्टि की विशेषता के कारण ही आचार्य चरक ने वातरक्त का वर्णन विस्तृत रूप से अलग अध्याय में किया है।

वायु विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होकर रक्त को दूषित कर जो रोग उत्पन्न करती है उसे वातरक्त रोग कहते हैं। वातरक्त, आमवात, सन्धिवात, क्रोष्टुकशीर्ष इत्यादि ऐसे रोग हैं जिनमें सन्धिशूल एक प्रमुख लक्षण होता है। आचार्य सुश्रुत ने वातरक्त को अलग नहीं मानकर इसका वातव्याधि में ही वर्णन किया है। जबकि आचार्य चरक ने वात रोग होने पर भी, निदान की विभिन्नता, दोष एवं दूष्य की

विशेषता को सूचित करने के लिए इसे स्वतन्त्र अध्याय के रूप में वर्णित किया है। आयुर्वेद के कुछ विद्वान वातरक्त एवं रक्तवात को एक ही व्याधि मानने पर बल देते हैं लेकिन ऐसा करना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि वातव्याधि प्रकरण में आचार्य चरक ने रक्तवात का अलग से वर्णन किया है। रक्तवात में प्रकुपित वायु रक्त में प्रवेश करके व्याधि उत्पन्न करती है जबकि वातरक्त में दूषित वायु एवं दूषित रक्त एक साथ रोग को उत्पन्न करते हैं। आचार्य चरक ने 'उत्तान' एवं 'गम्भीर' भेद से दो प्रकार के वातरक्त रोग का उल्लेख किया है लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उत्तान एवं गम्भीर, वातरक्त की दो अवस्थाएं प्रतीत होती हैं। आचार्य वाग्भट ने भी वातरक्त के दो भेद 'उत्तान' एवं 'गम्भीर' का वर्णन किया है। उत्तान वातरक्त के प्रमुख लक्षणों में कण्डू, दाह, वेदना, तोद, स्फुरण, त्वक् विवर्णता आदि लक्षणों का उल्लेख है। आचार्य सुश्रुत ने वातरक्त के उत्तान एवं गम्भीर भेद का वर्णन नहीं किया है लेकिन 'कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढ़ी भवति' कथन के द्वारा स्पष्ट किया है कि वातरक्त कुष्ठ की भाँति उत्तान (त्वचा, मांस में आश्रित) होकर कालान्तर में गम्भीर हो जाता है। अर्थात् यहाँ पर वातरक्त एवं कुष्ठ में भी समानता समझी जा सकती है। गम्भीर वातरक्त में सन्धियों की विकृति प्रधान रूप से मिलती है तथा इसकी तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित 'Gout' रोग से की जाती है। Gout में मुख्यत: शरीर की उपापचय (Metabalism) में विकृति के फलस्वरूप रक्त में Uric Acid की मात्रा बढ़ जाती है। यह बढ़ा हुआ Uric Acid कुछ समय पश्चात Urate Crystal के रूप में संधियों में संग्रहीत होकर, सन्धि शोथ, सन्धि शूल आदि लक्षण उत्पन्न करता है जो वात रक्त से पर्याप्त साम्यता रखता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 29
2. सुश्रुत संहिता निदान स्थान–अध्याय 01
3. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 05
4. अष्टांग हृदय निदान स्थान–अध्याय 16
5. अष्टांग हृदय चिकित्सा स्थान–अध्याय 22
6. माधव निदान–अध्याय 23
7. भावप्रकाश मध्यम खण्ड–अध्याय 29

परिभाषा

वातरक्त रोग एक विशेष प्रकार की व्याधि है जिसमें वात एवं रक्त दोनों की दुष्टि होकर शरीर की छोटी सन्धियों में शोथ एवं शूल की उत्पत्ति होती है तथा आभ्यान्तर एवं वाह्य दोनों ही प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं, इस अवस्था को वातरक्त रोग कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के मत से Uric acid की रक्तगत मात्रा बढ़ जाने पर वह Urate Crystals के रूप में सन्धियों में एकत्र होकर Gout अर्थात् वातरक्त रोग की उत्पत्ति करते हैं।

पर्याय

1. शोणित रोग
2. खुड्ड रोग
3. वातबलास रोग
4. आढ्यवात
5. वातासृक इत्यादि

निदान

संहिता ग्रन्थों में वातरक्त के अनेक प्रकार के निदान वर्णित हैं जिन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. आहारजन्य निदान[1, 2]

(i) अम्ल, लवण, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण पदार्थों का अधिक सेवन।

(ii) क्लिन्न एवं शुष्क जलजीव तथा आनूप मांस का सेवन।

(iii) पिण्याक, मूली, कुलत्थ, उड़द, निष्पाव, शाक, पलल, इक्षु आदि का सेवन।

(iv) दधि, आरनाल, सौवीर, शुक्त, तक्र, सुरा, आसव का अधिक सेवन।

(v) कषाय, कटु, तिक्त, अल्प एवं रुक्ष आहार का अधिक सेवन।

(vi) अभोजन (पूर्णतः भोजन नहीं करना)।

2. विहारजन्य निदान[3, 4]

(i) विरुद्ध भोजन, अजीर्ण में भोजन, अध्यशन।

(ii) क्रोध।

(iii) दिवास्वप्न एवं रात्रि जागरण।

(iv) घोड़ा, ऊँट आदि की सवारी करना (वर्तमान समय में बिना शोकर के स्कूटर, मोटर साइकिल, ट्रैक्टर, जीप आदि की सवारी)।

(v) जल में क्रीड़ा करना, तैरना।

(vi) लंघन करना।

(vii) गर्मी के दिन में अधिक पैदल चलना।

(viii) अधिक मैथुन करना।

(ix) अधारणीय वेग को धारण करना।

(x) अभिघात।

1. लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनालसौवीर शुक्ततक्रसुरासवैः॥ (च.चि. 29/5-6)
2. कषाय कटुतिक्ताल्परुक्षाहाराद भोजनात्॥ (च.चि. 29/9)
3. विरुद्धाध्यशनक्रोधादिवास्वप्नप्रजागरैः॥ (च.चि. 29/7)
4. हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनैः।
उष्णेचात्यध्ववषम्याद्व्यवायाद्वेगनिग्रहात्॥ (च.चि. 29/9-10)

3. अन्य निदान[1]

(i) सुकुमार, स्थूल एवं सुखी व्यक्ति (Delicate, Lazy, Obese and easy going persons)

(ii) मिष्ठान_भोजी (High intake of glucose/carbohydrate)

(iii) अचक्रमणशील अर्थात् जो अधिक पैदल न चलते हों (Sedentary life style)

आचार्य चरक के वातरक्त के निदान वर्णन में विशेषता की झलक मिलती है। सर्वप्रथम उन्होंने लवणाम्ल आदि रक्त प्रकोपक निदान बताए हैं तथा अलग से कषाय, कटु आदि वात प्रकोपक निदानों का वर्णन किया है। आचार्य ने रोगी की विशिष्ट प्रकृति का भी उल्लेख किया है जिनमें वातरक्त रोग बहुलता से मिलता है। जैसे सुकुमार एवं अधिक मधुर पदार्थों का सेवन करने वाला व्यक्ति, इसी प्रकार कुछ मानसिक निदान जैसे क्रोध इत्यादि का दिग्दर्शन भी आचार्य चरक ने किया है। सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय, माधव निदान, भाव प्रकाश आदि ग्रन्थों में भी प्रायः चरक के समान ही वातरक्त के निदानों का वर्णन मिलता है।

सम्प्राप्ति[2]

उपरोक्त वर्णित विविध प्रकार के निदान सेवन करने से वात तथा रक्त दोनों की दुष्टि होती है और यह दोनों दूषित वात एवं रक्त सन्धियों में स्थान संश्रय करते हैं जिससे वातरक्त रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

मिथ्याहार विहार एवं अन्य निदान सेवन
↓
वात एवं रक्त की दुष्टि
↓
दूषित रक्त का पादमूल में सञ्चय
↓
वातरक्त

त्वचा एवं मांस में वातरक्त की उत्पत्ति (उत्तान वातरक्त)	सन्धियों में वातरक्त की उत्पत्ति (गम्भीर वातरक्त)

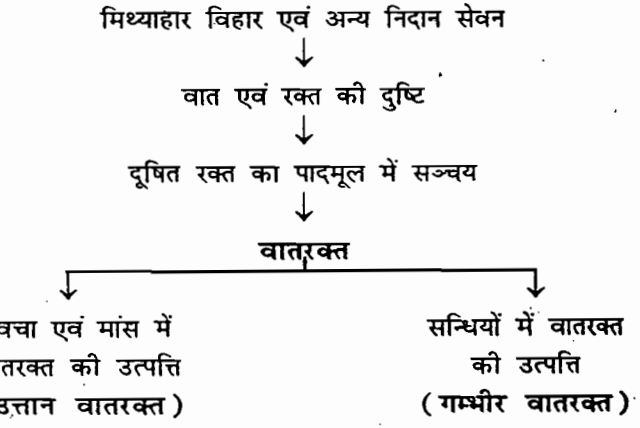

1. प्रायशः सुकुमाराणाम् मिष्टान्नसुखभोजिनाम्।
अचङ्क्रमणशीलानाम् कुप्यते वातशोणितम्॥ (च.चि. 29/7)
2. वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि।
कृत्स्नं संदूषयेद् रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्॥ (च.चि. 29/10)

विशिष्ट सम्प्राप्ति[1]

आचार्य चरक ने वातरक्त की विशेष सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि क्यों वातरक्त सन्धियों में ही आक्रमण करता है। आचार्य चरक के अनुसार वायु सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण सन्धियों में फैलने वाला होता है जबकि रक्त द्रव तथा सभी स्रोतस में फैलने वाला होता है। इन दोनों गुणों से वात एवं रक्त सिरा मार्गों से सम्पूर्ण शरीर में गमन करते हैं। गमन करते हुए सन्धियों के टेढ़े होने से वहाँ वातरक्त की गति में अवरोध होता है तथा वहीं पर स्थान संश्रय करते हुए पित्त आदि दोषों से मिल कर विभिन्न प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सन्धि प्रदेश में रुके हुए दूषित वात एवं रक्त मनुष्य शरीर में अत्यंत वेदना उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

वात का सूक्ष्म गुण + रक्त का द्रव गुण
↓
सिरामार्गों से सर्वशरीर में भ्रमण
↓
सन्धि के टेढ़े होने से स्थानिक स्रोतोवरोध
↓
दूषित वात तथा रक्त का स्थान संश्रय
↓
वातरक्त रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात, कफ
दूष्य	:	रक्त, त्वक्, मांस
अधिष्ठान	:	सन्धि, विशेषत: छोटी संधियाँ, त्वक्, मांस
स्रोतस	:	रक्तवह स्रोतस
स्रोतो दुष्टि लक्षण	:	संग, विमार्गगमन
उत्पत्ति स्थान	:	पक्वाशयोत्थ
व्याधि स्वभाव	:	चिरकारी
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/याप्य

1. सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा।
तद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च देहं गच्छन् सिरायनै:।।
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ता: सृजति वेदना:।।
करोति दु:खं तेष्वेव तस्मात् प्रायेण सन्धिषु।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दु:सहा नृणाम्।। (च.चि. 29/13-15)

पूर्वरुप[1]

1. स्वेद का अधिक निकलना या बिल्कुल नहीं निकलना (Abnormal perspiration)
2. शरीर वर्ण में कृष्णता होना (Hyperpigmentation of skin)
3. स्पर्शाज्ञत्व-स्पर्श ज्ञान का अभाव (Anaesthesia)
4. चोट लगने पर अत्यधिक वेदना की अनुभूति (Feeling of excessive pain on injury)
5. सन्धि शैथिल्य, आलस्य, सदन (Subluxation of joints, laziness, fatigue)
6. पिड़िकोद्भव (Origin of boils / carbuncles)
7. जानु, जंघा, उरु, कटि, अंश, हाथ, पैर एवं सन्धियों में निस्तोद, स्फुरण, भेदनवत पीड़ा, भारीपन, शून्यता एवं कण्डू (Pricking and cutting type of pain, Hyperesthesia and itching in all the joints of upper and lower extremities)
8. सन्धियों में बार-बार शूल (Recurrent joint pains)
9. त्वक् वैवण्य (Altered colour of skin)
10. मण्डलोत्पत्ति (Blisters)

वातरक्त रोग की प्रसरण विधि[2]

वातरक्त रोग प्राय: पैर अथवा हाथों के मूल (अंगुलियाँ, तल या गुल्फ मणिबन्ध) का आश्रय लेकर क्रुद्ध होकर आखोर्विष (मूषक विष) के समान सर्व शरीर में फैल जाता है।

भेद

शास्त्रों में वातरक्त के निम्नलिखित भेद वर्णित किए गए हैं--

I. दो भेद
1. उत्तान वातरक्त (त्वक, मांस स्थित) (Superficial Gout)
2. गम्भीर वातरक्त (सन्धिगत) (Deep Gout)

1. स्वेदोऽत्यर्थं न वा काष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धि शैथिल्यं आलस्यं सदनं पिडिकोद्गम:।।
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोद: स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च।
कण्डू: सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम्।। (च.चि. 29/16-18)
2. पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति।। (सु.नि. 1/48)

II. 8 भेद[1] 1. वातज वातरक्त 2. पित्तज वातरक्त
3. कफज वातरक्त 4. रक्तज वातरक्त
5. वात पित्तज वातरक्त 6. वात कफज वातरक्त
7. कफ पित्तज वातरक्त 8. त्रिदोषज वातरक्त

आचार्य चरक ने वातरक्त के दोषानुसार 8 भेद बताए हैं लेकिन द्वन्दज एवं त्रिदोषज वातरक्त के लक्षणों का वर्णन नहीं किया है क्योंकि द्वन्दज एवं त्रिदोषज वातरक्त प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न होते हैं। अत: उन दोषों के मिश्रित लक्षण ही उनमें पाए जाते हैं।

1. उत्तान वातरक्त के लक्षण[2]

उत्तान वातरक्त के निम्नलिखित लक्षण वर्णित हैं–

(i) त्वचा में कण्डू (Itching on skin)
(ii) दाह (Burning sensation of skin)
(iii) त्वक् रुजा (Superficial pain)
(iv) तोद (सुई चुभोने समान वेदना -Pricking type of pain)
(v) स्फुरण एवं आकुञ्चन (Tingling and spasm)
(vi) अंगों में टेढ़ापन (Deformities in the organ/body)
(vii) त्वचा में श्यावता या ताम्रवर्णता (Dark or copper colour of skin)

2. गम्भीर वातरक्त के लक्षण[3]

गम्भीर वातरक्त के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं–

(i) स्तब्ध एवं कठोर शोथ (Stiff & hard oedema)
(ii) शोथ के भीतरी भाग में अति पीड़ा (Severe pain in internal part of oedema)
(iii) त्वचा का वर्ण श्याव एवं ताम्र (Dark and copper coloured skin)
(iv) संधियों में दाह, तोद, स्फुरण एवं पाक (Burning, pricking, Tingling sensation and boils in the joints)

वस्तुत: उत्तान वातरक्त ही सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। कालान्तर में चिकित्सा नहीं करने से अथवा उपेक्षा करने से वह गम्भीर वातरक्त में बदल जाता है[4]। उत्तान एवं गम्भीर दोनों प्रकार के वातरक्त एक साथ भी उत्पन्न हो सकते हैं।

1. तत्र वातेऽधिके वा स्याद् रक्तेपित्ते कफेऽपि वा।
संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम्।। (च.चि. 29/24)
2. कण्डूदाहरुगायाम् तोद् स्फुरणकुञ्चनै:।
अन्विता श्यावरक्ता त्वगवाह्यो ताम्रा तथेष्यते।। (च.चि. 29/20)
3. गम्भीरे श्वयथु: स्तब्ध: कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्।
श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान्।। (च.चि. 29/21)
4. द्विविधं वातशोणितं उत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालन्तरेणावगाढी भवति तस्मान्न द्विविधम्।। (सु.चि. 5/3)

भेदानुसार वातरक्त के लक्षण

1. वातज वातरक्त के लक्षण[1]

(i) शिराओं में तनाव (Fullness of veins)
(ii) सन्धियों में शूल, स्फुरण, तोद (Various types of pain in joints)
(iii) सन्धिशोथ (Oedema in joints)
(iv) सन्धि की त्वचा का श्याव वर्ण होना (Dark coloured skin of joints)
(v) शोथ में कभी वृद्धि कभी ह्रास (Intermittent change in oedema over joints)
(vi) धमनी, अंगुलि एवं सन्धियों में सङ्कोच (Spasm in the arteries, fingers and joints)
(vii) अङ्गग्रह एवं वेदना (Stiffness and pain in joints)
(viii) शरीर में आकुञ्चन (Contractures in the body)
(ix) शीतल आहार विहार से द्वेष (Tendency to avoid cold substances)

2. पित्तज वातरक्त के लक्षण[2]

(i) रोगाक्रान्त प्रदेश में विदाह एवं वेदना (Burning and pain in affected body parts)
(ii) मूर्च्छा (Fainting) (iii) स्वेद (Sweating)
(iv) तृष्णा (Excessive thirst) (v) मद (Confusion)
(vi) भ्रम (Vertigo)
(vii) प्रभावित भाग में राग (Redness of affected part)
(viii) पाक (Suppuration)
(ix) भेदनवत पीड़ा (Cutting type of pain)
(x) शोष (Emaciation)

3. कफज वातरक्त के लक्षण[3]

(i) स्तैमित्य (गीले कपड़े से शरीर ढका हुआ प्रतीत होना) (Feeling of being covered with wet cloth)
(ii) गौरव (Heaviness in the body)
(iii) स्निग्धता (Unctuousness in skin) (iv) सुप्ति (Numbness)
(v) मन्द वेदना (Mild pain)

1. विशेषत: सिरायामशूलस्फुरणतोदनम्।
शोथस्य काष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानय:।।
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेशश्चानिलेऽधिके।। (च.चि. 29/25-26)
2. विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रम:।
राग: पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके।। (च.चि. 29/28)
3. स्तैमित्यं गौरवं स्नेह: सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे। (च.चि. 29/29½)

4. रक्तज वातरक्त के लक्षण[1]

(i) वेदनायुक्त रक्तवर्ण का शोथ (Oedema with redness and pain)
(ii) तोद एवं चिमचिमाहट (Pricking type of pain)
(iii) स्निग्ध एवं रुक्ष द्रव्य प्रयोग से स्वेद की शान्ति नहीं होती है (No effect of use of Snigdha and Ruksha medicines)
(iv) कण्डू एवं क्लेद (Itching and Secretions)

द्वन्दज एवं त्रिदोषज वातरक्त के लक्षण[2]

वातरक्त में जब दो दोष मिलकर वातरक्त की उत्पत्ति करते हैं तो यहाँ पर प्रकृतिसमसमवाय अवस्था होने से दोनों दोषों के संयुक्त लक्षण व्यक्त होते हैं। तीनों दोष मिलकर त्रिदोषज या सन्निपातज वातरक्त उत्पन्न करते हैं जिनमें तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण मिलते हैं।

सापेक्ष निदान

आयुर्वेद में अनेकशः व्याधियों का वर्णन मिलता है जिनके कुछ लक्षण वातरक्त से साम्यता रखते हैं। अतः उनमें विभेदक निदान का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतः वातरक्त छोटी सन्धियों से प्रारम्भ होता है तथा शोथ स्थान रक्तिमा युक्त होता है एवं वेदना के वेग आते रहते हैं। व्याधि प्रायः रात्रि में अधिक प्रबल स्वरूप की हो जाती है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर ही वातरक्त का निश्चय किया जाता है। विभेदक निदान के लिए रक्तावृत वात, रक्तगत वात, सिरागत वात आदि व्याधियों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। निम्नलिखित व्याधियों के साथ वातरक्त का सापेक्ष निदान करना चाहिए–

1. रक्तावृत्त वात एवं वातरक्त[3]

रक्तावृत वात का वर्णन आचार्य चरक ने वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में किया है। रक्तावृत वात तथा वातरक्त में दूष्य एवं दोष में समानता होती है। परन्तु रक्तावृत वात में केवल दूषित रक्त द्वारा वात का आवरण होता है जबकि वातरक्त में वात एवं रक्त दोनों की दुष्टि होती है। रक्तावृत वात केवल शुद्ध वात व्याधि है जबकि वात रक्त अपने विशिष्ट निदान, सम्प्राप्ति एवं प्रत्यात्म लक्षण के कारण विशिष्ट व्याधि है।

2. रक्तवात एवं वातरक्त[4]

रक्तवात एवं वातरक्त सम्प्राप्ति भेद से पूर्णतः अलग-अलग अवस्थाएं है।

1. श्वयथुर्पृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरुक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि।। (च.चि. 29/27)
2. हेतु लक्षण संसर्गाद्विद्याद् द्वन्दत्रिदोषजम्।। (च.चि. 29/29½)
3. रक्तावृत्तं सदाहार्तिस्त्वड्मांसान्तरजो भृशम्।
भवंत सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च।। (च.चि. 28/63)
4. रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्र चारुंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चास्रगतेऽनिले।। (च.चि. 28/31)

रक्तवात में केवल वात दुष्टि होती है, रक्त दूषित नहीं होता है। परन्तु वातरक्त में वात एवं रक्त दोनों अलग-अलग अपने विशिष्ट निदान द्वारा एक साथ दूषित होकर वातरक्त रोगोत्पत्ति करते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी रक्तवात की तुलना Hypertension से करते हैं जबकि वातरक्त को Gout माना जाता है।

3. आमवात, उरुस्तम्भ, सन्धिवात, क्रोष्टुकशीर्ष एवं वातरक्त

उपरोक्त सभी व्याधियों में सन्धिशूल एवं सन्धिशोथ प्रमुख लक्षण के रूप में मिलता है। गम्भीर वातरक्त में भी यह लक्षण प्रमुखता से मिलता है। अतः इनमें सापेक्ष निदान करना अति आवश्यक है। आमवात में मुख्यतः रस की दुष्टि मिलती है तथा आमदोष का आधिक्य मिलता है। उरुस्तम्भ में वात, कफ एवं आम दोष का आधिक्य मिलता है तथा लक्षण मुख्यतः उरु(जंघा) प्रदेश में ही होता है। संधिवात में केवल वातदोष प्रकोप होता है जबकि क्रोष्टुकशीर्ष मात्र जानुसन्धि गत होता है। अतः उपरोक्त व्याधियों के दोष दूष्य का विस्तृत अध्ययन करके वातरक्त से सापेक्ष निदान किया जा सकता है।

4. कुष्ठ एवं वातरक्त

कुष्ठ रोग की उत्पत्ति त्रिदोष तथा 4 प्रकार के दूष्य त्वचा, लसीका, रक्त एवं मांस की दुष्टि से होती है[1]। इसे सप्तक भी कहा जाता है। वातरक्त में केवल वात एवं रक्त की ही दुष्टि होती है[2]। अतः दोनों में आसानी से विभेद कर सकते हैं। कुष्ठ रोग में उपरोक्त तीन दोष एवं चार दूष्यों की एक साथ दुष्टि आवश्यक है जबकि वातरक्त में ऐसा नहीं है। कुछ अन्य विभेदक लक्षण निम्न हैं–

1. कुष्ठ रोग को संक्रामक माना गया है जबकि वातरक्त संक्रामक नहीं है। यह मिथ्याहार विहार के कारण एवं सुकुमार तथा मिष्ठान भोजी व्यक्तियों में होता है।
2. कुष्ठ एवं वातरक्त में कुछ निदानों तथा चिकित्सा सिद्धान्तों में भी समानता मिलती है।
3. कुष्ठ के कुछ लक्षण उत्तान वातरक्त के लक्षण जैसे--सुप्ति, कण्डू, मण्डलोत्पत्ति से मिलते हैं।
4. आचार्य सुश्रुत ने 'कुष्ठवदुत्तामं भूत्वा' कहकर वातरक्त एवं कुष्ठ में समानता का संकेत किया है।

1. वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तकं द्रव्यसंग्रहः।। (च.चि. 7/9)
2. वायु र्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि।
कृत्स्नंसन्दूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्। (च.चि. 29/10)

साध्यासाध्यता[1]

1. एक दोष से उत्पन्न नूतन वातरक्त साध्य होता है।
2. दो दोषों से उत्पन्न वातरक्त याप्य होता है।
3. त्रिदोषज एवं उपद्रव युक्त वातरक्त असाध्य होता है।
4. निम्नलिखित लक्षणों वाला वातरक्त भी असाध्य होता है[2]–

(i) आजानु (जो वातरक्त पैर से घुटने तक फैला हो-Spread up to knee)
(ii) स्फुटित (जिस वातरक्त में त्वचा फट गई हो-Cracked skin)
(iii) अभिन्न (जिसमें त्वचा पूर्णरूप से फट गयी हो-Broken skin)
(iv) प्रस्रुत (जिस वातरक्त में त्वचा से स्राव होता हो-Discharging Gout)
(v) उपद्रव युक्त वात रक्त

5. आचार्य चरक ने निम्न लक्षणों से युक्त वातरक्त भी असाध्य माना है[3]–

(i) संप्रस्रावि (व्रण से फूटकर पूय स्राव होना-Pus discharge)
(ii) विवर्ण (Disloured skin)
(iii) स्तब्धता एवं अर्बुद (Complicated by stiffness and tumour)
(iv) अंगों में सङ्कोच उत्पन्न हो गया हो (Constrictions of the muscles body parts)
(v) इन्द्रियों में ताप की उत्पत्ति हो गई हो (Burning in the vital organs)

वातरक्त की असाध्यता का कारण[4]

(i) वायु द्वारा रक्त के मार्ग का अवरोध एवं रक्त की दुष्टि।
(ii) वृद्ध रक्त द्वारा वायु के मार्ग का अवरोध।
(iii) एक के द्वारा दूसरे के मार्गावरोध होने से अत्यधिक वेदना की उत्पत्ति।
(iv) अत्यधिक वेदना के कारण मृत्यु।

उपद्रव[5]

यदि वातरक्त की सम्यक रूप से चिकित्सा नहीं की जाये तो निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। यदि सभी उपद्रव रोगी में मिलते हों तो रोग असाध्य होता

1. एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥ (च.चि. 29/30)
2. आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांस क्षयादिभिः॥ (सु.नि. 1/49)
3. संप्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत्।
वर्जयेच्चैव सङ्कोचकरमिन्द्रियतापनम॥ (च.चि. 29/33)
4. रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरेदसून॥ (च.चि. 29/35)
5. अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः।
मूर्च्छायमदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः॥
हिक्कापाङ्गुल्यविसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः।
अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः॥ (च.चि. 29/31-32)

है। यदि अल्प उपद्रव हों तो याप्य तथा उपद्रव रहित वातरक्त साध्य होता है। प्रमुख उपद्रव निम्न हैं–

1. अस्वप्न (अनिद्रा-Insomnia)	2. अरुचि (Anorexia)
3. श्वास (Dyspnoea)	
4. मांस कोथ (Gangrene of muscles)	
5. शिरोग्रह (Heaviness or Stiffness in Head)	
6. मूर्च्छा (Fainting)	7. मद (Confusion)
8. रुजा (Pain)	9. तृष्णा (Thirst)
10. ज्वर (Fever)	11. मोह (Confusion)
12. कम्प (Tremors)	13. हिक्का (Hiccough)
14. पाङ्गुल्य (Limping from both Legs)	
15. विसर्प (Cellulitis)	16. पाक (Suppuration)
17. तोद (Pricking type of pain)	18. भ्रम (Vertigo)
19. क्लम (Fatigue)	20. अंगुलि वक्रता (Claw hand)
21. स्फोट (Blisters)	22. दाह (Burning)
23. मर्मग्रह (Stiffness of vital organs)	24. अर्बुद (Tumour)

चिकित्सा सिद्धान्त

1. बहिः परिमार्जन चिकित्सा[1]

बहिः परिमार्जन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न विधियों का प्रयोग करते हैं–

(i) आलेप	(ii) अभ्यङ्ग
(iii) परिषेक	(iv) उपनाह

इन 4 विधियों द्वारा विशेषकर उत्तान वातरक्त की चिकित्सा की जाती है।

2. अन्तः परिमार्जन चिकित्सा[2]

अन्तः परिमार्जन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रयोग करवाना चाहिए–

(i) विरेचन
(ii) स्नेहपान
(iii) आस्थापन बस्ति का प्रयोग
(iv) बस्ति प्रयोग वातरक्त की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है[3]।

उपरोक्त विधियों के द्वारा गम्भीर वातरक्त की विशेष चिकित्सा करते हैं।

1. वाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः। (च.चि. 29/43)
2. विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत्। (च.चि. 29/43)
3. न हि बस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्त चिकित्सितम्॥ (च.चि. 30/88)

3. रक्तविस्रावण कर्म

(i) रक्त विस्रावण से पूर्व वातरक्त में सामान्य रूप से स्नेहन क्रिया तत्पश्चात विरेचन कर्म करवाना चाहिए[1]।

(ii) वातरक्त रोग में श्रृंग, जलौका, सूची, अलाबू, प्रच्छान अथवा शिरावेध द्वारा कुपित दोष के अनुसार अथवा रोग के बल के अनुसार रक्त विस्रावण करवाना चाहिए[2]।

I. वात प्रधान वातरक्त का चिकित्सा सिद्धान्त[3]

1. घृत, तैल, वसा, मज्जा का पान एवं अभ्यङ्ग।
2. घृत, तैल, वसा, मज्जा द्वारा अनुवासन बस्ति प्रयोग।
3. उष्ण उपनाह का प्रयोग।

II. पित्त तथा रक्त प्रधान वातरक्त का चिकित्सा सिद्धान्त[4]

1. विरेचन	2. घृतपान
3. दुग्धपान	4. परिषेक
5. अनुवासन बस्ति	6. शीतल एवं दाहशामक प्रलेप

III. कफ प्रधान वातरक्त का चिकित्सा सिद्धान्त[5]

1. मृदु वमन	2. स्नेहन
3. परिषेक	4. मृदु लङ्घन
5. कोष्ण लेप का प्रयोग	

शमन चिकित्सा

वातरक्त रोग में शोधन कर्म के उपरान्त शमन चिकित्सा का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शमन चिकित्सा के लिए निम्नलिखित स्वरूप में औषधि द्रव्यों का युक्ति युक्त प्रयोग करना चाहिए–

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.

अनुपान : मधु

---

1. विरेच्यस्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेह युक्तैर्विरेचनैः।
   रुक्षैर्वामृदुभिः शस्तमसृकद्वस्ति कर्म च॥ (च.चि. 29/41)
2. तत्र मुञ्चेदसृक श्रृंगजलौकः सूच्यलाबुभिः।
   प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम्॥ (च.चि. 29/36)
3. सर्पिस्तैलवसामज्जापानाभ्यञ्जनबस्तिभिः।
   सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत्॥ (च.चि. 29/44)
4. विरेचनैर्घृतक्षीरपानै संकैः सबस्तिभिः।
   शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत्॥ (च.चि. 29/45)
5. वमनमृदुनात्यर्थं स्नेहसंकौ विलंघनम्।
   कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे॥ (च.चि. 29/46)

(i) **वातरक्तान्तक रस : पारद, गन्धक, लौह, अभ्रक**
(ii) **विश्वेश्वर रस : पारद, गन्धक, तुत्थ, वत्सनाभ**
(iii) **ताल भस्म : हरताल**
(iv) **महाताल्लेश्वर रस : हरताल, गन्धक, ताम्रभष्म**
(v) **सर्वेश्वर रस : पारद, गन्धक, अभ्रक, ताम्र, स्वर्ण**
(vi) **रसमाणिक्य रस : हरताल**
(vii) **चन्द्रकला रस : पारद, गन्धक, ताम्र, अभ्रक**
(viii) **आरोग्यवर्धिनी : कुटकी, पारद, गन्धक**
(ix) **पञ्चामृत रस : पारद, गन्धक, टंकण, वत्सनाभ**
(x) **प्रवाल पञ्चामृत रस : प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुक्ति, कर्पद**
(xi) **मुक्ता पिष्टी : मुक्ता**
(xii) **प्रवाल पिष्टी : प्रवाल**

2. चूर्ण

मात्रा : 3-6 ग्राम

अनुपान : कोष्ण जल

(i) निम्बादि चूर्ण : निम्ब, गुडूची, हरीतकी
(ii) मुण्डीतिका चूर्ण : (गोरखमुण्डी) अनुपान–गुडूच्यादि क्वाथ
(iii) निशोथ चूर्ण : (निशोथ), अनुपान–क्षीर
(iv) चोपचिन्यादि चूर्ण : चोपचीनी, अनुपान–गुडूची क्वाथ

3. क्वाथ

मात्रा : 20-40 मि.लि.

अनुपान : जल

(i) पटोलादि क्वाथ : पटोल, कुटकी, शतावरी
(ii) शम्पाकादि क्वाथ : अमलतास गुडूची, पटोल
(iii) एरण्डादि क्वाथ : एरण्ड, वासा, गोक्षुर
(iv) कोकिलाक्षादि क्वाथ : तालमखाना, गुडूची
(v) नवकार्षिक क्वाथ : त्रिफला, निम्ब, मञ्जिष्ठा
(vi) सिंहास्यादि क्वाथ : वासा, लघु पंचमूल गुडूची
(vii) त्रिवृत्तादि क्वाथ : निशोथ, विदारी
(viii) वासादि क्वाथ : वासा, गुडूची, एरण्ड
(ix) अमृतादि क्वाथ : गुडूची, शुण्ठी, धान्यक
(x) दशमूल क्वाथ : वृहती, कण्टकारी, सोनापाठा

4. आसव/अरिष्ट

मात्रा : 20-40 मि.लि.

अनुपान : जल

(i) अमृतारिष्ट : गुडूची, दशमूल, धातकी
(ii) सारिवाद्यासव : सारिवा, मुस्तक, लोध्र
(iii) सारिवाद्यारिष्ट : सारिवा
(iv) खदिरारिष्ट : खदिर, दारुहल्दी, त्रिफला
(v) चन्दनासव : चन्दन, सुगन्धवाला, मुस्तक
(vi) मंजिष्ठाद्यारिष्ट : मंजिष्ठा, गुडूची, भारंगी

5. घृत योग

मात्रा : 15-20 मि.ली.
अनुपान : दुग्ध

(i) गुडूची घृत : गुडूची, गोदुग्ध, गौघृत
(ii) शतावरी घृत : शतावरी, गोघृत
(iii) अमृताद्य घृत : गुडूची, मधुयष्ठी, त्रिफला
(iv) बला घृत : बला, अतिबला, कौंच, शतावरी
(v) जीवनीय घृत : दशमूल, पुनर्नवा, एरण्ड
(vi) पारुषक घृत : त्रायमाण, भूम्यामलकी, काकोली

6. तैल योग

मात्रा : 10-20 मि.ली.
अपुनपान : दुग्ध

(i) गुडूच्यादि तैल : गुडूची, मधुयष्ठी, गम्भारी
(ii) खुड्डाकपद्मक तैल : पद्मक, खस, मधु, हरिद्रा
(iii) नागबला तैल : नागबला, अजाक्षीर
(iv) पिण्ड तैल : मोम, मञ्जिष्ठा, सारिवा
(v) महापिण्ड तैल : सारिवा, सल, मंजिष्ठा, मधुयष्ठि)
(vi) बृहत् गुडूची तैल (गुडूची, जीवनीय गण के द्रव्य)
(vii) विषतिन्दुक तैल : कुपीलु, सहिजन, धतूरा
(viii) रुद्र तैल : पुनर्नवा, हरिद्रा, त्रिफला
(ix) महारुद्र तैल : पुनर्नवा, हरिद्रा, नीम
(x) शतह्वादि तैल : शतपुष्पा, तिल तैल
(xi) मधुपर्ण्यादि तैल : मधुयष्ठि, सौंफ, शतावरी
(xii) सुकुमारक तैल : मधुयष्ठि, खर्जूर, फालसा
(viii) अमृताद्य तैल : गुडूची, मधुयष्ठि, लघुपञ्चमूल
(xiv) महापद्म तैल : कमल, बेंत, मधुयष्ठि

7. गुग्गुलु प्रयोग

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.

अनुपान : उष्णोदक

(i) कैशोर गुग्गुलु : गुग्गुलु, त्रिफला
(ii) पुनर्नवा गुग्गुलु : पुनर्नवा, एरण्ड, गुग्गुलु
(iii) गोक्षुरादि गुग्गुलु : गोक्षुर, गुग्गुलु
(iv) रसाभ्र गुग्गुलु : पारद, गन्धक, लौहभस्म, अभ्रक
(v) अमृता गुग्गुलु : गुडूची, गुग्गुलु, त्रिफला

8. लौह योग

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु

(i) गुडूच्यादि लौह : गुडूची, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद
(ii) पित्तान्तक लौह : पारद, गन्धक, गुडूची, अभ्रक
(iii) लाङ्गल्याद्य लौह : लांगली, त्रिफला, गुग्गुलु

9. स्वरस

मात्रा : 10-20 मि.ली.
अनुपान : जल

(i) गुडूची स्वरस
(ii) भृंगराज स्वरस
(iii) आमलकी स्वरस

10. वाह्य लेप

मात्रा : आवश्यकतानुसार

(i) प्रपौंडरीकाद्य प्रलेप : मंजिष्ठा, दारुहल्दी
(ii) तगरादि प्रलेप : तगर
(iii) तिलादि लेप : तिल, चिरौंजी, मधुयष्ठि
(iv) शतधौत घृत लेप : गौघृत
(v) बलादि लेप : बला, एरण्ड, जीरक, गुडूची

11. एकल औषधियाँ

(i) हरीतकी	(ii) गुडूची	(iii) आमलकी
(iv) निम्ब	(v) पिप्पली	(vi) गुड़
(vii) घृत	(viii) एरण्ड स्नेह	(ix) आरग्वध
(x) अश्वत्थ	(xi) त्रिवृत्त	(xii) भृंगराज
(xiii) शुण्ठी	(xiv) धान्यक	(xv) वासा
(xvi) गोरखमुण्डी	(xvii) शतावरी	(xviii) मधुयष्ठी
(xix) पटोल	(xx) गोक्षुर	(xxi) शिलाजतु
(xxii) कुटकी		

योगासन एवं प्राकृतिक चिकित्सा

वातरक्त रोग में निम्नलिखित योगाभ्यास एवं प्राकृतिक चिकित्सा लाभदायक होती है–

(i) प्राणायाम
(ii) अर्धमत्स्येन्द्रासन
(iii) मयूरासन
(iv) भद्रासन
(v) पद्मासन
(vi) कोष्ण जल से स्नान
(vii) मृत्तिका से मर्दन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. सम्यक पथ्यापथ्य का पालन
3. यथोचित योगाभ्यास/प्राणायाम
4. वाह्य प्रयोगार्थ : अभ्यंग, सेक, लेप, प्रदेह, परिषेक
5. संशोधन : विरेचन, रक्त मोक्षण, अनुवासन एवं निरुह बस्ति का प्रयोग

	प्रातः	सायं
6. वात रक्तान्तक रस	: 125 मि.ग्रा.	
प्रवाल पञ्चामृत	: 250 मि.ग्रा.	
अमृता सत्व	: 250 मि.ग्रा.	
मधु से	1×2 मात्रा	
7. भोजनोत्तर		
चोपचिन्यादि चूर्ण	: 2 ग्राम	
निम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम	
कोष्ण जल से	1×2 मात्रा	
8. कैशोर गुग्गुलु या अमृता गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.	
20 मि.ली. त्रिफला क्वाथ से	1×3 मात्रा	
9. आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.	
गर्म जल से	1×3 मात्रा	
10. भोजनोत्तर		
सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.	
समभाग जल से	1×2 मात्रा	

पथ्यापथ्य

पथ्य[1]

आहार	विहार
पुराना यव, गेहूँ, तिन्नी का चावल, शालि चावल, शाठी चावल, विष्किर एवं प्रतुद वर्ग की पक्षियों का मांसरस, अरहर, चना, मूंग, मसूर, मोठ, मकोय, शतावरी, बथुआ एवं गुडूची इत्यादि।	अभ्यंग, परिषेक, उपनाह, प्रलेप, परिसेचन, सम्यक दिनचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन इत्यादि।

अपथ्य

आहार[2]	विहार[3]
कटु रस युक्त उष्ण, गुरु, कफकारक अन्न का सेवन, लवण एवं अम्ल आहार, मिष्टान्न भोजन, माष, कुलत्थ, निष्पाव, क्षार, आनूप मांस, दधि एवं विरुद्धाहार आदि।	दिवाशयन, धूम या अग्नि सेवन, व्यायाम एवं मैथुन आदि।

Latest Developments

Gout

Definition

Gout is a disorder of Purine metabolism manifested by following features. occurring singly or in combination.

Type

Hyperuricaemia and Gouts are divided into two types.

1. **Hyperuricaemia of metabolic origin**
   This group comprises about 10% cases of Gout which is characterized by over production of uric acid.

---

1. पुराण यवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः।
   भोजनार्थं रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः॥
   आढक्यरचणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः।
   यूषार्थं बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते॥ (च.चि. 29/50-51)
2. माषाः कुलत्था निष्पावाः कलायाः क्षार सेवनम्।
   अम्बुजानूपमांसानि विरुद्धानि दधीनि च॥ (भै.र. 27/203)
3. दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा।
   केवलम् गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत्॥ (च.चि. 29/49)

2. **Hyperuricaemia of Renal Origin**
   About 90% cases of Gout are the result of reduced renal excretion of uric acid.

Signs & Symptoms

(i) The metatarso- phalangeal joints of the great toe is the site of the first attack of acute Gouty Arthritis in 70% of patients.
(ii) Onset may be insidious or sudden.
(iii) The affected joint is hot, red and swollen with shiny overlying skin and dilated veins.
(iv) Joints are painful and tender.
(v) Very acute attacks may be accompanied by fever, leucocytosis, raised ESR and Urate level.
(vi) Anorexia
(vii) Nausea / Vomiting
(viii) Change in mood.

Investigations

(i) Blood Test- TLC, DLC, Hb%, ESR
(ii) Biochemical- S. Uric Acid, S. Creatinine.
(iii) X-ray of the affected part / joint

Management : Principles

(i) Non Steroidal Anti Inflammatory Drugs (NSAIDS)are the drugs of choice.
(ii) Avoid Salicylates and Diureties.
(iii) Colchicine is highly effective but causes vomiting and diarrhoea.

49. उरुस्तम्भ
(MYOPATHIES)

परिचय

उरुस्तम्भ मुख्य रूप से आम की प्रधानता के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधि है। इसमें प्राय: त्रिदोषारब्ध मिलता है, पर वस्तुत: कफ दोष की प्रधानता है एवं दूष्यों में मुख्यत: मेद धातु की दुष्टि प्रधान होती है। उरुस्तम्भ रोग में रसवह एवं रक्तवह स्रोतस की दुष्टि प्रतीत होती है। उरुस्तम्भ एक विशेष प्रकार की व्याधि है। इसका वर्णन आयुर्वेद की सभी संहिता ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य चरक ने उरुस्तम्भ का वर्णन अलग अध्याय के रूप में किया है जबकि आचार्य सुश्रुत ने उरुस्तम्भ का वर्णन महा वातव्याधि चिकित्सा अध्याय में किया है जिसका कारण यह हो सकता है कि

आचार्य सुश्रुत उरुस्तम्भ का वात दोष से आरम्भ होना मानते हैं जबकि आचार्य चरक ने उरुस्तम्भ में कफ दोष की प्रधानता मानी है।

उरुस्तम्भ रोग में रोगी को अपने पैरों को गति देने में कठिनाई होती है क्योंकि उरु प्रदेश अर्थात् जंघा में स्तब्धता हो जाती है जिसके कारण रोगी को अपना पैर भी दूसरे व्यक्ति का पैर प्रतीत होता है। वास्तव में पर्वतीय यात्रा या किसी कठिन चढ़ाई करने के उपरान्त जंघाओं में जिस प्रकार की थकावट की अनुभूति होती है उसी प्रकार की अनुभूति उरुस्तम्भ में भी होती है। रोगी को जङ्घाओं में भारीपन, तोद, स्फुरण, रुक्, सुप्ति एवं गौरव आदि लक्षणों की अनुभूति होती है। आचार्य चरक ने उरुस्तम्भ का उल्लेख सामान्यज एवं नानात्मज दोनों ही प्रकार की वात व्याधियों में किया है, सम्भवत: इसका कारण वात दोष में अन्य दोषों का अनुबन्ध होना है। उरुस्तम्भ व्याधि की तुलना किसी भी आधुनिक व्याधि से करना कठिन है। प्राय: कुछ व्याधियों में लक्षण स्वरूप में या कुछ उपापचय जन्य विकृति में उरुस्तम्भ रोग के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे–मांसपेशीय थकान (Muscular Fatigue) अथवा मांसगत वात (Myopathy) जैसे रोगों से उरुस्तम्भ रोग की तुलना की जा सकती है। मांसपेशियों में Lactic Acid जमा हो जाने पर उरुस्तम्भ के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 27
2. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 05
3. अष्टांग हृदय निदान स्थान–अध्याय 15
4. माधव निदान–अध्याय 24
5. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड–अध्याय 25

परिभाषा[1]

मेद के साथ कफ दोष, वात एवं पित्त को अवरुद्ध कर जब उरु प्रदेश में जाकर उरु को स्थैर्य एवं शैत्य गुणों के कारण स्तम्भित कर देता है तब उस अवस्था को उरुस्तम्भ रोग कहा जाता है। उरुस्तम्भ रोग में अत्यधिक वेदना होती रहती है जिससे रोगी सदैव चिंतित रहता है।

पर्याय–आढ्यवात

निदान[2]

उरुस्तम्भ के निदानों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1. उरु श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु।
   स्तम्भयेत्स्थैर्य शैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः॥ (च.चि. 27/14)
2. स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः।
   द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः॥
   पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः।
   लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः॥ (च.चि. 27/8-9)

1. आहार जन्य निदान

(i) स्निग्ध आहार (Unctuous diet)

(ii) उष्ण आहार (Excessive hot diet)

(iii) गुरु आहार (Heavy meals)

(iv) शीतल आहार (Excessive cold diet)

(v) द्रव आहार (Excessive liquid diet)

(vi) शुष्क आहार (Dry food material)

(vii) दही (Curd)

(viii) दुग्ध (Milk)

(ix) ग्राम्य, आनूप, औदक जीवों का मांस रस

(x) चावल के आटे से बना खाद्य पदार्थ (Food made of rice)

(xi) विकृत मद्य का अधिक सेवन करना (Excessive intake of denatured alcohol)

(xi) स्नेह का अधिक सेवन करना (Excessive intake of fatty diet)

2. विहार जन्य निदान

(i) दिवाशयन (ii) रात्रि जागरण (iii) लङ्घन

(iv) अध्यशन (v) आयास (vi) भय

(vii) वेग धारण

सम्प्राप्ति[1]

विविध प्रकार के निदान सेवन करने से अत्यधिक आम दोष की उत्पत्ति होती है। कोष्ठ में सञ्चित आम दोष मेद के साथ मिलकर वातादि दोषों को अवरुद्ध कर स्वयं भारी होने के कारण अधोगामी शिराओं के द्वारा शीघ्र ही उरु प्रदेश की ओर गमन करता है एवं उरु प्रदेश में स्थान संश्रय करता है। आम एवं कफ दोष से अवरुद्ध वायु अपनी प्राकृत गति नहीं कर पाती है तथा उरु प्रदेश का पूरण करते हुए सक्थि, जंघा, उरु को अविधेय परिस्पन्द अर्थात् रोगी अपनी इच्छानुसार पैरों को इधर-उधर नहीं कर सकता एवं अत्यल्प शक्ति वाला हो जाता है। परिणामत: उरुस्तम्भ रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

1. स्नेहाच्चामं वित्तं कोष्ठे वातादीन्मंदसा सह।
रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरु यात्यधोगैः सिरादिभिः॥
पूरयन साक्थिजङ्घोरु दोषो मेदो बलोत्कटः।
अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम्॥ (च.चि. 27/10-11)

सम्प्राप्ति चक्र

आहार जन्य एवं विहार जन्य निदानों का अत्यधिक सेवन
↓
दोष प्रकोप
↓
मन्दाग्नि
↓
आम दोष उत्पत्ति
↓
मेद एवं कफ द्वारा वात मार्ग का अवरोध
↓
मेद एवं कफ का उरु प्रदेश में सञ्चय
↓
सक्थि, उरु, जंघा की स्तब्धता
↓
उरुस्तम्भ

सम्प्राप्ति घटक

दोष : कफ प्रधान त्रिदोष, आमदोष
दूष्य : रस, मेद
अधिष्ठान : उरु प्रदेश
स्रोतस : रसवह, मेदोवह
स्रोतो दुष्टि लक्षण : संग
उत्पत्ति स्थिति : आमाशयपक्वाशयोत्थ
अग्निस्थिति : अग्निमांद्य
साध्यासाध्यता : नवीन, उपद्रव रहित : साध्य
उपद्रव युक्त : असाध्य

पूर्वरुप[1]

उरुस्तम्भ रोग में निम्नलिखित पूर्वरुप उत्पन्न हो सकते हैं–

1. ध्यान-अत्यधिक चिन्ता (Anxiety)
2. निद्राधिक्य (Excessive Sleep)

1. प्राग्रूपं ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकाज्वराः।
लोमहर्षश्च कर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा॥ (च.चि. 27/15)

3. स्तैमित्य (शरीर का गीले कपड़े से ढका प्रतीत होना-Feeling of being covered with wet cloth)
4. अरुचि (Anorexia)
5. ज्वर (Fever)
6. रोमहर्ष (Horripilation)
7. छर्दि (Nausea / Vomiting)
8. जङ्घा सदन (Stiffness in Calf region)
9. उरु सदन (Stiffness in thigh region)

सामान्य लक्षण[1]

उरुस्तम्भ रोग के निम्न लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं–

1. गौरव (भारीपन-Heaviness in body)
2. आयास (परिश्रम-Fatigue)
3. सङ्कोच (Feeling of contractures in body parts)
4. दाह (Burning)
5. वेदना (Pain)
6. सुप्ति (Numbness)
7. कम्पन (Tremors)
8. भेदनवत पीड़ा (Cutting type of pain)
9. स्फुरण (Throbbing sensation)
10. तोद (Needling sensations)

आचार्य सुश्रुत ने उरुस्तम्भ के निम्न लक्षण वर्णित किये हैं[1]–

1. अंगमर्द (Bodyache)
2. स्तैमित्य (शरीर का गीले कपड़े से ढंका प्रतीत होना-Feeling of body being covered with wet cloth)
3. रोमहर्ष (Horripilation)
4. रुजा (Pain)
5. ज्वर (Fever)
6. निद्राधिक्य (Excessive sleep)
7. स्तब्धता (Stiffness)

1. गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः।
भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून्।। (च.चि. 27/13)
2. तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः।
निद्रयाचार्दितौस्तब्धौशीतलावप्रचेतनौ।।
गुरुकावस्थिरावूरु न स्वावित्र च मन्यते।।
तमूरुस्तम्भमित्याहुरुदयवातमथापरे।। (सु.चि. 5/31-32)

8. शीतलता (Coldness)
9. संज्ञा शून्यता (Coma, Fainting attack)
10. भारीपन (Heaviness)
11. अस्थिरता (Feeling of Unstability)
12. उरु का पराये के समान बोध होना (Feeling of artificial limbs being attached to the body)

सापेक्ष निदान

उरुस्तम्भ का सापेक्ष निदान आमवात, सन्धिवात या वात व्याधियों से किया जा सकता है। सापेक्ष निदान के लिए प्रायः उपशय, अनुपशय का प्रयोग करते हैं क्योंकि उरुस्तम्भ एक मात्र ऐसी व्याधि है जिसमें स्नेहन एवं पंचकर्म चिकित्सा का पूर्णतः निषेध किया गया है।

सर्वाङ्ग स्नेहन का प्रयोग

अनुपशय	उपशय
उरुस्तम्भ एवं आमवात	वातव्याधि, संधिवात
(लक्षणों में वृद्धि)	(लक्षणों का शमन)

आमवात रोग का उसके विशिष्ट चिकित्सकीय लक्षणों से आसानी से निदान कर सकते हैं। अतः उरुस्तम्भ व्याधि का सापेक्ष निदान सरलता से हो जाता है।

साध्यासाध्यता[1]

उरुस्तम्भ व्याधि से पीड़ित व्यक्ति में निम्नलिखित लक्षण उपस्थित होने पर यह रोग असाध्य हो जाता है–

1. पैर में दाह (Burning feet)
2. अरति (बेचैनी-Restlessness)
3. तोंद (सुई चुभोने के समान पीड़ा-Pricking type of pain)
4. शरीर में कंपन (Tremors in the body)

यदि उपरोक्त लक्षण उपस्थित न हों तथा रोग नवीन हो तो वह उरुस्तम्भ साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. स्नेहन कर्म निषेध[2]

स्नेहन एवं अनुवासन बस्ति के निरन्तर प्रयोग से कफ की वृद्धि होती है तथा

1. यदा दाहार्ति तोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
उरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साध्यमेदन्यथा नवम्।। (च.चि. 27/19)
2. वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च।
तस्यास्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम्।। (च.चि. 27/21)

उरु एवं जङ्घा प्रदेश के स्रोतसों में भरा हुआ कफ विरेचन द्वारा नहीं निकाला जा सकता है। अत: उरुस्तम्भ रोग के रोगियों में स्नेहन कर्म नहीं करना चाहिए। स्नेहन का गुण कफ दोष के समानधर्मी होने के कारण यह कफ की वृद्धि करता है जिससे उरुस्तम्भ व्याधि और उग्र हो जाती है।

2. पञ्चकर्म चिकित्सा निषेध[1]

उरुस्तम्भ चिकित्सा में वमन, विरेचन, बस्ति एवं नस्य आदि पंचकर्म चिकित्सा का पूर्णत: निषेध किया गया है। कफस्थान स्थित दोष वमन से, पित्त स्थान दोष विरेचन से एवं वात स्थान स्थित दोषों का बस्ति चिकित्सा द्वारा सम्यक् निर्हरण हो जाता है, परन्तु उरुस्तम्भ रोग में आम एवं कफ दोष उरु प्रदेश में अवस्थित होते हैं। अत: पंचकर्म चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता है। आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अत्यन्त गहराई में रहने वाला जल सुखपूर्वक नहीं निकाला जा सकता है उसी प्रकार उरुस्तम्भ में स्थित दोषों का निर्हरण वमन एवं विरेचन द्वारा नहीं किया जा सकता है।

3. शमन चिकित्सा[2]

सामान्यत: उरुस्तम्भ में कफ एवं आम दोष की अधिकता होती है। अत: इनकी चिकित्सा हेतु निम्न विधियाँ अपनानी चाहिऐं-

(i) क्षपण (दोषों को नष्ट करना) चिकित्सा
(ii) दोषों का शोषण करना।

4. रुक्षण चिकित्सा[3]

उरुस्तम्भ व्याधि में शरीर में रुक्षता की वृद्धि करने के लिए अल्प तैल से सिद्ध निर्लवण शाक, यव, साँवा एवं कोदों का प्रयोग करना चाहिए।

5. विविध क्षार प्रयोग[4] **6. विविध अरिष्ट प्रयोग[4]**

7. मधूदक का प्रयोग[4]

चिकित्सा

I. निदान परिवर्जन

निदान परिवर्जन किसी भी व्याधि की प्रमुख चिकित्सा है। उरुस्तम्भ रोग के जो भी निदान होते हैं उनका परित्याग करने पर व्याधि शांत हो जाती है।

---

1. शक्या न त्वाममेदोभ्याम् स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिता:।
वातस्थाने हि तच्छैत्याद द्वयों स्तम्भाच्च तद्गता:।
न शक्या: सुखमुद्धतु जलं निम्नादित स्थलात्।। (च.चि. 27/23-24)
2. तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा।
युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादभिकत्वात्कफामयां:।। (च.चि. 27/25)
3. सदा रुक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान्।
शाकैरलवणैर्दद्याज्जलतैलोपसाधितै:।। (च.चि 27/26)
4. क्षाराष्टिप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च।
मधूदकस्य पिप्पल्या उरुस्तम्भ विनाशना:।। (च.चि. 27/28)

II. शमन चिकित्सा

उरुस्तम्भ में निम्नलिखित शमन चिकित्सा लाभदायक होती है-

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु

(i) गुञ्जाभद्र रस : पारद, गन्धक, गुञ्जा
(ii) वात गजाङ्कुश रस : पारद, रस सिन्दूर, लौह भस्म
(iii) कुब्ज विनोद रस : पारद, गन्धक, हरताल, वत्सनाभ
(iv) चतुर्मुख रस : पारद, गन्धक, लौह भस्म, अभ्रकभस्म
(v) शंख भस्म : शंख
(vi) प्रवाल भस्म : प्रवाल
(vii) अभ्रक भस्म : अभ्रक
(viii) कपर्द भस्म : कपर्द

2. चूर्ण

मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : कोष्ण जल

(i) त्रिफलादि चूर्ण : त्रिफला, कुटकी, पिप्पलीमू
(ii) षड्धरण चूर्ण : पाठा, इन्द्रयव, चित्रक, कुटकी, हरीतकी, अतीस
(iii) शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण : गुञ्जा, मदनफल, दन्ती
(iv) मूर्वादि चूर्ण : मूर्वा, अतिविषा, कुष्ठ
(v) स्वर्णक्षीर्यादि चूर्ण : स्वर्णक्षीरी, अतिविषा, वचा

3. वटी

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान : कोष्ण जल

(i) गुग्गुलु वटी : गुग्गुलु
(ii) शिलाजतु वटी : शिलाजतु
(iii) गोमूत्रघन वटी : गोमूत्र

4. क्वाथ

मात्रा : 20-30 मि.लि.
अनुपान : जल

(i) रास्नादि क्वाथ : रास्ना, हरीतकी, काली मिर्च, हरिद्रा
(ii) भल्लातकादि क्वाथ : भल्लातक, गुडूची, शुण्टी, हरीतकी
(iii) पिप्पल्यादि क्वाथ : पिप्पली, पिप्पलीमूल, भल्लातक

5. आसव/अरिष्ट

मात्रा : 20–30 मि.ली.

अनुपान : जल

(i) **गण्डीराद्यरिष्ट : गण्डीर**

(ii) **दशमूलारिष्ट : लघुपञ्चमूल, बृहत पञ्चमूल**

(iii) **पिप्पल्यासव : पिप्पली**

6. तैल योग

वाह्यप्रयोगार्थ

मात्रा : आवश्यकतानुसार

(i) कुष्ठाद्य तैल : कुष्ठ, सुगन्धबाला, अश्वगन्धा

(ii) अष्टकट्वर तैल : पिप्पलीमूल, दधि, तक्र

(iii) द्विपञ्चमूलाद्य तैल : दशमूल, त्रिफला, गुडूची

(iv) महासैन्धवाद्य तैल : सैन्धव, कुष्ठ, शुण्ठी

(v) सैन्धवादि तैल : सैन्धव, शुण्ठी, पिप्पलीमूल

(vi) पीलुपर्ण्यादि तैल : पीलुपर्णी, रास्ना, गोक्षुर

7. प्रलेप, लेप, उत्सादन

स्थानिक प्रयोगार्थ

(i) वल्मीक मृत्तिकादि उत्सादन : वल्मीक, करञ्ज, ईंट चूर्ण

(ii) अश्वगन्धादि उत्सादन : अश्वगन्धा

(iii) तर्कार्यादि लेप : जयन्ती, सहिजन, तुलसी

(iv) सर्षप लेप : सर्षप

(v) वत्सकादि लेप : वत्सक, तुलसी, कुष्ठ, अगर

(vi) श्योनाकादि लेप : सोनापाठा, खदिर, बिल्व बृहती

(vii) श्योनाकादि परिषेक : श्योनाक, खदिर, गोक्षुर

(viii) रसोनादि प्रलेप : लहसुन, जीरा, सहिजन

8. एकल औषधि द्रव्य

(i) हरीतकी	(ii) वचा	(iii) गुग्गुलु
(iv) गोमूत्र	(v) यवक्षार	(vi) शिलाजतु
(vii) अश्वगन्धा	(viii) गोक्षुर	(ix) पाठा
(x) शुण्ठी	(xi) सहिजन	(xii) मधु
(xiii) सर्षप	(xiv) पिप्पली	(vx) एरण्ड
(xvi) आमलकी	(xvii) निम्ब	(xviii) अर्क
(xix) आरग्वध	(xx) काकमाची	(xxi) पटोल इत्यादि

III. योगासन

उरुस्तम्भ में निम्न योगासन लाभदायक होते हैं–

(i) **शवासन** (ii) **सुखासन** (iii) **हलासन**

(iv) **पद्मासन** (v) सिद्धासन इत्यादि

IV. प्राकृतिक चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत उरुस्तम्भ रोग में मृत्तिका से उबटन करना एवं आतप स्नान अति लाभदायक होता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. सम्यक पथ्यापथ्य का पालन
3. योगाभ्यास/प्राणायाम/प्राकृतिक चिकित्सा
4. वाह्य प्रयोगार्थ उत्सादन/लेप

	प्रात	: सायं
5.	गुञ्जाभद्र रस	: 125 मि.ग्रा.
	श्रृंग भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
6.	भोजनोत्तर	
	योगराज गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	गोमूत्र से	1×2 मात्रा
7.	षड्धरण चूर्ण	: 3 ग्राम
	त्रिफलादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	उष्णोदक से	1×2 मात्रा
8.	भोजनोत्तर	
	पिप्पल्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
9.	पानार्थ	
	अष्टकट्वर तैल	: 10 मि.ली.
	दुग्ध से	1×2 मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार[1]	विहार[2]
सभी रुक्ष क्रियायें, कोदों, रक्तशालि, यव, कुलत्थ, श्यामाक धान्य, उद्दालक धान्य, सहिजन, करैला, परवल, लहसुन, मकोय, निम्बपत्र, बथुआ, हरीतकी, बैगन, उष्ण जल, अमलतास, पत्रशाक, तिल, तक्र, अरिष्ट, शहद, कटु, तिक्त, कषाय द्रव्य, क्षार एवं गोमूत्र इत्यादि।	व्यायाम, अपनी शक्ति के अनुसार पैदल चलना एवं नदी में धारा के विरुद्ध तैरना इत्यादि।

अपथ्य

आहार[3]	विहार
गुरु, शीत, द्रव, स्निग्ध, असात्म्य भोजन, वमन, विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्षण, स्नेहन, माष, चावल की पीठी एवं बेसन, मैदा के पदार्थ इत्यादि।	दिवाशयन, अल्प श्रम, अतिनिद्रा, अव्यवाय, स्नान नहीं करना एवं अव्यायाम इत्यादि।

Latest Developments

Myopathy

Definition

The term myopathy may be used to define any diease in which the patient's symptoms can be attributed to pathological, biochemical or electrical changes which are occurring in the muscle fibres.

Muscle disorders may be genetically determined or may result from autoimmune disorders, systemic diseases or the effects of a variety of exogenous toxins.

Disorders of voluntary muscles

1. Muscular dystrophy.
2. Metabolic and endocrine myopathy.

1. रुक्षः सर्वविधिः स्वेदः .....।
   .....क्षारसेवा गवाञ्जलम्॥ (भै.र. 28/27-29)
2. व्यायामश्च यथाशक्ति.....।
   .....सेव्यंमूरुस्तम्भविकारिभिः॥ (भै.र. 28/30-31)
3. गुरु शीत द्रवस्निग्ध .....।
   .....न हितं प्राहुरुरुस्तम्भाविकारिणाम्॥ (भै.र. 28/32-33)

3. Inflammatory myopathy.
4. Congenital myopathy.
5. Toxic myopathy.

Diagnosis

Diagnosis is largely clinical depending on recognition of the distribution of affected muscles, the identification of associated signs and symptoms and in many patients a through family history. In some muscular dystrophies a specific genetic anaimoly has been identified, for example in Duchene dystrophy and dystrophia myotonica and this may allow a specific diagnostic marker.

1. Muscular Dystrophy

Progressive muscular dystrophy is a group of hereditary disorders characterized by progressive degeneration of a group of muscles without involvement of the nervous system.

Signs & Symptoms

(i) The wasting and weakness are symmetrical.
(ii) There are no fasciculations.
(iii) Tendon reflexes are preserved until a late stage and there is no sensory loss.
(iv) Differential diagnosis depends on the age at onset, distribution of affected muscles and type of inheritance.

Diagnostic features of Muscular Dystrophy.

Dystrophy	Inheritance	Age at onest	Muscles Affected
1. Duchene	X-Linked recessive	3-10 years	Proximal legs and arms. then general.
2. Limb girdle	Autosomal recessive	10-30 years	Pelvic girdle, shoulder girdle or both
3. Facio-Scapulo-humoral	Autosomal dominant	10-40 years	Facial, shoulder girdle, serratus anterior
4. Distrophia myotonica	Autosomal dominant	Any age 20-60	Temporalis, facial, distal limbs. Myotonia.

Investigations

1. The diagnosis of muscular dystrophy can be confirmed by Electromyography and Muscle biopsy.
2. Creatinine phosphokinase (CPK) is markedly elevated in Duchene muscular dystrophy but is normal or moderately elevated in other types.
3. Distrophia myotonica may be diagnosed by the distribution of muscle weakness and other features.

Management: Principles

1. There is no specific therapy for these conditions, although advise from the physiotherapist and occupational therapist may help the patient to cope up with disability.
2. Genetic counselling is an essential component of management.
3. Use of Corticosteroids like Prednisolone is effective for some time.

2. Metabolic and Endocrine Myopathy

Muscle weakness may develop in a range of metabolic and endocrine disorders and is usually reversible.

Causes

(i) Cause of Acute muscle weakness–

Hyperthyroidism	Hypothyroidism
Hypocalcaemia	Hypercalcaemia

(ii) Causes of Proximal Myopathy

Hyperthyroidism	Hypothyroidism
Cushing's syndrome	Addison's disease.

Signs & Symptoms

(i) Weakness is acute and generalized.
(ii) Hypo & Hyperkalaemia may occur in familial periodic paralysis.
(iii) Muscle pain on exercise.

Management: Principles

(i) Treat the cause.
(ii) Symptomatic management.

3. Toxic Myopathy

A wide variety of drugs may cause disorders of muscles, including Carbenoxolone, Thiazide, Steroids. Alcohol may cause muscle disease in varying form.

Management : Principles

(i) Avoidance of the offending agent.
(ii) Symptomatic management.

4. Congenital Myopathy

This is rare, present in infants with muscular weakness and limpness. Most patients have a slowly progressive disease and there is no specific therapy.

50. आमवात

(RHEUMATOID ARTHRITIS)

परिचय

आमवात एक अत्यन्त कष्टदायक रोग है जो किसी भी आयु के व्यक्ति में हो सकता है। आमवात शब्द आम और वात इन दो शब्दों से मिलकर बना है अर्थात् आमवात व्याधि की उत्पत्ति में आम दोष की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। सामान्यत: अग्निमांद्य जन्य स्थितियों में आम दोष की उत्पत्ति होती है। यह आम दोष रसवह स्रोतस को अवरुद्ध करके श्लेष्म स्थान में आम की और वृद्धि करते हुए आमवात को आतुरीय स्वरूप में व्यक्त करता है। आमवात में प्रधानत: संधिशोथ एवं शूल की स्थिति मिलती है। आमरस की उत्पत्ति अग्निमांद्य से होती है एंवं यह अत्यन्त भयंकर होता है। शरीर की सभी छोटी एवं बड़ी सन्धियाँ प्राय: आक्रान्त हो जाती हैं। आमरस का संचरण सम्भवत: हृदय, धमनियों तथा अनेक प्रकार की रसायनियों के माध्यम से सर्वशरीर में होता है जिसके फलस्वरूप आमरस के सम्पर्क में आने से दोष एवं अनेक प्रकार के दूष्य दूषित होकर प्राय: सर्वप्रकार की सन्धियों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार आमवात रोग की उत्पत्ति में रसवह स्रोतस की प्रधान भूमिका होती है।

आमवात रोग का सुस्पष्ट वर्णन सर्वप्रथम आचार्य माधवकर ने अपनी पुस्तक 'रुग्विनिश्चय' में किया है। इसलिए आमवात को आचार्य माधवकर का मौलिक अवदान माना जाता है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि प्राचीन संहिता ग्रन्थों में आमवात व्याधि का वर्णन नहीं मिलता है, परन्तु आचार्यों ने विभिन्न रोगों के वर्णन के क्रम में आमवात जैसी स्थितियों का स्पष्ट संकेत किया है, जैसे अग्निमांद्य, अजीर्ण, ग्रहणी इत्यादि। कुछ योगों की फलश्रुति में आमवात शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे–शोथ रोगाधिकार में वर्णित कंस हरीतकी की फलश्रुति में आचार्य चरक ने इसे आमवात नाशक भी बताया है[1]। इसी प्रकार पाण्डुरोगाधिकार में वर्णित विशालादि फाण्ट की फलश्रुति में भी आमवात शब्द का प्रयोग हुआ है[2]। वास्तव में आमवात व्याधि की अवधारणा संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध है लेकिन आमवात का विशिष्ट व्याधि के रूप में निर्धारण का श्रेय आचार्य माधवकर को ही जाता है। यह आयुर्वेद की प्रगतिशीलता एवं लगातार अनुसंधान का भी सन्देश देता है। आमवात रोग अपनी प्रवृद्ध अवस्था में अत्यन्त कष्टदायक होता है। स्त्रियों में आमवात की प्रवृत्ति पुरुषों की तुलना में अधिक होती है एवं यह रोग मध्यमावस्था में सर्वाधिक आक्रान्त करता है। आमवात व्याधि साधारणत: पाचन संस्थान की विकृति, पूर्वी वायु का अधिक सेवन, शीतल वातावरण में निवास, पारिवारिक इतिहास, मानसिक तनाव इत्यादि भावों से अधिक उत्पन्न होता है। वर्षा एवं शिशिर ऋतु, प्रात: काल के समय, आकाश में

बादल छाये रहने की अवस्था में रोग के लक्षणों में तीव्र वृद्धि होती है जबकि इसके विपरीत वातावरण में लक्षणों में कमी होती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार आयर्वुद में वर्णित आमवात व्याधि की साम्यता Rheumatoid Arthritis से की जाती है। कुछ विद्वान आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित आमवात ज्वर (Rheumatic fever) की तुलना भी आमवात से करते हैं क्योंकि इसमें सन्धियों में शोथ के साथ-साथ ज्वर, हृद्ग्रह इत्यादि लक्षण भी मिलते हैं। इस प्रकार आमवात व्याधि का वर्णन सर्वप्रथम आचार्य माधवकर से प्रारम्भ होकर बाद के अन्य ग्रन्थों जैसे–वृन्द माधव, वंगसेन, चक्रदत्त, शार्ङ्गधर संहिता, भावप्रकाश, योगरत्नाकर, गदनिग्रह इत्यादि ग्रन्थों में भी आमवात का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान–अध्याय 15
2. माधव निदान–अध्याय 25
3. चक्रदत्त–अध्याय 25
4. शार्ङ्गधर संहिता पूर्वखण्ड–अध्याय 7
5. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड–अध्याय 26
6. भैषज्य रत्नावली–अध्याय 29
7. गद निग्रह–अध्याय 22

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

आमवात शब्द की उत्पत्ति आम और वात इन दो शब्दों से हुई है। आमवात शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है–

1. आमेन सहित: वात: आमवात:
2. आमश्च वातश्च आमवात:

अर्थात आमवात 'आम' एवं 'वात' इन दोनों शब्दों के मिलने से बनता है।

परिभाषा[3]

आमवात व्याधि में आम एवं वात का प्रकोप एक साथ होता है। प्रकुपित आम एवं वात, कोष्ठ, त्रिक प्रदेश एवं सन्धियों में प्रविष्ट हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर को स्तब्ध (Stiffness all over the body) करके आमवात रोग की उत्पत्ति करते हैं।

---

1. कार्श्यमथावातसृगम्लपित्त वैवर्ण्य मूत्रानिलशुक्र दोषान्॥ (च.चि. 12/52)
2. गुल्मान्महामतांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत्॥ (च.चि. 16/62)
3. युगपत्कुपितावन्तस्त्रिक सन्धिप्रवेशकौ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रं आमवात: स उच्यते॥ (मा.नि. 25/5)

निदान[1]

आमवात रोग के प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं–

1. विरुद्धाहार का अधिक समय तक सेवन
2. स्निग्ध भोजन के उपरान्त व्यायाम करना
3. विरुद्ध चेष्टा
4. मन्दाग्नि

उपरोक्त सभी निदान आमदोष की उत्पत्ति एवं वात प्रकोप के प्रमुख कारण हैं। अत: यह सभी आमवात के निदान माने गये हैं। आमदोष की उत्पत्ति में उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

1. असम्यक् आहार
2. वेगावधारण
3. शीतल आहार
4. रुक्ष आहार
5. अत्यन्त गुरु आहार
6. चिरकालीन व्याधि
7. असुखकर शय्या
8. दिवाशयन
9. रात्रि जागरण
10. काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, लज्जा, भय, चिन्ता, शोक, अवसाद, तनाव इत्यादि मानसिक कारण।

वस्तुत: आमवात की उत्पत्ति में अनेक प्रकार के शारीरिक भाव, मानसभाव, वातावरण जन्य कारण एवं ऋतु परिवर्तन जन्य कारण इत्यादि महत्वपूर्ण होते हैं और इस रोग की उत्पत्ति में पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं।

सम्प्राप्ति[2]

आमवात के विविध प्रकार के निदान सेवन से प्राय: तीनों दोषों का प्रकोप होता है जिसके फलस्वरूप अग्निमांद्य एवं अन्तत: आमदोष की उत्पत्ति होती है। यह आमदोष वायु के द्वारा प्रेरित होकर श्लेष्म स्थानों की ओर गमन करता है। आमदोष श्लेष्म स्थान (आमाशय, हृदय, संधियां इत्यादि) में उपस्थित कफ से मिलकर उसे और भी पिच्छिल, विदग्ध एवं विकृत कर देता है। आम दोष अपने विदग्ध गुण के कारण पित्त को दूषित करता है एवं अभिष्यन्दी गुण से स्रोतस को अवरुद्ध करके वायु मार्ग को रोककर वात दोष को भी प्रकुपित कर देता है। यहां से आम दोष विमार्गगमन

---

1. विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा॥ (मा.नि. 25/1)
2. वायुना प्रेरितो ह्याम: श्लेश्मस्थानं प्रधावति।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनी: प्रतिपद्यते॥
वातपित्त कफैर्भूयो दूषित: सोऽन्नजो रस:।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिल:।
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च॥
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽति दारुण:॥ (मा.नि. 25/2-4)

करते हुए, स्रोतसों को दूषित करते हुए शरीर में दौर्बल्य, गौरव, हृदयरोग इत्यादि लक्षणों को उत्पन्न करता है। सन्धि प्रदेशों में सञ्चित आम दोष त्रिक, जानु, मणिबन्ध, कर्पूर एवं अंगुलियों की सन्धियों में स्थानीय लक्षण जैसे शोथ, शूल, स्तब्धता आदि लक्षण उत्पन्न करते हुए समग्र रूप से आमवात व्याधि की उत्पत्ति करता है।

सम्प्राप्ति चक्र

विरुद्धाहार एवं विहार का सेवन
↓
अग्निमांद्य
↓
आम दोष की उत्पत्ति
↓
आम + वात दोष की विकृति
↓
आम एवं वात दोष का श्लेष्म स्थान जैसे–**सन्धि**, हृदय, आमाशय में अवस्थान एवं दोष दूष्य सम्मूर्च्छना
↓
सार्वदैहिक लक्षण जैसे–गौरव दौर्बल्य इत्यादि एवं स्थानीय संधिगत लक्षण जैसे–शोथ, शूल स्तब्धता की उत्पत्ति
↓
आमवात रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	त्रिदोष (विशेषकर वात, आम)
दूष्य	:	रस, रक्त, मांस, स्नायु, कण्डरा, अस्थि, सन्धि
अधिष्ठान	:	सर्व सन्धियाँ
स्रोतस	:	अन्नवह, रसवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन
अग्नि स्थिति	:	अग्निमांद्य
व्याधि स्वभाव	:	आशुकारी/दारुण
सञ्चार स्थान	:	हृदय, धमनियाँ, सन्धियाँ
उद्भव स्थान	:	आमाशय
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/याप्य

भेद

आमवात के भेद दो प्रकार से किये जा सकते हैं–

(i) दोषानुसार आमवात के भेद

आचार्य शार्ङ्गधर ने दोष के आधार पर आमवात के 4 भेद बताए हैं[1]। दूसरी ओर आमवात के भेदों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हुए आचार्य माधवकर ने आमवात की साध्यासाध्यता बताते हुए आमवात के सात भेदों का स्पष्ट संकेत किया है[2]।

1. वात प्रधान
2. पित्त प्रधान
3. कफ प्रधान
4. वातपित्त प्रधान
5. वातकफ प्रधान
6. कफपित्त प्रधान
7. त्रिदोषज आमवात

(ii) लक्षणों के आधार पर आमवात के भेद

1. तीव्रावस्था जन्य आमवात
2. जीर्णावस्था जन्य आमवात

पूर्वरुप

यद्यपि संहिता ग्रन्थों में आमवात के पूर्वरुपों का स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता है परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो आमवात के निम्नलिखित पूर्वरुप प्रकट हो सकते हैं–

1. अग्निमांद्य (Poor Appetite)
2. अङ्गमर्द (Bodyache)
3. हृद्गौरव (Heaviness in cardiac region)
4. लालाप्रसेक (Excessive salivation)
5. शाखाओं में स्तब्धता (Stiffness in extremities)
6. अनिद्रा (Insomnia)
7. रोमहर्ष (Horripilation)
8. आलस्य (Fatigue/Lassitude)

सामान्य लक्षण[3]

आमवात व्याधि में निम्नलिखित सामान्य लक्षण प्रकट हो सकते हैं–

1. अङ्गमर्द (Bodyache)
2. अरुचि (Anorexia)
3. तृष्णा (Excessive thirst)
4. आलस्य (Fatigue/Lassitude)
5. गौरव (Heaviness in body)
6. ज्वर (Fever)
7. आहार का पाचन नहीं होना (Indigestion)
8. शरीर के विभिन्न अंगों में शोथ (Oedema)

---

1. चत्वारश्चामवाताः स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा।
   चतुर्थः सन्निपातेन.....।। (शार्ङ्गधर संहिता, पूर्व खण्ड 7/41)
2. एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
   सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सन्निपातिकः।। (मा.नि. 25/12)
3. अङ्गमर्दोऽरुचिश्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः।
   अपाकः शूनताऽङ्गानां आमवातस्य लक्षणम्।। (मा.नि. 25/6)

9. त्रिक सन्धि के आक्रान्त होने पर सतत् कटिशूल प्रारम्भ होता है तथा रोगी को चलने-फिरने, उठने बैठने में कठिनाई होती है[1] (Low Backache)।

भेदानुसार लक्षण[2]

आचार्य शार्ङ्गधर ने रोग गणना के क्रम में आमवात के 4 भेद किये हैं। आचार्य माधवकर ने आमवात के 7 भेद बतलाकर दोषोल्वणता के आधार पर लक्षणों का वर्णन किया है। आचार्य माधवकर ने द्विदोषज एवं सन्निपातज आमवात के लक्षणों का अलग से वर्णन नहीं किया है क्योंकि यह प्रकृति समसमवाय जन्य होता है।

1. वात प्रधान आमवात के लक्षण

(i) अत्यधिक शूल (Severe Pain)

2. पित्त प्रधान आमवात के लक्षण

(i) अत्यधिक दाह (Burning)

(ii) प्रभावित अंग का रक्त वर्ण होना (Inflammation of affected organ)

(iii) तृष्णा की अधिकता (Excessive Thirst)

3. कफ प्रधान आमवात के लक्षण

(i) शरीर की सन्धियां एवं अन्य अंग गीले कपड़े से ढके हुए प्रतीत होते हैं (Feeling of body being covered by wet cloth)

(ii) शरीर में भारीपन (Heaviness in the body)

(iii) सर्वशरीर में कण्डू (Itching)

4. सन्निपातज आमवात के लक्षण

त्रिदोषज आमवात में तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार द्विदोषज आमवात में दोनों दोषों के सम्मिलित लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षणों के आधार पर आमवात के भेद एवं लक्षण

आमवात अत्यन्त दारुण व्याधि है। आमवात जब सम्पूर्ण रूप से शरीर में व्यक्त होता है तो इसके लक्षण अत्यन्त तीव्र प्रकार के होते हैं। कुछ वर्षों पश्चात व्याधि के जीर्ण हो जाने पर लक्षणों में मन्दता आ जाती है, परन्तु अन्य सन्धिगत विकृतियां अधिक दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

1. तीव्रावस्था अथवा प्रवृद्ध आमवात के लक्षण[3]

आमवात की तीव्रावस्था में निम्नलिखित लक्षण प्रमुखता से मिलते हैं--

1. कट्यां व्यथा भवेन्नित्यं सन्धिषु श्वयथुर्भवेत्।
   उत्थानेऽप्य समर्थत्वामामवातस्य लक्षणम्।। (रस रत्न समुच्चय 21/46)
2. पित्तात्सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम्।
   स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत।। (मा.नि. 25/11)
3. स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्।
   हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु।।
   करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते।
   स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः।।

(i) हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, त्रिक, जानु, उरु की सन्धियों में वेदना एवं शोथ (Pain and inflammation in the joints of Hands, Legs, Ankles, Sacrum, Knees and thighs)

(ii) वृश्चिक दंश के समान वेदना (Pain like scorpion sting)

(iii) अग्निमांद्य (Poor Appetite)

(iv) लालास्राव (Excessive Salivation)

(v) अरुचि (Anorexia)

(vi) गौरव (Heaviness in the body)

(vii) उत्साह में हानि (Lack of interests in surroundings)

(viii) मुख वैरस्यता (Tastelessness in mouth)

(ix) दाह (Burning)

(x) बहुमूत्रता (Polyurea)

(xi) उदर में भारीपन (Heaviness in Abdomen)

(xii) उदर शूल (Pain Abdomen)

(xiii) निद्राविपर्यय (Change in sleeping pattern)

(xiv) तृष्णा (Excessive Thirst)

(xv) छर्दि (Vomiting)

(xvi) भ्रम (Vertigo)

(xvii) मूर्च्छा (Fainting)

(xviii) हृदग्रह (Stiffness in cardiac region)

(xix) विबन्ध (Constipation)

(xx) शरीर में जाड्यता (Stiffness all over body)

(xxi) आन्त्रकूजन (Gargling sound in Abdomen)

(xxii) आनाह (Constipation)

2. आमवात की जीर्णावस्था के लक्षण

आमवात की जीर्णावस्था में सभी लक्षण प्रायः मन्द हो जाते हैं लेकिन उनमें प्रायः स्थायी प्रकार की अस्थि विकृति उत्पन्न हो जाती है। आमवात रोग की जीर्णावस्था में कुछ प्रमुख लक्षण निम्न रूप में प्रकट होते हैं--

(i) अस्थि विकृति (Deformity in bony joints)

जनयंत्सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम्।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम्।
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्रा विपर्ययम्।।
तृट्छर्दिभ्रममूर्च्छांश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम्।
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान्।। (मा.नि. 25/7-10)

(ii) अंगुष्ठ का मणिबन्ध सन्धि की ओर तथा अंगुलियों का बाहर की ओर मुड़ जाना (Ulnar deviation of fingers and radial deviation of thumbs)

(iii) अंगुलियों में वक्रता (Deformities in fingers-spindle shaped fingers)

(iv) मांसपेशी, कण्डरा आदि में शुष्कता एवं स्तब्धता (Dryness and stiffness in muscles and tendons)

सापेक्ष निदान

आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में अनेक प्रकार की सन्धिगत व्याधियों का वर्णन प्राप्त होता है जिनके लक्षण परस्पर मिलते-जुलते हैं। परन्तु बहुशः पायी जाने वाली कुछ प्रमुख व्याधियों जैसे आमवात, वातरक्त, सन्धिवात आदि में सापेक्ष निदान करना अति आवश्यक प्रतीत होता है। इन व्याधियों के विभेदक लक्षण निम्नलिखित हैं–

क्र.सं.	लक्षण	आमवात	सन्धिवात	वातरक्त	क्रोष्टुकशीर्ष
1.	दोष	वात कफ प्रधान त्रिदोषज व्याधि	वात प्रधानता	वात, रक्त प्रधान त्रिदोषज व्याधि	वात, रक्त प्रधान त्रिदोषज व्याधि
2.	दूष्य	रस धातु	रस धातु	रस एवं रक्त धातु	रस एवं रक्त धातु
3.	व्याधि उद्भव	प्रथम छोटी सन्धि, पश्चात बड़ी सन्धि	प्रथम बड़ी सन्धियों में	प्रायः छोटी सन्धियों में	केवल जानु सन्धि में
4.	रुजा एवं शोथ	प्रारम्भ में दोनों लक्षण, जीर्णावस्था में केवल रुजा	केवल सन्धिरुजा	शोथ एवं रुजा दोनों	शोथ, शृंगाल सि समान शोथ एवं रुजा
5.	ज्वर	प्रायः ज्वर	ज्वर नहीं	ज्वर नहीं	ज्वर नहीं,
6.	वेदना का प्रकार	वृश्चिक समान वेदना	सामान्य वेदना	मूषक विष समान वेदना एवं रोग वृद्धि	सन्धिशूल
7.	स्नेहन से लाभ	प्रारम्भ में रोग वृद्धि, जीर्णावस्था में लाभ	लाभ मिलता है	लाभ मिलता है	लाभ मिलता है
8.	रक्तमोक्षण	लाभ नहीं होता	–	लाभ मिलता है	–

साध्यासाध्यता[1]

1. आमवात यदि स्वस्थ एवं बलवान व्यक्ति में, एक दोषज, नवीन एवं अल्प सन्धियों में हो तो वह साध्य होता है।

2. द्विदोषज आमवात याप्य होता है।

3. त्रिदोष प्रकोप से उत्पन्न आमवात, दुर्बल व्यक्ति, सम्पूर्ण सन्धियों में व्याप्त तथा शोथ युक्त होने पर कृच्छ्रसाध्य होता है।

4. प्रधानतः आमवात अत्यन्त कष्टसाध्य होता है तथा एक बार हो जाने पर प्रायः जीवन भर बना रहता है।

5. चिकित्सा करने से कुछ समय तक ठीक रहता है, परन्तु वर्षा ऋतु में या शीतल आहार विहार के प्रयोग से बार-बार आमवात की तीव्र स्वरूप में उत्पत्ति होती रहती है।

उपद्रव

संहिता ग्रन्थों में आमवात के उपद्रवों का अलग से वर्णन प्राप्त नहीं होता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो आचार्य माधव ने आमवात के लक्षणों में हृदय विकृति का उल्लेख किया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में आमवातिक ज्वर (Rheumatic fever) में हृद् विकृति पायी जाती है। यह विकृति प्रायः द्विपत्रक कपाट (Mitral Valve) में होती है तथा Rheumatic fever ठीक हो जाने पर भी बनी रहती है। यह विकृति शल्य क्रिया से ही ठीक होती है। कभी-कभी सम्यक् चिकित्सा के अभाव में रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। आमवात व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति में लम्बे समय तक आमवात रोग से आक्रान्त रहने के पश्चात प्रायः निम्नलिखित उपद्रव दृष्टिगोचर होते हैं–

1. अवसाद (Depression)
2. मानसिक तनाव (Stress)
3. उच्च रक्तदाब (Hypertension)
4. अम्ल पित्त (Hyperacidity)
5. परिणाम शूल (Duodenal Ulcer)
6. अनिद्रा (Insomnia)
7. हृद्रोग (Cardiac disorders)
8. अंग विकृति (Deformities of organs/joints)

1. एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
सर्वदेहचरः शोथः सः कृच्छ्र सान्निपातिकः।। (मा.नि. 25/12)

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

आमवात के रोगियों में निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धान्त प्रयोग किये जाते हैं–

1. लंघन
2. स्वेदन–मुख्यतः नवीन आमवात में रुक्ष बालुका स्वेदन, जीर्ण आमवात में उपनाह इत्यादि।
3. तिक्त एवं कटु रस प्रधान औषधियों का प्रयोग
4. दीपन पाचन चिकित्सा
5. विरेचन/कोष्ठ शुद्धि
6. बस्ति चिकित्सा
7. एरण्ड तैल का प्रयोग[2]

चिकित्सा

आमवात की सम्पूर्ण चिकित्सा को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

I निदान परिवर्जन
II शोधन चिकित्सा
III शमन चिकित्सा
IV योगासन/प्राकृतिक चिकित्सा

I निदान परिवर्जन

निदान परिवर्जन किसी भी व्याधि की चिकित्सा का प्रथम चरण होता है। यदि व्यक्ति व्याधि उत्पादक कारणों का पूर्णतः परित्याग करता है, तो व्याधि का समूल नाश शीघ्रता से होता है। अतः प्रारम्भ में आमवात के जो निदान बताएं गये हैं उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए जैसे–शीतल आहार विहार का परित्याग, वायु सेवन परित्याग, खुले आकाश के नीचे शयन नहीं करना तथा वर्षाऋतु में भीगने से बचना इत्यादि।

II शोधन चिकित्सा

आमवात चिकित्सा में शोधन चिकित्सा का विशेष स्थान है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रक्रियाएं अपनायी जाती हैं–

1. लङ्घन

आमवात में प्रमुख उत्पादक कारण आम को नष्ट करने के लिए सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए। लंघन से आम पाचन हो जाता है तथा अग्नि दीप्ति हो जाती है।

---

1. लङ्घनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च।
विरेचनं स्नेहपानं वस्तयश्चाममारुते॥
सैन्धवाद्येनानुवास्य क्षार वस्तिः प्रशस्यतेः (चक्रदत्त आमवात।)
2. आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः।
निहन्त्यसावंक एव एरण्डस्नेहकेशरी॥ (भै.र. 29/13)

2. विरेचन

अन्नवह स्रोतस में उपस्थित आम दोष के निर्हरण के लिए विरेचन अत्यन्त उत्तम उपाय है। विरेचन के द्वारा अपाच्य अंश तथा आम दोष शरीर से बाहर निकल जाते हैं जिससे व्याधि का शमन हो जाता है। विरेचन के लिए प्रायः एरण्ड तैल का प्रयोग बहुतायत से किया जाता है जिसकी संहिता ग्रन्थों में अत्यन्त प्रशंसा की गई है।

3. बस्ति प्रयोग

यदि लंघन तथा विरेचन से भी आमवात में आम दोष निर्हरण नहीं होता है तो बस्ति चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। विशेषकर क्षार बस्ति आमवात चिकित्सा में अत्यन्त लाभदायक होती है। इस प्रकार शोधन कर्मों के द्वारा आमवात के मूल कारण आमदोष एवं वात दोनों का समूल नाश हो जाता है।

लंघन, पाचन, विरेचन, बस्ति कर्मों की सहायता से कोष्ठगत दोष पूर्णतः शान्त हो जाते हैं। रक्त संवहन में पहुंचे हुए आमदोष तथा सन्धिगत आमदोष को दूर करने के लिए रुक्ष बालुका स्वेदन या लवण पोट्टली का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार शोधन चिकित्सा से दोष निर्हरण कर तत्पश्चात शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

III शमन चिकित्सा

आमवात के चिकित्सा सूत्रों में मुख्यतः तिक्त रस प्रधान द्रव्यों एवं कटु रस प्रधान योगों का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। तिक्त रस विशेषकर आम पाचन के लिए उत्तम होता है जबकि कटु रस मुख्यतः दीपन, पाचन के लिए श्रेष्ठ होता है। आमवात की निराम अवस्था में वाह्य स्नेहन का भी प्रयोग करना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने निराम अवस्था में केवल वातनाशक चिकित्सा करने का निर्देश किया है जबकि सामावस्था में लंघन, पाचन, दीपन, रुक्षस्वेदन, संकर स्वेद एवं शोथ नाशक औषधि द्रव्यों के सेवन का निर्देश किया है[1]। आमवात में मुख्यतः आम दोष की उत्पत्ति नहीं होने देना चाहिए तथा दीपन, पाचन करते रहना चाहिए। आमवात चिकित्सा में निम्नलिखित औषधि योगों का युक्ति पूर्वक प्रयोग करना चाहिए–

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु/कोष्ण जल

(i) आमवातारि रस : पारद, गन्धक, त्रिफला, चित्रक
(ii) आमवातेश्वर रस : पारद, गन्धक, लौह भस्म, ताम्र भस्म
(iii) वातगजेन्द्र रस : अभ्रक भस्म, लौह भस्म, ताम्र, वत्सनाभ, पारद, गन्धक

---

1. नीते निरामतां सामे स्वेदलङ्घनपाचनैः।
रुक्षैश्चालेप सेकाद्यैः कुर्यात्केवलवातनुत्॥ (अ.हृ.चि. 22/50)

(iv) अमृतमञ्जरी रस : शुद्ध हिंगुल, वत्सनाभ विष, पिप्पली, मरिच
(v) आमवातारि वज्र रस : पारस, गंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, अफीम
(vi) वातगजांकुश रस : वत्सनाभ, मुण्डी, रस सिन्दूर
(vii) वातारि रस : पारद, गन्धक, त्रिफला, चित्रक
(viii) रसराज रस : रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, सुवर्ण भस्म, मुक्ता
(ix) ताल सिन्दूर : पारद, गन्धक, संखिया, हरताल
(x) मल्ल सिन्दूर : पारद, गन्धक, संखिया, रसकर्पूर
(xi) शृंग भस्म : श्रृंग
(xii) गोदन्ती भस्म : गोदन्ती
(xiii) वंग भस्म : वंग
(xiv) स्वर्ण भस्म : स्वर्ण
(xv) प्रवाल पञ्चामृत : प्रवाल, कपर्द, मुक्ता, शंख
(xvi) शंख भष्म : शंख
(xvii) मुक्ता पिष्टी : मुक्ता
(xviii) प्रवाल पिष्टी : प्रवाल

2. चूर्ण

मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : कोष्ण जल/मधु

(i) हरीतकी चूर्ण : हरीतकी
(ii) शुष्ठी चूर्ण : शुण्ठी
(iii) पञ्चकोल चूर्ण : पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी
(iv) अमृतादि चूर्ण : गुडूची, शुण्ठी
(v) वैश्वानर चूर्ण : शुण्ठी, हरीतकी, अजमोदा
(vi) अलम्बुषाद्य चूर्ण : लज्जालु गोक्षुर, गुडूची
(vii) हिंग्वादि चूर्ण : हिंगु, चव्य, शुण्ठी
(viii) पथ्यादि चूर्ण : हरीतकी, शुण्ठी
(ix) त्रिवृत्तादि चूर्ण : निशोथ, शुण्ठी, सैन्धव
(x) देवदार्वादि चूर्ण : देवदारु, वचा, मुस्तक
(xi) पुनर्नवादि चूर्ण : पुनर्नवा, गिलोय, शुण्ठी
(xii) त्रिकटु चूर्ण : शुण्ठी, पिप्पली, मरिच
(xiii) नागरादि चूर्ण : शुण्ठी, कुपीलु

3. वटी/मोदक/पिण्ड

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.

अनुपान : मधु, कोष्ण जल

(i) अग्नितुण्डी वटी : कुपीलु, वत्सनाभ, त्रिफला
(ii) संजीवनी वटी : विडंग, शुण्ठी, पिप्पली, वत्सनाभ
(iii) चित्रकादि वटी : चित्रक, त्रिकटु, सज्जीक्षार, यवक्षार
(iv) आमप्रमथिनी वटी : अर्क, गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक
(v) अजमोदादि वटक : अजमोदा, मरिच, पिप्पली
(vi) रसोन पिण्ड : रसोन, हिंगु, यव क्षार
(vii) आमवातारि वटी : पारद, गन्धक, लौह भस्म, ताम्र भस्म
(viii) आमगजसिंह मोदक : शुण्ठी, अजवायन, जीरा, धान्यक

4. लौह योग

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु

(i) त्रिफलादि लौह : त्रिफला, मुस्तक, लौह, गुग्गुलु
(ii) विडंगादि लौह : पारद, गन्धक, अभ्रक, विडंग, लौह
(iii) पंचाननरस लौह : लौह भस्म, अभ्रक भस्म, गुग्गुलु
(iv) नवायस लौह : त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, लौह

5. गुग्गुलु योग

मात्रा : 500-1000 मि.ग्रा.
अनुपान : उष्ण जल, मधु

(i) वातारि गुग्गुलु : एरण्ड तैल, गन्धक, गुग्गुलु
(ii) योगराज गुग्गुलु : चित्रक, पिप्पली मूल, अजवायन
(iii) बृहत योगराज गुग्गुलु : त्रिकटु, त्रिफला, पाठा, सौंफ, गुग्गुलु
(iv) सिंहनाद गुग्गुलु : गुग्गुलु, सर्षप तैल, त्रिफला
(v) व्याधिशार्दूल गुग्गुलु : त्रिफला, त्रिकटु, गुग्गुलु
(vi) शिवा गुग्गुलु : हरीतकी, त्रिफला, विडंग, गन्धक, एरण्ड
(vii) बृहत् सिंहनाद गुग्गुलु : गुग्गुलु, सर्षप तैल, त्रिफला, त्रिकटु
(viii) अमृतादि गुग्गुलु : गुडूची, गुग्गुलु

6. क्वाथ

मात्रा : 20-30 मि.लि.
अनुपान : जल

(i) एरण्डादि क्वाथ : एरण्डमूल, गोक्षुर
(ii) शट्यादि क्वाथ : शटी, शुण्ठी, हरीतकी
(iii) रसोनादि क्वाथ : रसोन, शुण्ठी, निर्गुण्डी
(iv) रास्ना पञ्चक क्वाथ : रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, देवदारु, शुण्ठी

(v) रास्ना सप्तक्व क्वाथ : रास्ना, अमलतास, गोक्षुर, पुनर्नवा
(vi) रास्नादि दशमूलक्वाथ : दशमूल+गुडूची, एरण्ड, रास्ना, शुण्ठी, दारुहरिद्रा
(vii) शुण्ठ्यादि क्वाथ : शुण्ठी, गोक्षुर
(viii) महारास्नादि पाचन क्वाथ : रास्ना, एरण्ड, वासा

7. आसव/अरिष्ट

मात्रा : 20-40 मि.लि.
अनुपान : जल

(i) पुनर्नवारिष्ट : पुनर्नवा, बला, अतिबला
(ii) लोहासव : त्रिफला, त्रिकटु, लौह भस्म
(iii) अमृतारिष्ट : नीम, गुडूची, दशमूल
(iv) दशमूलारिष्ट : दशमूल, चित्रक, पुष्कर मूल

8. घृत

मात्रा : 10-20 मि.लि.
अनुपान : गोदुग्ध/कोष्ण जल

(i) शुण्ठी घृत : शुण्ठी, गोघृत
(ii) शृंगवेराद्य घृत : शुण्ठी, यवक्षार, पिप्पली
(iii) काञ्जिक षट्पल घृत : हिङ्गु, त्रिकटु, गोघृत
(iv) अमृता घृत : गुडूची, गोघृत
(v) पुनर्नवादि घृत : पुनर्नवा, गोघृत

9. तैल

मात्रा : 10-20 मि.लि.
अनुपान : गोदुग्ध/कोष्ण जल
वाह्य/अभ्यान्तर प्रयोगार्थ

(i) एरण्ड तैल : आभ्यान्तर प्रयोगार्थ
(ii) रसोन तैल : रसोन
(iii) प्रसारिणी तैल : प्रसारिणी, एरण्ड तैल
(iv) विजय भैरव तैल अथवा सूत तैल : पारद, गन्धक, हरताल, मनःशिला, तिल तैल
(v) सैन्धवाद्य तैल : सैन्धव, देवदारु, वचा, सर्षप तैल
(vi) बृहत् सैन्धवाद्य तैल : सैन्धव, गजपिप्पली, रास्ना
(vii) द्विपञ्चमूलाद्य तैल : दशमूल, दही, कांजी

विशेष—एरण्ड तैल के अतिरिक्त सभी तैलों का वाह्य प्रयोग करना चाहिए।

10. पाक/अवलेह

मात्रा : 10-20 ग्राम

अनुपान : दुग्ध/कोष्ण जल

(i) एरण्ड पाक : एरण्ड, त्रिकटु, लौह भस्म, अभ्रक भस्म
(ii) रसोन पाक : रसोन
(iii) त्रिकण्टकाद्यावलेह : गोक्षुर, कत्था, लौह भस्म
(iv) अमृत भल्लातक : भल्लातक, गोघृत

11. रसायन प्रयोग

मात्रा : अग्निबल के अनुसार
अनुपान : दुग्ध

(i) गुग्गुलु प्रयोग
(ii) शिलाजतु रसायन
(iii) पिप्पली वर्धमान रसायन
(iv) ब्रह्मरसायन : आमलकी, हरीतकी
(v) च्यवनप्राश रसायन : आमलकी, त्रिकटु, पिप्पली

12. स्वरस

मात्रा : 10-20 मि.लि.
अनुपान : दुग्ध

(i) शेफाली पत्र स्वरस (ii) पुनर्नवा स्वरस
(iii) निर्गुण्डी स्वरस (iv) प्रसारिणी स्वरस
(v) करेला स्वरस इत्यादि

13. एकल औषधियाँ

(i)	एरण्ड स्नेह	(ii)	गुडूची	(iii)	शुण्ठी
(iv)	भल्लातक	(v)	कुचला	(vi)	रसोन
(vii)	निर्गुण्डी	(viii)	रास्ना	(ix)	पुनर्नवा
(x)	पिप्पली	(xi)	गोक्षुर	(xii)	प्रसारिणी
(xiii)	शिलाजतु	(xiv)	गुग्गुलु	(xv)	अश्वगन्धा
(xvi)	शिग्रु	(xvii)	अर्क	(xviii)	पटोल

(xix) निम्ब इत्यादि

14. वाह्य प्रयोगार्थ

मात्रा : आवश्यकतानुसार

(i) दशांग लेप : शिरीष, तगर, मधुयष्ठि, छोटी एला
(ii) हिंस्रादि लेप : हिंस्रा, कण्टकारी, शिग्रु
(iii) शतपुष्पादि लेप : सौंफ, वचा, सहिजन, गोक्षुर
(iv) हरिद्रादि लेप : हरिद्रा, कटु तोरई, सर्षप तैल
(v) निर्गुण्डी पत्र लेप : निर्गुण्डी

IV योगासन/प्राकृतिक चिकित्सा

आमवात से पीड़ित आतुर में नवीन अवस्था में पूर्ण विश्राम लाभदायक होता है। परन्तु लक्षणों में कमी आने के उपरान्त प्रभावित भाग के लिए व्यायाम अवश्य कराना चाहिए। विभिन्न प्रकार के योगासन जैसे–सूर्य नमस्कार, हलासन, वज्रासन, पद्मासन, सुखासन, प्राणायाम शवासन आदि लाभदायक होते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत उष्ण आतप स्नान, कटिस्नान, उष्ण मृत्तिका से मर्दन इत्यादि क्रियाएं लाभदायक होती हैं।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. कफ एवं आम दोष नाशक उष्ण, रुक्ष, कटुतिक्त रस प्रधान आहार
3. व्यायाम, प्राणायाम, आसन, प्राकृतिक चिकित्सा
4. सामावस्था में रुक्ष स्वेदन, स्नेहन का निषेध
5. निरामावस्था में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, बस्ति कर्म प्रयोग।

	प्रात	: सायं
6.	पञ्चकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	आमवातारि रस	: 125 मि.ग्रा.
	रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
	मधु से	1×2 मात्रा
7.	सिंहनाद गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	उष्ण जल से	1×2 मात्रा
8.	भोजनोत्तर	
	रास्नापञ्चक क्वाथ	: 20 मि.ली.
	एरण्ड स्नेह	: 20 मि.ली.
		1×2 मात्रा
9.	एरण्ड पाक	: 15 ग्राम
	जल से	1×2 मात्रा

10. (i) सैन्धवादि तैल या महाविषगर्भ तैल से स्थानिक अभ्यंग
    (ii) दशमूल क्वाथ से स्वेदन (स्थानिक/सर्वशरीर गत)
11. सत्वावजय चिकित्सा

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार[1, 2]

पञ्चकोल सिद्ध जल, बथुआ, निम्ब शाक, पुनर्नवा शाक, परवल, करेला, जौ, पुराण शालि, शाठी चावल, कुलत्थ यूष, मटर एवं चने का यूष, जांगल मांसरस, तक्र, एरण्ड स्नेह, लहसुन, बैगन, सहिजन, उष्ण जल, अर्क, विधारा, गोमूत्र एवं आर्द्रक इत्यादि।

विहार[3]

रुक्ष स्वेदन, लंघन, स्नेहपान, बस्ति कर्म, मृदु व्यायाम एवं उष्ण वस्त्र इत्यादि।

अपथ्य

आहार[4]

दधि, मत्स्य, गुड़, दुग्ध, उड़द, दूषित जल, विरुद्ध भोजन, असात्म्य आहार, आनूप मांस रस, गुरु एवं मधुर आहार आदि।

विहार[5]

दूषित जल, पूर्वी वायु, वर्षा ऋतु, वेगधारण, रात्रि जागरण, चिन्ता, शोक, आलस्य एवं दिवाशयन इत्यादि।

Latest Developments

Rheumatoid Arthritis

Definition

Rheumatoid Arthritis is a multi system disease of unknown specific cause. Though the most prominent manifestation of Rheumatoid Arthritis is inflammatory Arthritis of the peripheral joints usually with a symmetrical distribution. There is synovial inflammation to cause cartilage destruction and erosion which produces changes in the joints.

---

1. आमवाताभि भूताय पिडिताय..................।
   ....आमवात हितं च यत्।। (भै.र. 29/2-7)
2. अब्दोत्पन्ना: शालियावकुलत्थ.. ....।
   ....स्युरामवातार्थयने हितानि।। (भै.र. 29/32-34)
3. रुक्ष: स्वेदो लङ्घनं स्नेहपानं बस्तिर्विरेचनं पायुवर्ति:।। (भै.र. 29/232)
4. दधिमत्स्यगुड़क्षीरोपोदिकामाषपिष्टकान्।। (भै.र. 29/235)
5. दुष्टनीर पूर्ववातं विरुद्धान्यशनानि च।
   असात्म्यवेगरोधञ्च जागरं विषमाशनम्।। (भै.र. 29/235)

Aetiology

Exact cause is unknown. Following factors play important role-

(i) Immunological factors.
(ii) Presence of an abnormal immunoglobulin in the serum known as Rheumatoid factor.
(iii) Genetic influence.
(iv) Trauma.
(v) Psychological factors.
(vi) Hormonal factors – Incidence of Rheumatoid Arthritis is more common before menopause and remission of R.A. during pregnancy is well known.
(vii) Low economic status.
(viii) Infectious Agents-Mycoplasma, various viruses like Epstein bar virus (EBV), Cytomegalovirus (CMV) and Rubella virus.

Signs & Symptoms

(i) R.A. is a chronic poly arthritis. It begins with fatigue, anorexia, generalised weakness and musculoskeletol symptoms.
(ii) Womens are more commonly affected than men in ratio of 3:1.
(iii) Pain, swelling & tenderness of the joints.
(iv) Morning stiffness.
(v) Synovial inflammation causes swelling, tenderness and limitations of movements.
(vi) Fibrosis or bony ankylosis or soft tissue contractures lead to fixed deformity.
(vii) Arthritis in the fore foot, ankles and subtler joints can produce severe pain with ambulation as well as a number of deformities.
(viii) "Z" deformities, Swan neck deformity, Boutonniere deformities are developed in later stage of disease.
(ix) Rheumatoid nodules.
(x) Muscle Atrophy.
(xi) Rheumatoid vasculitis.

Laboratory Investigations

1. Complete haemogram- Hb%, ESR, TLC, DLC.
2. R.A. factor.
3. C-Reactive protein.
4. A.S.L.O. Titre.
5. Synovial fluid analysis.
6. Radiographic evaluation.

Diagnosis

(According to American College of Rheumatology)

1. Morning stiffness.
2. Arthritis of three or more joint areas.
3. Arthritis of hand joints.

4. Symmetric Arthritis.
5. Rheumatoid nodules.
6. Positive serum Rheumatoid factor.
7. Pain on motion or tenderness.

* Four of seven criteria's are required to classify a patient as having Rheumatoid Arthritis.
* Patients with two or more clinical diagnosis are not excluded.

Differential Diagnosis

1. Osteo Arthritis
2. Gouty Arthritis
3. Suppurative Arthritis
4. Tubercular Arthritis
5. Allergic Arthritis

Goals of Treatment

1. Relief of Pain
2. Reduction of Inflammation
3. Protection of Articular Structure
4. Maintenance of Joint Functions
5. Control of Systemic Involement

Management: Principles

1. Rest to the affected part in acute conditions.
2. Non Steroidal Anti Inflammatory Drugs (NSAIDS)
3. Steroids- Locally, systemic use.
4. Surgical Treatment in complicated cases.
5. Regular exercises.
6. Controlled Diet.

Note : आमवात का वर्णन लेखक की पुस्तक कायचिकित्सा भाग-II में भी देंखे।

अध्याय-2

कुपोषण जन्य विकार

(DISORDERS OF MALNUTRITION)

1. स्थौल्य (मेदोरोग)

(Obesity)

परिचय

स्थौल्य रोग एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याधि है। वर्तमान समय में स्थूलता एक महत्त्वपूर्ण व्याधि के रूप में शहरों में तेजी से व्याप्त हो रहा है। स्थौल्य रोग में मुख्यत: मेदोवह स्रोतस की दुष्टि होती है जिसके कारण मेदोधातु की अतिवृद्धि होती है और यह प्रक्रिया अन्ततः स्थौल्य रोग के रूप में व्यक्त होती है।

मेदोवह स्रोतस के मूल

आचार्य चरक ने मेदोवह स्रोतस के दो मूल वर्णित किये हैं[1]–

(i) वृक्क (ii) वपावहन

सामान्यत: कटि (नितम्ब प्रदेश) औद वपा में मेदोधातु की वृद्धि अत्यधिक होती है। आचार्य सुश्रुत ने भी मेदोवह स्रोतस के दो ही मूल वर्णित किये हैं[2]–

(i) कटि (ii) वृक्क

आचार्यों ने वृक्क को मेदोवह स्रोतस का मूल सम्भवत: वृक्क में अत्यधिक वसा के आवरण के कारण माना है। आचार्य चरक ने "वपावहन" को भी मेदोवह स्रोतस का मूल बताया है। "वपावहन" से कुछ विद्वान अग्न्याशय (Pancreas) का ग्रहण करते हैं। आचार्य गणनाथ सेन ने उदर्याकला (Greater Omentum) को "वपावहन" माना है। सम्भवत: "वपावहन" से उदरगुहा (Abdominal cavity) में संचित वसा (Fat) का ग्रहण किया जा सकता है।

मेदोवह स्रोतस दुष्टि के कारण

आचार्य चरक ने मेदोवह स्रोतस दुष्टि के निम्नलिखित कारण वर्णित किए हैं[3]—

1. मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च। (च.वि 5/8)
2. मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च॥ (सु.शा 9/12)
3. अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्।
   मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥ (च.वि. 5/16)

1. अनेष्टा (अव्यायाम) 2. दिवाशयन
3. मेदोवर्धक आहार सेवन 4. अत्यधिक मद्यपान

मेदोवह स्रोतस दुष्टि से उत्पन्न विकार[1]

मेदोवह स्रोतस दुष्टि होने पर निम्नलिखित प्रमुख विकार उत्पन्न हो सकते हैं—

1. अष्टनिन्दित पुरुष नामक रोग[2]

   अष्टनिन्दित पुरुष रोग निम्न प्रकार हैं—

   (i) अतिदीर्घ पुरुष (ii) अतिह्रस्व पुरुष
   (iii) अतिलोम युक्त पुरुष (iv) बिना लोम वाला पुरुष
   (v) अत्यन्त कृष्ण वर्ण युक्त पुरुष (vi) अत्यन्त गौर वर्ण युक्त पुरुष
   (vii) अतिस्थूल पुरुष (viii) अतिकृश पुरुष
2. प्रमेह रोग के समस्त पूर्वरूप

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार वातावरण जन्य परिवर्तन, जीवनशैली में बदलाव, अत्यधिक वसा युक्त आहार का सेवन, एक स्थान पर बैठकर कार्य करना एवं अन्तः स्रावी ग्रंथियों की विकृति के फलस्वरूप स्थौल्य रोग की उत्पत्ति होती है।

व्याधि परिचय

मेदोधातु एवं मांस धातु की अतिशय एवं अस्वाभाविक वृद्धि के फलस्वरूप मेदोधातु का अतिसंचय एवं मांस धातु की अतिवृद्धि होकर स्थौल्य रोग की उत्पत्ति होती है। आचार्य चरक ने अतिस्थूल की गणना सूत्रस्थान के अष्टौनिन्दितीय अध्याय में की है। आचार्य भावप्रकाश ने मेदो रोग का स्वतन्त्र वर्णन प्रमेह रोग के पश्चात किया है जो दोनों रोगों में साम्यता को दृष्टिगत रखते हुए किया गया प्रतीत होता है। आचार्य चरक ने प्रमेह रोग के दस दूष्य वर्णित किए हैं, उनमें मेद को प्रथम दूष्य माना है। इससे भी स्थौल्य रोग एवं प्रमेह रोग में निकटता परिलक्षित होती है। स्थौल्य रोग में वृद्ध मेदो धातु वायु दोष का मार्गावरोध कर देती है जिससे वात दोष पुनः कोष्ठ में आकर अग्निवृद्धि करता है। फलस्वरूप पुनः पुनः आहार ग्रहण की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है और शरीर की स्थूलता बढ़ती जाती है।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता सूत्रस्थान - अध्याय 21
2. सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान - अध्याय 15
3. अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान - अध्याय 24

1. मेदः संश्रयांस्तु प्रवक्ष्यामहे।
   निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च॥ (च.सू. 28/15)
2. अष्टौपुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा-अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा च, अलोमा च, अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च, अतिकृशश्चेति॥ (च.सू. 21/3)

4. माधवनिदान अध्याय 34
5. भावप्रकाश मध्यमखण्ड चिकित्सा प्रकरण - अध्याय 39

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

स्थौल्य शब्द की निरुक्ति ''स्थूल'' शब्द से हुई है[1]। ''स्थूल'' शब्द संस्कृत के ''स्थूल परिबृंहणे'' से बना है जिसका अर्थ है वृद्धि होना। अत: स्थौल्य शब्द से शरीर की अत्यधिक वृद्धि का भाव ग्रहण उचित रहेगा।

शब्दकल्पद्रुम में शरीर के स्थूल भाव को ''स्थौल्य'' कहा गया है[2]। इस प्रकार ''स्थौल्य'' से शरीर की अत्यधिक वृद्धि का भाव ग्रहण करना चाहिए।

परिभाषा

आचार्य चरक के मतानुसार मेद एवं मांस धातु की अधिक वृद्धि होने से स्फिग् (नितम्ब), उदर एवं स्तन में मेद एवं मांस की अत्यधिक वृद्धि होने से यह अवयव चलते समय हिलते हैं तथा जिस पुरुष के शरीर का गठन एवं उत्साह समुचित नहीं होता है, उसे अतिस्थूल कहा जाता है। उस व्यक्ति की अतिस्थूलता को ही स्थौल्य कहा जाता है[3]।

आचार्य श्रीकण्ठदत्त शास्त्री ने मधुकोश टीका में स्पष्ट किया है कि मेदो धातु दुष्टि के कारण मेदोधातु की अति वृद्धि हो जाती है और इस अवस्था को स्थौल्य कहते हैं[4]। वस्तुत: स्थौल्य वह स्थिति होती है जिसमें वसा का अति संचय होकर स्थौल्य रोगोत्पत्ति होती है।

निदान

संहिता ग्रंथों में स्थौल्य रोग के प्रमुख निदान निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. **आहार जन्य निदान**
   - (i) गुरु, स्निग्ध आहार का अत्यधिक सेवन[5]
   - (ii) अत्यधिक मात्रा में आहार ग्रहण करना[6]
   - (iii) अध्यशन[7] (पूर्व में ग्रहण किये गये भोजन के पाचन से पूर्व ही पुन: भोजन करना)

1. ''स्थूल परिबृंहणे'' चुरादिन्त: प्रचाद्यच स्थूल॥ (अमरकोष 3/1/134)
2. स्थूलस्य भाव: स्थौल्यम् (स्थूल+ष्यञ्) (शब्दकल्पद्रुम)
3. मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलसिकगुदरस्तनः।
   अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते॥ (च.सू. 21/9)
4. मेद: संकीर्तना-मेदोदुष्टेरभिधानं, मेदोदुष्ट्या च स्थौल्यम्॥ (मधुकोश)
5. सादोपलेपबलकृद गुरुस्तर्पण बृंहण: (सु.सू. 46/525)
6. अति संपूरणाद् (च.सू. 21/4)
7. महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पय:। (च.सू. 27/219)

   - (iv) माहिष दुग्ध, घृत आदि का अधिक सेवन[1]
   - (v) पिष्टान्न सेवन[2]
   - (vi) आनूप मांस (विशेषकर मेदस्वी जीवों के मांस का अधिक सेवन)
   - (vii) नवीन अन्न का अतिसेवन
   - (viii) अत्यधिक मदिरा पान
   - (ix) गुड़ एवं गुड़ के विकारों का अधिक सेवन
   - (x) वारुणी मद्य का अति सेवन
2. **विहार जन्य निदान**[3]
   - (i) अव्यायाम (व्यायाम नहीं करना)
   - (ii) दिवास्वप्न
   - (iii) अव्यवाय (मैथुन नहीं करना)
   - (iv) निश्चिन्तता
   - (v) अत्यधिक प्रसन्नता
   - (vi) सुखकारक आसन (गद्दे इत्यादि पर शयन)
   - (vii) अतिनिद्रा
3. **अन्य कारण**
   - (i) सहज एवं कुलज कारण[4]

सम्प्राप्ति[5]

पूर्वोक्त वर्णित विविध प्रकार के निदान सेवन से मेदो धातु की अत्यधिक वृद्धि होकर स्रोतस का अवरोध उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप मेद की अग्रिम धातुओं को समुचित पोषण प्राप्त नहीं होता एवं मार्गावरोध से वायु का प्रकोप भी होता है। यह प्रकुपित वायु पुन: कोष्ठ में प्रवेश कर जाठराग्नि को प्रदीप्त कर आहार का शोषण करती है जिसके परिणाम स्वरूप क्षुधा की अति वृद्धि होकर भुक्त आहार से आहार रस की भी अधिक उत्पत्ति होती है। मेद से मार्गावरोध होने के कारण उत्पन्न आहार रस के द्वारा केवल मेदो धातु का ही निर्माण होता है। मेद धातु के उत्तरोत्तर धातुओं का पोषण एवं निर्माण नहीं

1. अजीर्णाध्यशनं ग्रहण दूषणानां श्रेष्ठम्। (सु.सू. 46/474)
2. पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया या बुभुक्षित:॥ (सु.सू. 46/493)
3. अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविन:। (मा.नि. 34/1)
4. बीजस्वभावादिति स्थूलमातापितृजन्यात्।
   संश्रातिस्थूलस्यसाधारणाद् व्याहारभूरिमेदो जन्माहतस्यहीत्यादि॥
   (च.सू. 21/4 पर चक्रपाणि टीका)
5. मेदसाऽऽवृत्तमार्गात्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातव:। मेदस्तु चीयते तस्मादशक्त: सर्वकर्मशु॥
   क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनै:। युक्त: क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुन:॥
   मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम्। अत एवोदरे वृद्धि: प्रायो मेदस्विनो भवेत्॥
   मेदसाऽऽवृत्तमार्गात्वाद् वायु: कोष्ठे विशेषत:। चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि॥
   (मा.नि. 34/2-5)

होता है। परिणामत: धातु क्षय से वायु का पुन: प्रकोप हो जाता है और जाठराग्नि पुन: प्रदीप्त होती रहती है तथा मेदो धातु के और अधिक निर्माण की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। इस प्रकार सम्पूर्ण आहार द्रव्यों से केवल मेद धातु की अधिक उत्पत्ति होती रहती है और पुरुष स्थूल एवं अतिस्थूल होता रहता है।

सम्प्राप्ति चक्र

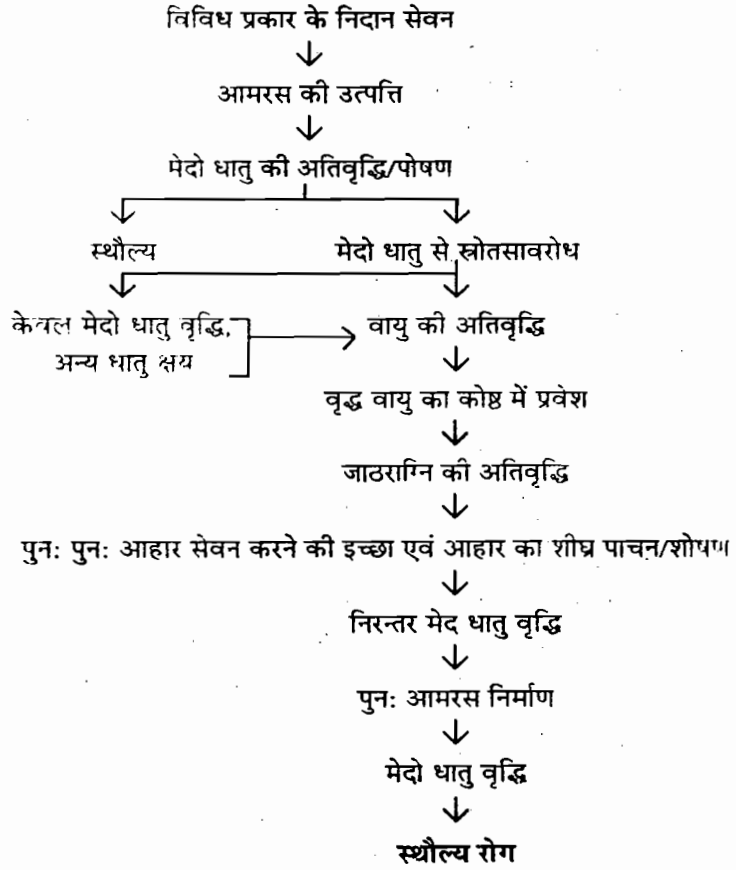

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	त्रिदोष (कफ प्रधान)
दूष्य	:	मेद
अधिष्ठान	:	सर्वशरीर विशेषकर स्फिग, नितम्ब, उदर एवं स्तन
स्रोतस	:	मेदोवह स्रोतस
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, विमार्गगमन

अग्नि स्थिति	:	**प्रारम्भ में अग्निमांद्य, पश्चात में तीक्ष्णाग्नि**
व्याधि स्वभाव	:	**दारुण**
साध्यासाध्यता	:	**कष्ट साध्य/याप्य**

लक्षण

स्थौल्य रोग के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण प्रदर्शित होते हैं[1]—

1. अत्यधिक क्षुधा वृद्धि (Excessive hunger)
2. अत्यधिक तृषा (Excessive thirst)
3. अत्यधिक स्वेद प्रादुर्भाव (Excessive sweating)
4. अल्पश्रम से श्वासकृच्छ्रता (Breathlessness on mild exertion)
5. अधिक निद्रा आना (Excessive sleep)
6. परिश्रम का कार्य करने में कठिनाई (Difficulty to perform heavy work)
7. जाड्यता (Sluggishness)
8. अल्पायु (Short life span)
9. अल्पबल (Decreased body strength)
10. उत्साह हानि (Inertness)
11. शरीर में दुर्गन्ध होना (Foul odour of body)
12. गद्गदत्व (अस्पष्ट भाषण-Rhinorrhoea/Unclear voice)

आचार्य चरक ने स्थौल्य के अंतर्गत निम्नलिखित अष्ट दोष वर्णित किए हैं[2]—

1. आयु का शीघ्र क्षय होना (Short life span)
2. कार्य करने में उत्साह हानि (Inability to work)
3. मैथुन शक्ति ह्रास (Loss of libido)
4. दुर्बलता (Weakness)
5. शरीर में दुर्गन्धता (Foul odour of the body)
6. अत्यधिक स्वेद (Excessive sweating)
7. अत्यधिक क्षुधा वृद्धि (Excessive appetite)
8. अत्यधिक तृषा (Excessive thirst)

---

1. अतिस्थौल्यादतिक्षुतृट्प्रस्वेदश्वासनिद्रता।
आयासाक्षमताजाड्यमल्पायुर्बलवेगता॥
दौर्गन्ध्यं गद्गदत्वं च भवेन्मेदोऽतिपुष्टित:॥ (अ.स.सू. 24/23-24)
2. अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जवापरोध:
कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाध:
क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषा:। (च.सू. 21/4)

सापेक्ष निदान

स्थौल्य रोग प्राय: सम्पन्न व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है क्योंकि यह लोग प्राय: आवश्यकता से अधिक गरिष्ठ आहार द्रव्यों एवं अधिक कैलोरी का सेवन करते हैं। फलस्वरूप स्थूलता से ग्रस्त हो जाते हैं। स्थौल्य रोग चिकित्सा करते समय उसके वास्तविक कारणों को जाननें का प्रयत्न करना चाहिए।

निम्नलिखित स्थितियाँ प्राय: स्थूलता उत्पन्न करती हैं—

1. *जीवनीय तत्वों की कमी*
2. *अन्त: स्रावी ग्रंथियों की विकृतियाँ*
3. कुपोषण
4. मधुमेह
5. उच्च रक्तचाप

सापेक्ष निदान करके ही त्रिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए अन्यथा अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

साध्यासाध्यता

मेदोधातु की अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण वातादि दोष अत्यधिक प्रकुपित होकर भयंकर उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं तथा कभी-कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती है।

यदि स्थौल्य रोगी कफज प्रकृति का है तो व्याधि कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य होती है। अन्त:स्रावी ग्रंथियों की विकृति से उत्पन्न स्थूलता भी प्राय: कृच्छ्रसाध्य होती है। माता-पिता के बीज दोष से उत्पन्न स्थौल्य प्राय: असाध्य होता है।

यदि रोगी बलवान, नियम-संयम से रहने वाला, चिकित्सक के निर्देशों का समुचित पालन करने वाला तथा अपने आहार विहार पर प्रभावी नियंत्रण रखने वाला एवं उत्तम आत्मबल से युक्त हो तो ऐसी स्थिति में स्थौल्य रोग साध्य होता है।

उपद्रव[1]

स्थौल्य रोग की आवश्यकतानुसार समुचित चिकित्सा नहीं करने पर अत्यन्त दारुण उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं जो प्राय: असाध्य होते हैं। योगरत्नाकर में स्थौल्य रोग के निम्नलिखित उपद्रवों का वर्णन प्राप्त होता है—

1.	विसर्प (Erysepellas)	2.	भगन्दर (Fistula in Ano)
3.	ज्वर (Fever)	4.	अतिसार (Diarrhoea)
5.	मेह अथवा प्रमेह (Diabetes)	6.	अर्श (Piles)
7.	श्लीपद (Filariasis)	8.	अपची (Glands)
9.	कामला (Jaundice)		

1. स्थूले स्युर्दुस्तरा रोगा विसर्पा: सभगन्दरा:। ज्वरातिसारमेहार्शः श्लीपदापच्चीकामला: ॥ (यो.र. मेदोरोग/8)

आचार्य सुश्रुत ने प्रमेह पिड़का विद्रधि एवं वातविकार को भी स्थौल्य रोग का उपद्रव माना है[1]।

चिकित्सा सिद्धांत[2, 3]

स्थौल्य रोग में निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धांत उपयोगी रहते हैं—

1. निदान परिवर्जन
2. कर्षण, गुरु अपतर्पण चिकित्सा
3. संशोधन चिकित्सा
4. संशमन चिकित्सा
   - (i) शारीरिक एवं मानसिक व्यायाम
   - (ii) वात कफ नाशक आहार एवं विहार
   - (iii) मूत्र-पुरीष विरेचनीय औषधि प्रयोग

(1) निदान परिवर्जन

स्थौल्य रोग के समस्त निदान सेवन को धीरे-धीरे कम कर अन्तत: बंद करने से स्थौल्य रोग में महत्वपूर्ण लाभ मिलता है। संतुलित आहार का प्रयोग एवं पर्याप्त व्यायाम, चिन्तन, ध्यान इत्यादि से भी स्थौल्य रोग में लाभ होता है। स्थौल्य रोग के निवारण का मूलमंत्र यह है कि व्यक्ति उतनी मात्रा में ही संतुलित आहार एवं विहार का सेवन करे जितना उसके शरीर के लिए आवश्यक है। अतिरिक्त मेदो धातु को कम करने के लिए समुचित एवं नियमित व्यायाम करना अत्यावश्यक है। कर्षण एवं गुरु अपतर्पण प्रधान चिकित्सा स्थौल्य के रोगी में विशेष लाभकारी रहती है।

(2) संशोधन चिकित्सा

संशोधन चिकित्सा के अंतर्गत निम्नलिखित चिकित्सा स्थौल्य रोगी के लिए विशेष उपयोगी रहती है—

(i) वमन (ii) विरेचन
(iii) निरुह बस्ति प्रयोग (iv) कर्षण नस्य प्रयोग

(3) संशमन चिकित्सा

संशमन चिकित्सा के अंतर्गत निम्न औषध द्रव्यों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है—

1. **रस/भस्म/पिष्टी**

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : शहद

1. प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतम्। (सु.सू. 15/37)
2. सततं चोपचर्यौ हिकर्षणैरपि:। (च.सू. 21/16)
3. गुरुचापर्तणं चेष्टं स्थूलानां कर्षनं प्रति। (च.सू. 21/20)

(i) पारद भस्म : पारद
(ii) त्रिमूर्ति रस : पारद, गंधक, लौह भस्म
(iii) वडवाग्नि रस : पारद, गंधक, ताम्र भस्म, हरताल भस्म

2. वटी

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान : शहद/उष्णोदक
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी : पारद, गंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, कुटकी
(ii) भेदनी वटी : गोक्षुर, स्नुही, पिप्पली
(iii) कुटकी वटी : कुटकी

3. चूर्ण

मात्रा : 3-6 ग्राम
अनुपान : शहद/उष्णोदक
(i) त्रिफला चूर्ण : हरीतकी, विभीतकी, आमलकी
(ii) वचा चूर्ण : वचा
(iii) पुष्कर मूल चूर्ण : पुष्कर मूल
(iv) त्रिकटु चूर्ण : शुण्ठी, पिप्पली, मरिच
(v) फलत्रिकादि चूर्ण : त्रिफला, त्रिकटु
अनुपान : तैल एवं लवण
(vi) गुडूच्यादि चूर्ण : गुडूची, नागरमोथा, त्रिफला
अनुपान : शहद/तक्रारिष्ट
(vii) विडंगादि चूर्ण : विडंग, यवक्षार, लौहभस्म, आवंला।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट

मात्रा : 20-30 मि.लि.
अनुपान : समभाग जल
(i) मुस्तादि क्वाथ : नागरमोथा, त्रिफला, हरिद्रा, देवदारु, मूर्वा, इंद्रवारुणी, लोध्र
(ii) अग्निमन्थ क्वाथ : अग्निमंथ
(iii) बृहत् पञ्चमूल क्वाथ : श्योनाक, बिल्व, पाटला, गम्भारी, अग्निमंथ
(iv) महामंजिष्ठादि क्वाथ : मंजिष्ठा, कुटज, गुडूची, मुस्तक, वचा, कुटकी
(v) फलत्रिकादि क्वाथ : हरीतकी, विभीतकी, आमलकी, दारुहरिद्रा, इन्द्रायण

(vi) लोहारिष्ट : शालसारादि गण की औषधियाँ, पिप्पल्यादि गण की औषधियाँ, पिप्पली, लौह
(vii) विडंगासव : विडंग, शुण्ठी, पिप्पली, मरिच, पाठा, रास्ना
(viii) लोहासव : लौह भस्म, त्रिफला, त्रिकटु, यवानी, विडंग, मुस्तक

5. तैल योग (वाह्य एवं आभ्यान्तर प्रयोगार्थ)

मात्रा : पान एवं गण्डूष-5-10 मि.ली.
नस्य-4-8 बिंदु
बस्ति 30-50 मि.लि.
अभ्यंगार्थ-आवश्यकतानुसार
अनुपान : उष्णोदक
(i) त्रि नाद्य तैल : तिल, सुरसादी गण, त्रिफला, अतिविषा
उपयोग : पान, अभ्यंग, नस्य, बस्ति, गण्डूष
(ii) महासुगन्धि तैल : चन्दन, कुंकुम, छोटी एला, कर्पूर, खस
उपयोग : अभ्यंगार्थ प्रयुक्त

6. लौह योग

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान : शहद/गोदुग्ध
(i) विडंगाद्य लौह : विडंग, त्रिफला, त्रिकटु, लौह
(ii) त्र्यूषणाद्य लौह : लौह भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, बाकुची

7. गुग्गुलु योग

मात्रा : 500-1000 मि.ग्रा.
अनुपान : शहद/गोदुग्ध/उष्ण जल
(i) नवक गुग्गुलु : त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, गुग्गुलु
(ii) अमृताद्य गुग्गुलु : अमृता, एला, विडंग, गुग्गुलु
(iii) त्रयोदशांग गुग्गुलु : बबूल, अश्वगन्धा, शुण्ठी, गुग्गुलु
(iv) मेदोहर गुग्गुलु : त्रिकटु, वचा, गुग्गुलु

8. रसायन

मात्रा : 1-2 ग्राम
अनुपान : शहद/कोष्ण जल
(i) शिलाजतु रसायन
(ii) गुग्गुलु रसायन

(iii) आमलकी रसायन
(iv) लौह रसायन : गुग्गुलु, त्रिफला, लौह, निशोथ, वासा

10. एकल औषधियाँ

(i) गुग्गुलु (ii) शिलाजतु
(iii) वचा (iv) हरीतकी
(v) विभीतकी (vi) आमलकी
(vii) गुडूची (viii) नागरमोथा
(ix) विडंग (x) शुण्ठी
(xi) बिल्व (xii) श्योनक
(xiii) पाटला (xiv) गम्भारी
(xv) अग्निमंथ (xvi) अपामार्ग
(xvii) गोमूत्र (vviii) रसाञ्जन आदि

एकल स्थौल्य नाशक औषधियाँ हैं जिनका प्रयोग प्राय: स्थौल्य रोग चिकित्सा में किया जाता है।

11. सत्तु योग

मात्रा : 20-40 ग्राम
अनुपान : शहद/जल
(i) चव्यादि सत्तु : चव्य, जीरा, त्रिकटु, हिंगु, चित्रक
(ii) व्योषाद्य सत्तु : त्रिकटु, विडंग, शिग्रु, त्रिफला
(iii) त्र्यूषणाद्य सत्तु : त्रिकटु, कुटकी, कण्टकारी, हरिद्रा

12. क्षार योग

मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : तण्डुलोदक/शहद
(i) एरण्ड क्षार : एरण्ड
(ii) यव क्षार : यव
(iii) पुनर्नवा क्षार : पुनर्नवा
(iv) अपामार्ग क्षार : अपामार्ग

13. स्वेदहर एवं दौर्गन्ध्य नाशक लेप

मात्रा : आवश्यकतानुसार
(i) शिरिषादि प्रलेप : शिरीष, खस, नागकेशर, लोध्र
(ii) वासादि लेप : वासा, शंखभस्म
(iii) हरीतक्यादि प्रलेप : हरीतकी, लोध्र, निम्ब, आम्र
(iv) हरितालादि योग : हरताल, गोदुग्ध

(v) दलजलादि लेप : तेजपत्र, नेत्रबाला, अगर, श्वेत चन्दन
(vi) शैलेयाद्य उदवर्तन : शैलेय, कुष्ठ, अगर, देवदारु

(4) योगासन एवं प्राकृतिक चिकित्सा

स्थौल्य रोग में सूर्य नमस्कार, सर्वाङ्गासन, हलासन, मयूरासन, शीर्षासन, प्राणायाम इत्यादि आसन लाभदायक होते हैं। इन आसनों का प्रयोग धैर्यपूर्वक लम्बे समय तक करते रहना चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा के अंतर्गत स्थौल्य रोगों में मृत्तिका लेप, ताप सेवन एवं अल्प प्रमाण में प्राकृतिक आहार का सेवन करना चाहिए। यह अत्यन्त उपयोगी रहता है।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. संशोधन चिकित्सा- वमन, विरेचन एवं लेखन बस्ति का प्रयोग
3. योगासन, व्यायाम, प्राणायाम
4. संशमन चिकित्सा

(i) प्रात : सायं
विडंगादि चूर्ण : 2 ग्राम
त्रिकटु चूर्ण : 1 ग्राम
त्रिमूर्ति रस : 125 मि. ग्रा.
शहद से 1 × 2 मात्रा
(ii) भोजनोत्तर
आरोग्यवर्द्धिनी वटी : 250 मि.ग्रा.
त्र्यूषणाद्य लौह : 250 मि.ग्रा.
नवक गुग्गुलु : 500 मि. ग्रा.
शहद से 1 × 2 मात्रा
(iii) भोजनोत्तर
लोहारिष्ट : 20 मि.ली.
सम भाग जल से : 1 × 2 मात्रा
(iv) रात्रि में
त्रिफला चूर्ण : 3 ग्राम
कोष्ण जल से : 1 मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार[1, 2]

पुराना शालि चावल, मूँग, कुलत्थ यव, कोदो, जौ, चना, साँवा, बाजरा, मक्का, मसूर, अरहर, धान का लावा, बैंगन, परवल, सहिजन, तक्र, इलायची, आँवला, सर्षप तैल, उष्णोदक, बाँस का चावल, प्रियंगु, कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य, गुग्गुलु, लौह भस्म, शिलाजतु एवं भोजन के पूर्व जल पीना आदि।

विहार[1]

चिन्ता, श्रम, रात्रि जागरण, स्त्री सेवन, उबटन, लंघन करना, धूपसेवन, हाथी घोड़े की सवारी, पैदल चलना, अपतर्पण करना, व्यायाम करना एवं उष्णोदक से स्नान करना इत्यादि।

अपथ्य

आहार[3]

नवीन शालिधान्य, गेंहू, चावल, उड़द, आलू, दुग्ध, मलाई, राबड़ी, खीर, दही, मांस, मछली, अंडा, मक्खन, घृत, गुड़, राब, भोजन के पश्चात अधिक जल पीना एवं तैलाभ्यंग करना इत्यादि।

विहार[3]

शीतल जल से स्नान, पुष्प इत्यादि धारण करना, दिवाशयन, सुखपूर्वक सर्वदा आरामदायक बिस्तर पर रहना, देर तक ठंडे जल में स्नान करना एवं निश्चिन्तता इत्यादि।

Latest Developments

OBESITY

स्थौल्य रोग का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Obesity नामक रोग से किया जा सकता है।

Definition

Obesity is the most common nutritional disorder of societies. Obesity is also expressed in terms of body mass index (BMI). BMI of 30 or more in males and 28.6 or more in females indicates obesity. Obesity may be defined as a condition in which there is an excessive amount of

1. पुराणशालयो मुद्गकुलत्थयवकोद्रवा।
लेखना वस्तयश्चैव सेव्या मेदस्विना सदा॥ (भै.र. 39/66)
2. चिन्ता श्रमो जागरणं व्यवाय:....।
मेदोगतं पथ्यामिदं निहन्ति॥ (भै.र. 39/67-71)
3. स्नानं रसायनं शालीन्..........।
अतिमात्रस्तूपचितो विशेषाद् वमन विरेचन॥ (भै.र. 39/72-74)

body fat.

Aetiological Factors

There is no satisfactory aetiological classification of obesity. The important factors include-

1. **Age-** Obesity is most prevalent in middle age group, but it can occur at any stage of life.
2. **Socio-Economic Status-** In developed countries obesity is more common in the lower socioeconomic group while in developing countries it can occur only in the prosperous elite.
3. Over eating
4. Lack of exercises
5. Heriditary predisposition or idiopathic or genetic obesity.
6. **Endocrinal Factors of Obesity-** These include-

(i) Pituitary
   (a) Puberty adiposity
   (b) Pregnancy
   (c) After menopause
(ii) Thyroids, Hypothyroidism
(iii) Adrenal cortex, Cushing's syndrome
(iv) Pancreas
   Islet cell tumours and chronic hypoglycemia often associated with adiposity.

7. **Energy Balance-** A very small excess of calories if habitual can lead eventually to a large amount of fat.

Type of Body fat distribution

1. **Pear Type-** Fat accumulates mainly around hips and thighs (Gynoid Distribution)
2. **Apple Type-** Fat storage mainly in the abdomen (Android Distribution) found in both sexes.

Systemic Effects of obesity

1. **Cardiovascular System-** Coronary Heart Disease, Hypertension, Varicose veins, pedal oedema.
2. **Brain-** Cerebrovascular accidents, mental disturbances.
3. **Respiratory system-** Breathlessness
4. **Gastrointestinal System-** Hiatus Hernia, Gallstones, Gall bladder disease, constipation.
5. **Joints-** Osteoarthritis. Backache
6. **Pregnancy-** Neural tube defects, perinatal mortality, pre-eclampsia, gestational diabetes, preterm labour, deep vein thrombosis

7. **Endocorine and Metabolic-** Non insulin dependent diabetes mellitus (NIDDM), Hyperlipidemia, Hirsutism, Menstrual irregularities, menorrhagia, impotence.
8. **Skin-** Dermal and sweat rashes.
9. Postoperative complications.

Management : Principles

1. **Exercise-** It is very useful to treat obesity. Extra calories should be burnt with exercises unless there is medical contraindication.
2. **Diet-** Long term results are best where patients are well motivated and educated, follow a clear programme designed to provide 800 to 1600 k.cal. daily.
3. Use of appetite suppressants.
4. Reduction in dietary fat absorption.
5. Use of bulk agents.
6. Psychotherapy.
7. Starvation.
8. Surgical Procedures.

2. कार्श्य रोग

(Emaciation)

परिचय

कार्श्य रोग एक प्रमुख कुपोषण जन्य व्याधि है। विभिन्न कारणों से सम्यक् पोषण नहीं मिलने के परिणामस्वरूप अल्प प्रमाण में उत्पन्न रसधातु शरीर को पूर्णत: पुष्ट नहीं कर पाता है जिसके कारण धातु पुष्टि नहीं होती है और अन्तत: व्यक्ति कृश हो जाता है। कार्श्य रोग में मुख्य रूप से रसवह स्रोतस की दुष्टि प्रतीत होती है। आचार्य चरक ने भी रसवह स्रोतो दुष्टि जन्य विकारों में कृशता का उल्लेख किया है।

रसवह स्रोतस के मूल

आचार्य चरक ने रसवह स्रोतस के दो मूल वर्णित किऐ हैं जो निम्न हैं —

1. हृदय 2. दश धमनियाँ

आचार्य सुश्रुत ने रसवह स्रोतस के दो मूल निम्न प्रकार से वर्णित किए हैं[2]—

1. हृदय 2. रसवाहिनी धमनियाँ

1. रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्य:। (च.वि. 5/8)
2. रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्य:। (सु.शा. 9/12)

वस्तुत: उपरोक्त दोनों मतों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। आहार के पाचन के उपरान्त "रस" रसवाही धमनियों के द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर में संचरित होता है एवं शरीर के प्रत्येक अवयव का पोषण करता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से सम्भवत: Portal vein को ही रसवह स्रोतस मूल मानना युक्ति संगत लगता है। क्योंकि आहार रस का अवशोषण होने के पश्चात Portal vein से ही वह यकृत (Liver) में पहुंचता है जहां पर अनेक प्रकार की उपापचय क्रियाएं (Metabolic activities) सम्पन्न होती हैं तथा शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का पोषण होता है।

रसवह स्रोतस दुष्टि के कारण

रसवह स्रोतस दुष्टि के निम्नलिखित प्रमुख कारण शास्त्रों में वर्णित हैं[1]—

1. अत्यन्त गुरु, शीत, स्निग्ध आहार सेवन
2. अधिक मात्रा में आहार ग्रहण करना
3. अत्यधिक चिन्तन करना

रसवह स्रोतस दुष्टि से उत्पन्न विकार

रसवह स्रोतस की दुष्टि होने से निम्नलिखित विकार उत्पन्न होते हैं[2]—

1. भोजन में अश्रद्धा
2. अरुचि, मुख विरसता
3. जिह्वा से रस ज्ञान नहीं होना
4. हृल्लास
5. शरीर में गुरुता (भारीपन)
6. तन्द्रा
7. अंगमर्द
8. ज्वर
9. नेत्र के सामने अंधकार प्रतीत होना
10. पाण्डु रोग
11. स्रोतावरोध
12. क्लीवता (नपुंसकता)
13. शरीर शैथिल्य
14. अंगों में कृशता होना
15. मन्दाग्नि
16. अकाल में शरीर पर झुर्रियाँ एवं पालित्य उत्पन्न होना।

आचार्य सुश्रुत ने रसवह स्रोतस दुष्टि के परिणाम स्वरूप शोष रोग एवं प्राणवह स्रोतो दुष्टि के समान लक्षण तथा मृत्यु होना वर्णित किया है[3]।

1. गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
   रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्॥ (च.वि. 5/13)
2. अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता।
   हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दोज्वरस्तम:॥
   पाण्डुत्वं स्रोतसां रोध: क्लैब्यं साद: कृशाङ्गता।
   नाशोऽग्नेरयथाकालं बलय: पलितानि च॥ (च.सू. 28/9-10)
3. रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्य:, तत्र
   विद्धस्य शोष: प्राणवह विद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च॥ (सु.शा. 9/12)

रसवह स्रोतस से वस्तुत: शरीर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म केशिकाओं (Microchannels/ Microcapillaries) का ग्रहण करना ही उचित प्रतीत होता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार गरीबी, कुपोषण एवं असंतुलित आहार का सेवन कृशता के मुख्य कारण हैं।

व्याधि परिचय

मुख्यत: कुपोषण के कारण अथवा सम्यक रूप से संतुलित भोजन के अभाव से कार्श्य रोग की उत्पत्ति होती है। भोजन के परिपाक के फलस्वरूप यदि रसधातु की सम्यक रूप से उत्पत्ति नहीं होती है तो वह अन्य अग्रिम धातुओं का उचित पोषण नहीं कर पाता है जिसके परिणामस्वरूप अन्य धातुओं में क्रमश: क्षीणता उत्पन्न होती है। परिणामत: पुरुष धीरे-धीरे कृशता को प्राप्त होता रहता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो कार्श्य वस्तुत: कैलोरी ह्रास जन्य विकृति प्रतीत होती है। यदि मनुष्य शरीर की आवश्यकता के अनुसार कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा एवं जीवनीय तत्व शरीर को नहीं मिल पाते हैं तो व्यक्ति कुपोषण का शिकार हो जाता है और अन्तत: उसके शरीर में कृशता उत्पन्न हो जाती है तथा व्यक्ति अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता सूत्रस्थान - अध्याय 21
2. सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान - अध्याय 15
3. अष्टांग संग्रह सूत्रस्थान - अध्याय 24
4. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड चिकित्सा प्रकरण - अध्याय 40

परिभाषा[1]

अतिकृश पुरुष के स्फिग् प्रदेश (नितम्ब), उदर एवं ग्रीवा अत्यन्त शुष्क हो जाते हैं तथा शरीर में धमनियों के जाल दृष्टिगोचर होते हैं एवं संधियां स्थूल हो जाती हैं। इस प्रकार का पुरुष अत्यन्त कृश तथा उत्पन्न रोग को कार्श्य रोग कहा जाता है।

निदान [2, 3, 4]

संहिता ग्रंथों में कार्श्य रोग के अनेक प्रकार के निदान बताऐ गए हैं। प्रमुख निदानों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. शुष्कस्फिगुदग्रीवो धमनी जाल सन्तत:।
   त्वगस्थिशेषोऽतिकृश: स्थूलपर्वा नरो मत:॥ (च.सू. 21/15)
2. सेवा रूक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम्।
   क्रियतियोग: शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रह:॥
   रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यास: प्रकृतिर्जरा।
   विकारानुशय: क्रोध: कुर्वन्त्यतिकृशं नरम्॥ (च.सू. 21/11-12)

1. आहार जन्य निदान

(i) रुक्ष अन्नपान सेवन (ii) लंघन (उपवास करना)
(iii) प्रमिताशन (मात्रा से अल्प नपातुला भोजन करना)
(iv) वातवर्धक द्रव्यों का आहार सेवन (v) कषाय रस का अधिक सेवन
(vi) अत्यल्प मात्रा में भोजन करना

2. विहार जन्य निदान

(i) मल मूत्रादि वेगों को रोकना (ii) निद्रा के वेग को रोकना
(iii) रात्रि जागरण (iv) नित्य मैथुन करना
(v) निरंतर व्यायाम करना (vi) अति अध्ययन करना
(vii) प्यास एवं क्षुधा का वेग धारण करना
(viii) रुक्ष द्रव्यों से युक्त उबटन एवं स्नान करना
(ix) वातिक प्रकृति का होना (x) वृद्धावस्था
(xi) निरंतर रोगी होना
(xii) वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्मों का अतियोग

अन्य निदान

(i) अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक कार्य
(ii) शोक ग्रस्त रहना (iii) क्रोध करना
(iv) भय ग्रस्त रहना (v) धन इत्यादि की चिन्ता
(vi) सहज अथवा कुलज निदान

सम्प्राप्ति[5]

पूर्व में वर्णित विविध प्रकार के निदान सेवन करने से रसधातु की अत्यल्प उत्पत्ति होती है जिससे सर्व धातुओं का सम्पूर्ण रूप से पोषण नहीं हो पाता है। इसके परिणाम स्वरूप पुरुष क्रमश: कृश होता चला जाता है।

3. वातो रूक्षान्नपानानि लङ्घनं प्रमिताशनम्।
   क्रियाऽतियोग: शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रह:।
   नित्यं रोगो रतिर्नित्यं व्यायामों भोजनाल्पता।
   भीतिर्धनादिचिन्ता च कार्श्यकारणमीरितम्॥ (भा.प्र.म.ख. 40/1-2)
4. तत्रपुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायाम-
   व्यवायाध्ययनभयशोकक्ष्यानरात्रिजागरण-
   पिपासाक्षुत्कषायाल्पशनप्रभृति:.. ॥ (सु.सू. 15/39)
5. कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरूपशोषितो रसधातु:
   शरीरमननुक्रमान्नल्पत्वान्न प्रीणाति तस्मादतिकार्श्यं भवति। (सु.सू. 15/39)

सम्प्राप्ति चक्र

विविध निदान सेवन
↓
अत्यल्प मात्रा में रसधातु उत्पत्ति
↓
रक्तादि अग्रिम धातुओं का सम्यक पोषण नहीं होना
↓
कार्श्य रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात प्रधान
दूष्य	:	रस
अधिष्ठान	:	सर्व शरीर
स्रोतस	:	रसवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	विमार्गगमन
अग्निस्थिति	:	विषमाग्नि
व्याधिस्वभाव	:	नवीन-मृदु, जीर्ण-दारुण
साध्यासाध्यता	:	साध्य/कष्टसाध्य

लक्षण

कार्श्य रोग से ग्रसित व्यक्ति में मुख्यत: निम्न लक्षण प्रकट होते हैं[1]—

1. श्रोणि प्रदेश (नितम्ब) में शुष्कता
2. उदर में शुष्कता
3. ग्रीवा में शुष्कता
4. सर्वशरीर में धमनी जाल दृष्टिगोचर होना
5. शरीर पर त्वचा एवं अस्थिपञ्जर दिखाई देना
6. मुख एवं अस्थिसन्धि मोटे अर्थात् स्थूल हो जाना
7. व्यायाम, परिश्रम एवं आहार ग्रहण आदि के प्रति अनिच्छा
8. आलस्य एवं थकान की निरन्तर प्रतीति होना
9. उष्णता, शीतता को सहन करने में असमर्थता
10. मैथुन क्षमता में कमी
11. प्राय: वात रोग से ग्रसित रहना

1. शुष्कस्फिगुदरग्रीवाधमनीजालसन्तति:।
त्वगस्थिशोषोऽतिकृश: स्थूलपर्वाननोमत:॥ (भा.प्र.म.ख. 40/3)

सापेक्ष निदान

कार्श्य रोग की उत्पत्ति मुख्यत: दो प्रकार से होती है—

(i) स्वतंत्र रूप से कार्श्य रोग की उत्पत्ति

(ii) विविध प्रकार की व्याधियों के उपद्रव या लक्षण स्वरूप कार्श्य रोग की उत्पत्ति

संहिता ग्रंथों में वर्जित कार्श्य रोग वास्तव में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न कार्श्य रोग का वर्णन प्रतीत होता है। प्राय: निम्न रोगों/विकृतियों से सापेक्ष निदान करना चाहिए—

1. कुपोषण जन्य कार्श्य रोग
2. शोष
3. राजयक्ष्मा
4. अन्त: स्रावी ग्रंथियों की विकृति
5. निम्न रक्तचाप
6. जीर्ण ज्वर
7. वातव्याधि

साध्यासाध्यता

कार्श्य रोग प्राय: साध्य होता है। कार्श्य में मुख्यत: रसधातु की कमी होती है। अत: रोगी को समुचित रूप से मधुर, अम्ल, लवण, शीत, गुरु, बृंहण द्रव्यों का विविध कल्पनाओं के रूप में नियमित सेवन कराया जाये तो रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जाता है। यदि वात प्रकृति के पुरुष को कार्श्यरोग है तो वह कृच्छ्रसाध्य होता है क्योंकि वातज प्रकृति के व्यक्ति में बृंहण शीघ्रता से नहीं होता है। स्वभाव से कृश रोगी दुर्बल हो, अनेक व्याधियों से पीड़ित हो अथवा अन्त: स्रावी ग्रंथियों की विकृति के कारण कार्श्य रोग हो अथवा बीज दोष के कारण कार्श्य रोग उत्पन्न हुआ हो तो वह प्राय: याप्य या असाध्य होता है। ऐसे व्यक्ति की अग्नि भी क्षीण रहती है[1]।

उपद्रव

कार्श्य रोग यदि स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुआ है तो विशेष उपद्रव उपस्थित नहीं होते हैं। लेकिन किसी व्याधि के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न कार्श्य की चिकित्सा शीघ्रतापूर्वक करनी चाहिए अन्यथा अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना रहती हैं।

आचार्य चरक ने कार्श्य रोगी में निम्नलिखित उपद्रवों की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया है[2]—

1. प्लीहा वृद्धि (Splenomegaly)
2. कास (Cough)
3. क्षय (Tuberculosis)
4. श्वास (Dyspnoea)
5. गुल्म (Tumour)
6. अर्श (Piles)

1. स्वभावादतिकार्श्यो य: स्वभावादल्पपावक:।
स्वभावादबलो यश्च नास्ति चिकित्सितम्॥ (भा.प्र.म.स. 40/11)
2. प्लीहा कास: क्षय श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगता:॥ (च.सू. 21/14)

7. उदर रोग (Diseases of G.I.T.)
8. ग्रहणी दोष (Sprue Syndrome)

आचार्य सुश्रुत ने भी कार्श्य रोग के उपद्रवों में प्लीहा वृद्धि, उदर वृद्धि अग्निमांद्य, गुल्म एवं रक्तपित्त आदि रोगों की उत्पत्ति होने की सम्भावना व्यक्त की है[1]। आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट किया है कि वस्तुतः कृश व्यक्ति के अल्प प्राण (Decreased Immunity) होने के कारण उसके शरीर में रोग बलवान हो जाते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

कार्श्य रोग की चिकित्सा के लिए निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धांतों का प्रयोग करना लाभकारी रहता है—

1. निदान परिवर्जन
2. आवश्यक होने पर मृदु संशोधन
3. बृंहण चिकित्सा, धातुवर्धक, बलवर्धक, वृष्य एवं वाजीकरण औषधि प्रयोग[2]
4. विभिन्न तर्पण योगों का प्रयोग
5. लघु एवं संतर्पक आहार का प्रयोग[3]

चिकित्सा

(1) निदान परिवर्जन (2) शोधन चिकित्सा

संहिता ग्रंथों में कार्श्य रोग का वर्णन संक्षेप में प्राप्त होता है तथा इसमें शोधन चिकित्सा का स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता है। आवश्यक होने पर रोगी के संशोधन की दृष्टि से निम्न व्यवस्था की जा सकती है—

(i) वाह्य एवं आभ्यान्तर स्नेहन प्रयोग
(ii) अनुवासन बस्ति, बृंहण बस्ति प्रयोग
(iii) सतत रूप से मात्रा बस्ति प्रयोग
(iv) बृंहण नस्य प्रयोग

(3) शमन चिकित्सा

कार्श्य रोगी की शमन चिकित्सा के लिए निम्नलिखित औषधि द्रव्य प्रभावी होते हैं—

---

1. श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्ताना-
मन्यतममासाध्य मरणमुपयतिसर्व एव चास्य-
रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्। (सु.सू. 15/39)
2. बृंहणं बलकृद् वृष्यं तथा वाजीकरञ्च यत्। (भा.प्र.म.ख. 40/7)
3. कृशानां बृंहणार्थं च लघु संतर्पणं च यत॥ (च.सू. 21/20)

1.	**रस/भस्म/पिष्टी**	
	मात्रा	: 125–250 मि.ग्रा.
	अनुपान	: शहद
(i)	क्षुधासागर रस	: त्रिकटु, त्रिफला, पंचलवण, यवक्षार
(ii)	अजीर्ण कण्टक रस	: पारद, गन्धक, वत्सनाभ
(iii)	विजय रस	: पारद, वत्सनाभ, यवक्षार, सज्जीक्षार सुहागा
(iv)	रामबाण रस	: पारद, गंधक, वत्सनाभ, मरिच
(v)	प्रवाल पंचामृत	: प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुक्ति, कपर्द
(vi)	प्रवाल भस्म	: प्रवाल
2.	**वटी**	
	मात्रा	: 250–500 मि.ग्रा.
	अनुपान	: उष्णोदक
(i)	चित्रकादि वटी	: चित्रक, पिप्पलीमूल, यवक्षार, पंचलवण
(ii)	आरोग्यवर्धिनी वटी	: पारद, गंधक, लौहभस्म, अभ्रक भस्म, ताम्रभस्म, शिलाजतु, कुटकी
(iii)	चन्द्रप्रभा वटी	: वचा, मुस्तक शिलाजतु, गुग्गुलु, लौह भस्म इत्यादि
(iv)	महोदधि वटी	: वत्सनाभ, पारद, जायफल, सुहागा, कपर्द, शुण्ठी
(v)	अग्नितुण्डी वटी	: पारद, गंधक, वत्सनाभ, यवानी, त्रिफला, कुपीलु
3.	**चूर्ण**	
	मात्रा	: 3–6 ग्राम
	अनुपान	: शहद/उष्णोदक
(i)	अश्वगंधा चूर्ण	: अश्वगंधा
(ii)	शतावरी चूर्ण	: शतावरी
(iii)	आमलकी चूर्ण	: आमलकी
(iv)	पिप्पली चूर्ण	: पिप्पली
(v)	यवानीषाडव चूर्ण	: यवानी, इमली, शुण्ठी, अम्लवेत
(vi)	बृहत् अग्निमुख चूर्ण	: सज्जीक्षार, यवक्षार, चित्रक, मुस्तक, हिंगु
4.	**आसव-अरिष्ट**	
	मात्रा	: 20–40 मि.लि.
	अनुपान	: समभाग जल

(i) अश्वगंधारिष्ट : अश्वगंधा, मूसली, हरिद्रा, विदारी, मंजिष्ठा
(ii) बलारिष्ट : बला, अश्वगंधा, धातकी, एरण्ड, गोक्षुर
(iii) द्राक्षासव : द्राक्षा, धातकी, बेर, त्रिकटु
(iv) सारस्वतारिष्ट : ब्राह्मी, शतावरी, विदारी, हरीतकी, आर्द्रक, सौंफ
(v) कुमार्यासव : घृतकुमारी, लौहभस्म, त्रिकटु, धातकी, त्रिफला, षडूषण इत्यादि

5. घृत/तैल (वाह्य/आभ्यान्तर प्रयोगार्थ)

मात्रा : 10–20 मि.ली.
अनुपान : उष्णजल/दुग्ध
(i) अश्वगंधा तैल : अश्वगंधा, तिलतैल, कमल, केशर, त्रिफला इत्यादि
(ii) महानारायण तैल : तिल तैल, शतावरी, गोदुग्ध, केशर, कस्तूरी, कर्पूर इत्यादि
(iii) बला घृत : बला, गोक्षुर, आँवला, कण्टकारी बृहती, गोघृत इत्यादि
(iv) अश्वगंधा घृत : अश्वगंधा, शतावरी, अष्टवर्ग, विदारी, मधुयष्ठी इत्यादि
(v) त्रिफलादि घृत : त्रिफला, वासा, भृंगराज, अजाक्षीर, गोघृत इत्यादि

6. अवलेह/पाक

मात्रा : 10–20 ग्राम
अनुपान : दुग्ध
(i) च्यवनप्राश : आमलकी, दशमूल, भूम्यामलकी, बंशलोचन, पिप्पली, एला, नागकेशर आदि
(ii) ब्रह्म रसायन : हरीतकी, आमलकी, पांचो पंचमूल, मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शंखपुष्पी इत्यादि
(iii) आमल्क्यावलेह : आमलकी, पिप्पली, शुण्ठी, बंशलोचन इत्यादि
(iv) हरीतक्यादि अवलेह : हरीतकी, विभीतकी, आमलकी, पांचों पंचमूल, विदारी, गोघृत
(v) यवानीषाडव चूर्ण : यवानी, इमली, शुण्ठी, अम्लवेत

7. एकल औषधियाँ

(i) अश्वगंधा (ii) शतावरी (iii) कौंच
(iv) मांस या मांसरस (v) बला (vi) अति बला
(vii) महा बला (viii) दुग्ध (ix) घृत
(x) मूशली (xi) सालमपञ्जा (xii) कुष्माण्ड
(xiii) बृहती (xiv) पिप्पली (xv) मिश्री
(xvi) मृद्वीका (xvii) फालसा (vviii) आमलकी
(xix) खर्जूर (xx) क्षीरकाकोली (xxi) विदारी
(xxii) यष्ठीमधु (xxiii) जीवन्ती (xxiv) मुद्गपर्णी
(xxv) माषपर्णी इत्यादि

एकल औषधियाँ हैं जिनका प्रयोग प्राय: कार्श्य रोग की चिकित्सा में किया जा सकता है।

(4) योगासन एवं प्राकृतिक चिकित्सा

यम, नियम, प्राणायाम, आसन इत्यादि के नियमित प्रयोग से व्यक्ति स्थिर चित्त वाला हो जाता है। वह निश्चिन्त, प्रवर सत्व युक्त एवं सम्यक अग्नि बल युक्त होता है, जिसके फलस्वरूप ग्रहण किया गया आहार शरीर में अच्छी प्रकार से सात्म्य होकर बल और आयु की वृद्धि करता है।

निम्नलिखित आसनों का प्रयोग कार्श्य रोग में लाभकारी रहता है—

1. शवासन 2. सुखासन 3. वज्रासन
4. प्राणायाम 5. योगसाधना

प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में ताजे फलों का रस तथा समुचित पोषण करने वाले आहार द्रव्यों का प्रयोग कार्श्य रोग में करना चाहिए जिससे सम्यक् धातु पोषण होकर कार्श्य रोग का शमन हो जाता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन 2. शोधन चिकित्सा
   (i) अनुवासन बस्ति प्रयोग
   (ii) बृंहण बस्ति प्रयोग
3. योगासन, प्राणायाम, ध्यान
4. संशमन चिकित्सा

	प्रात	: सायम्
(i)	शतावरी चूर्ण	: 2 ग्राम
	प्रवाल पंचामृत	: 250 मि.ग्रा.
	शहद/दुग्ध से	1 × 2 मात्रा

(ii) यवानी षाडव चूर्ण : 3 ग्राम
चित्रकादि वटी : 500 मिग्रा.
कोष्ण जल से 1 × 2 मात्रा
(iii) भोजनोत्तर
द्राक्षारिष्ट : 20 मि.लि.
वलारिष्ट : 20 मि.लि.
समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
(iv) च्यवनप्राश अवलेह : 20 ग्राम
या ब्रह्म रसायन : 20 ग्राम
दुग्ध से 1 × 2 मात्रा
(v) सर्वांग शरीर में चन्दनादि तैल से नियमित अभ्यंग

5. पथ्यापथ्य पालन

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार[1]	विहार[2, 3]
नवीन अन्न, नवनिर्मित मद्य, ग्राम्य, आनूप एवं जांगल जन्तुओं का मांसरस, दधि, दुग्ध, घृत, इक्षु, शालि चावल, गेहूँ, गुड़ से निर्मित द्रव्य, स्निग्ध एवं मधुर द्रव्य, रसायन एवं वाजीकरण द्रव्यों का प्रयोग आदि।	निद्रा, हर्ष, सुखद शय्या, मानसिक विश्राम, शांति, चिन्ता, मैथुन एवं व्यायाम का त्याग, प्रिय वस्तु अथवा दृष्य देखना, तैलाभ्यंग, उबटन, स्नान, सुगंधित माला धारण, श्वेतवस्त्र धारण एवं दोषों का समय-समय पर निर्हरण इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान द्रव्य, यव, चना, मसूर, सहिजन, सांवा एवं कोदों इत्यादि।	लंघन, अति व्यायाम, अति परिश्रम एवं बार-बार पंचकर्म का प्रयोग इत्यादि।

1. नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसः। संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च॥ इक्षवः शालयो माषा गोधूमा गुडवैकृतम्। बस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यंगश्च सर्वदा॥ (च.सू. 21/30-31)
2. स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृत्तिः शमः। चिन्ताव्यवायव्यायामविरामः प्रियदर्शनम्॥ (च.सू. 21/29)
3. स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यनिषेवणम्। शुक्लं वासो यथाकालं दोषाणामव सेचनम्॥ (च.सू. 30/32)

Latest Developments
EMACIATION

कार्श्य रोग का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Emaciation नामक रोग से किया जा सकता है।

Definiton

Emaciation is a state of extreme leanness. It is not a disease, but is an important symptom of various disorders.

Etiology

The main etiological factors of emaciation are listed below-

1. Malnutrition
2. Diseases of Gastrointestinal tract
3. Marasmus
4. Addison's disease
5. Tuberculosis
6. Anorexia nervosa
7. Cancer
8. Diabetes
9. Suppuration
10. Hyperthyroidism
11. Chronic Diarrhoea
12. Stricture of Oesophagus
13. Pyloric Obstruction
14. Parasites
15. Loss of sleep
16. Exophthalmic Goiter
17. Starvation
18. AIDS

Management : Principles

1. To treat the underlying cause
2. Symptomatic Management
3. Rich, nutritious easily digestible diet.

3. कुपोषणजन्य विकारों के प्रमुख कारण
(Causative Factors of Deficiency Disorders)

कुपोषण मानव विकास के पथ में ऐसा अवरोधक है जिसे दूर किए बिना मनुष्य विकास के उच्चतम स्तर तक नहीं पहुंच सकता है। कुपोषण के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों का वर्णन यहां किया जा रहा है—

1. सामाजिक एवं आर्थिक विषमता (Social and Economic Variations)

आर्थिक विषमताओं का कुपोषण से गहरा संबंध है। गरीबी कुपोषण का प्रमुख कारण है। धन के अभाव में व्यक्ति की क्रय शक्ति कम हो जाती है जिससे वह आवश्यक खाद्यान्नों की खरीद नहीं कर पाता है और जो भी रुखा सूखा मिलता है उसका सेवन करता है। गरीबी के कारण कई बार व्यक्ति को भूखा भी रहना पड़ता है। फलस्वरूप वह कुपोषण का शिकार होकर अनेक प्रकार की कुपोषण जन्य व्याधियों से ग्रसित हो जाता है।

सामाजिक कारण भी कुपोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्राय: समाज में कई वर्ग होते हैं और उनके सामाजिक प्रभाव के स्तर में भी अंतर होता है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है कि आहार उपलब्धता पर समाज का उच्चवर्ग अतिक्रमण कर लेता है। परिणामस्वरूप समाज में कुछ व्यक्तियों के पास तो अत्यधिक आहार द्रव्य संग्रह होता है, वहीं दूसरी ओर अन्य कुछ लोगों को आहार द्रव्यों के अत्यन्त अभाव में जीवन व्यतीत करना पड़ता है और वे कुपोषण का शिकार हो जाते हैं।

2. शिक्षा का अभाव (Lack of Education)

शिक्षा समाज का दर्पण होती है। अशिक्षित व्यक्ति आहार विधि विधान को नहीं समझ पाता है। अशिक्षित व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के विषय में भी सचेत नहीं रहता है। फलस्वरूप वह कुपोषण का शिकार हो जाता है। अशिक्षित व्यक्ति आहार उपलब्धता होने के बावजूद भी कुपोषण जन्य व्याधियों का शिकार हो जाता है।

3. आहार में आवश्यक तत्वों की कमी होना (Qualitative Dietary Deficiency)

संतुलित आहार (Balanced Diet) के छ: मुख्य घटक होते हैं—कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, विटामिन्स, लवण एवं जल। इन सभी द्रव्यों की एक निश्चित मात्रा स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक होती है। इन आहार द्रव्यों की मात्रा में कमी अथवा अधिकता कुपोषण का कारण होती है। जैसे प्रोटीन की कमी से Marasmus आदि रोग उत्पन्न होते हैं। विटामिन्स की कमी से नक्तान्ध्य, स्कर्वी, बेरी-बेरी, रिकेट्स आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

आचार्य चरक ने भी संतुलित भोजन एवं उसके घटक द्रव्यों का स्पष्ट संकेत किया है[1]। आचार्य चरक के अनुसार षष्टिक, शालि, मुद्ग, सैन्धव लवण, आमलकी, यव, अंतरिक्ष जल, दुग्ध, सर्पि, जांगल मांस रस एवं मधु का सेवन नियमित रूप से करना चाहिए जो कि स्पष्ट रूप से संतुलित आहार सेवन का संकेत है।

4. आहार की अधिक मात्रा का सेवन (Over Nutrition)

अधिक मात्रा में आहार ग्रहण करना भी अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करता है जैसे- स्थौल्य, प्रमेह, मेदोरोग मधुमेह इत्यादि।

1. षष्टिकाञ्शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरीक्षं पय: सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्॥ (च.सू. 5/12)

5. एक ही प्रकार के आहार का अत्यधिक सेवन (Excessive intake of a single diet)

आहार द्रव्यों में विभिन्नता नहीं होना भी कुपोषण का प्रमुख कारण है। कुछ लोग एक ही प्रकार के आहार द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करते हैं। प्राय: अशिक्षित एवं गरीब लोगों में यह प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है जिसके फलस्वरूप एक पोषक तत्व की अधिकता एवं अन्य पोषक तत्वों की न्यूनता से व्यक्ति कुपोषण का शिकार हो जाता है।

6. प्राकृतिक रूप से विषाक्त आहार द्रव्यों का सेवन (Intake of Naturaly Toxic Food Materials)

कुछ आहार द्रव्यों में विषाक्तता होती है। अत: इन आहार द्रव्यों का सेवन करना अनेक रोगों का कारण होता है। जैसे- खेसारी की दाल का अधिक सेवन पक्षाघात उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार कोदों का चावल, आम की सड़ी हुई गुठली आदि भी विषाक्तता उत्पन्न करते हैं।

7. शरीर की संस्थानिक व्याधियाँ (Systemic Diseases of Body)

शारीरिक व्याधियां भी कुपोषण उत्पन्न करती हैं। कुछ प्रमुख व्याधियाँ जिनमें कुपोषण परिलक्षित होता है निम्नलिखित हैं-

(i) आमाशय में अम्ल द्रव्य का अभाव (Achlorhydria) होना जिससे भोजन का सम्यक पाचन नहीं होता है तथा पाण्डु रोग (Anaemia) उत्पन्न हो जाता है।

(ii) वसा का ठीक प्रकार पाचन नहीं होने के फलस्वरूप पुरीष में वसा की अधिकता हो जाती है (Steatorrhoea)

(iii) आमाशयगत अर्बुद (Cancer of Stomach)

(iv) अरुचि (Anorexia Nervosa)

8. आहार ग्रहण की अनुचित आदत (Defective Habits of food intake)

(i) एक ही प्रकार के आहार का अधिक समय तक सेवन

(ii) अनिवार्य रूप से शाकाहारी होना

(iii) सुरा (Wines) का अधिक मात्रा में सेवन शरीर को ऊर्जा तो प्रदान करता है परन्तु वास्तविक पोषण नहीं करता है। सुरा का लगातार सेवन अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करता है।

(iv) विभिन्न प्रकार की आन्त्रगत शल्यक्रिया, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को एक निश्चित दिशा निर्देश के अनुसार ही आहार लेना पड़ता है एवं यह व्यवस्था दोष पूर्ण होने से शरीर में कुपोषण उत्पन्न कर सकती है।

9. अत्यधिक कम मात्रा में आहार ग्रहण एवं उपवास करना (Very low quantity of intake of food and frequent fasting)

शरीर की आवश्यकता के विपरीत अल्प आहार ग्रहण करने से भी कुपोषण उत्पन्न होता है। अधिक व्रत, उपवास से भी ऊर्जा नष्ट होती है तथा धीरे-धीरे व्यक्ति कुपोषण का शिकार हो जाता है। कम मात्रा में आहार लेने से शरीर की चयापचय प्रक्रियाओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जिससे अरुचि, मूत्राशय एवं वृक्क के विकार, गम्भीर स्वरूप के जीर्ण रोगों की उत्पत्ति होना एवं शरीर के ओज का क्षय होकर अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

10. शरीर से पोषक तत्वों का अतिह्रास (Excessive Loss of Nutritious substances from body)

कई प्रकार की व्याधियों के कारण शरीर में अधिक मात्रा में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है। फलस्वरूप शरीर में उन तत्वों की कमी होकर-धीरे-धीरे कुपोषण उत्पन्न होने लगता है। इसके कुछ प्रमुख उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

(i) मधुमेह (Diabetes Mellitus) में अनियंत्रित शर्करा का नि:सरण होने से शरीर में शर्करा की कमी होने लगती है जिसकी चिकित्सा व्यवस्था शीघ्र न की जाए तो सार्वदैहिक लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

(ii) वृक्क की व्याधियों जैसे- वृक्काघात (Renal Failure) या अन्य वृक्क जन्य व्याधियों में प्राय: प्रोटीन का मूत्र के माध्यम से अधिक स्राव होकर मनुष्य शरीर में कुपोषण उत्पन्न हो सकता है।

(iii) अतिसार में अत्यधिक जल की कमी होने के साथ-साथ विभिन्न Electrolytes की भी कमी हो जाती है।

(iv) रक्त प्रदर, परिणाम शूल, अन्नद्रवशूल एवं अर्श इत्यादि व्याधियों में रक्तक्षय होने से रक्ताल्पता हो सकती है।

कुपोषण से बचाव
(Prevention from Malnutrition)

कुपोषण से बचाव के लिए सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है जिसके लिए बृहत् स्तर पर लोगों को जागरूक बनाना चाहिए। उनमें शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार, जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाना, टीकाकरण कार्यक्रम चलाना एवं कुपोषित व्यक्तियों की उचित देखभाल आदि अत्यन्त आवश्यक उपाय हैं। कुपोषण से बचाव के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिऐं—

1. पर्याप्त आहार द्रव्यों की उपलब्धता (Sufficient availability of food Materials)

सर्वप्रथम यह पता लगाना चाहिए कि किस प्रकार के आहार द्रव्य की कमी से कुपोषण उत्पन्न हुआ ? तत्पश्चात उन आहार द्रव्यों की प्रचुर मात्रा में समाज में उपलब्धता एवं वितरण सुनिश्चित करना चाहिए। इस कार्य में विशेषकर सरकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों की प्रमुख भूमिका रहती है।

2. आय के साधनों में वृद्धि (Increasing Per Capita Income)

गरीब एवं पिछड़े क्षेत्रों की पहचान सुनिश्चित करके वहां पर इस प्रकार के रोजगार सृजन करने का प्रयास करना चाहिए जिससे आम व्यक्ति का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके और उसकी क्रय शक्ति में वृद्धि हो। फलस्वरूप कुपोषण पर काबू पाया जा सकता है।

3. पोषण संबंधी शिक्षा व्यवस्था (Nutritional Education)

पोषण के संबंध में आम व्यक्ति को शिक्षित करना चाहिए कि उनके लिए संतुलित आहार का क्या महत्व है। पोषण की कमी से कौन-कौन से विकार उत्पन्न होते हैं। समाज में इस संबंध में जागरुकता फैलानी चाहिए तथा लोगों को प्रेरित करना चाहिए कि वे नियमित रूप से संतुलित आहार सेवन करें। इससे ही कुपोषण पर विजय पायी जा सकती है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सर्वसुलभ, सस्ते एवं उपयोगी आहार द्रव्यों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाए जो कि आम आदमी के पहुँच के भीतर हों।

4. जनसंख्या नियंत्रण (Population Control)

कुपोषण के संदर्भ में जनसंख्या नियंत्रण करना अत्यन्त महत्वपूर्ण उपाय है। समाज में विभिन्न भ्रांतियों एवं कुरीतियों को दूर करना चाहिए। यदि परिवार का आकार छोटा रहेगा तो उनको आसानी से संतुलित भोजन उपलब्ध कराया जा सकता है। वस्तुत: आम आदमी को संतति नियंत्रण के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उसके लाभ को प्रभावशाली ढंग से प्रचारित एवं प्रसारित करना चाहिए।

5. खाद्य सामग्री में आवश्यक तत्वों की उपलब्धता सुनिश्चित करना (Availability of food Materials with Essential Elements)

सामाजिक संरचना तथा उपलब्ध आहार द्रव्यों की गुणवत्ता को जांच के पश्चात जिस तत्व की उसमें कमी हो उसे अलग से मिश्रित करने के पश्चात ही उनकी उपलब्धता बाजार में सुनिश्चित करनी चाहिए। जैसे-नमक में आयोडीन की समुचित मात्रा होनी चाहिए। समय-समय पर विटामिन "ए" का वितरण करना, महिलाओं, विशेषकर गर्भवंती महिलाओं में लौह की गोलियां एवं फोलिक अम्ल की उचित मात्रा का सेवन सुनिश्चित करना इत्यादि।

6. कुपोषण के कारणों की शीघ्र पहचान एवं उनका शीघ्र निराकरण (Early Detection of causes of malnutrition and its Timely Management)

चिकित्सक का यह नैतिक दायित्व है कि वह समाज में फैले कुपोषण के कारणों का शीघ्रातिशीघ्र निदान कर उन्हें दूर करने का उपाय सुझाए जिससे अतिशीघ्र समस्या का निवारण किया जा सके।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित विभिन्न उपायों से कुपोषण को नियंत्रित किया जा सकता है।

4. रिकेट्स
(Rickets)

व्याधि परिचय

रिकेट्स मुख्यत: कैल्सियम और फॉस्फोरस के चयापचय (Metabolism) में विकृति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। शरीर में विटामिन 'डी' की कमी हो जाने पर यह महत्वपूर्ण व्याधि उत्पन्न होती है। विटामिन 'डी' की कमी के अतिरिक्त भी अनेक कारण हैं जो रिकेट्स की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रिकेट्स मुख्यत: बाल्यावस्था में बच्चों में पाया जाता है। युवा व्यक्तियों में रिकेट्स नहीं मिलता है। रिकेट्स में अस्थियों का सम्यक रूप से पोषण नहीं हो पाता है, जिसके कारण अस्थियाँ कमजोर एवं टेड़ी-मेढ़ी हो जाती हैं तथा शिशु कमजोर होने लगता है।

निदान

रिकेट्स के प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं—

1. शिशु को वस्त्रों से अधिक ढककर रखना, जिसके कारण सूर्य का प्रकाश उसके शरीर पर नहीं पढ़ता।
2. आहार में कैल्सियम एवं फॉस्फोरस की अल्पता होना।
3. ग्रहण किए गये आहार का आन्त्र द्वारा सम्यक अवशोषण नहीं होना।
4. शरीर में विटामिन 'डी' की कमी होना।
5. निरंतर ऐसे स्थान पर रहना जहां सूर्य की किरणें न पहुंचती हों।

सम्प्राप्ति

सूर्य की विशिष्ट किरणों (Ultraviolet Rays) के त्वचा के सम्पर्क में आने से विटामिन 'डी' का निर्माण होता है जो अस्थियों के समुचित विकास के लिए अत्यावश्यक होता है। किन्हीं कारणों से मनुष्य शरीर के सूर्य की किरणों से सम्पर्क न होने से शरीर में विटामिन 'डी' का निर्माण न होने अथवा अल्प मात्रा में होने की स्थिति में मनुष्य शरीर में 'रिकेट्स' नामक रोग उत्पन्न हो जाता है जिसका सीधा दुष्प्रभाव शरीर की हड्डियों पर पड़ता है।

विविध प्रकार के निदान सेवन के कारण सम्भवत: शरीर में अस्थि धातु का निर्माण सम्यक रूप से नहीं हो पाता है तथा अन्य उत्तरोत्तर धातु (यथा-मज्जा इत्यादि) निर्माण में भी विकृति उत्पन्न होती है। अस्थि निर्माण सुचारू रूप से नहीं होने से शारीरिक विकास प्रभावित होता है एवं अस्थियाँ दुर्बल होकर टेड़ी हो जाती हैं और शरीर में रिकेट्स रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन
↓
त्रिदोष प्रकोप
↓
अग्निमांद्य
↓
आमरस धातु की उत्पत्ति
↓
धात्वाग्नि मांद्य
↓
अपक्व रक्त, मांस, मेद एवं अस्थि धातु का अल्प निर्माण
↓
अन्तत: अस्थि धातु विकृति
↓
रिकेट्स रोग
(Rickets)

सम्प्राप्ति घटक

दोष	: त्रिदोष
दूष्य	: अस्थि, मज्जा
अधिष्ठान	: अस्थियाँ (शाखाएं)
स्रोतस	: रसवह, अस्थिवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	: विमार्गगमन
अग्निस्थिति	: अग्निमांद्य
व्याधिस्वभाव	: नवीन-मृदु, जीर्ण-दारुण
साध्यासाध्यता	: साध्य/कष्टसाध्य

पूर्वरूप

छोटे बच्चों में रिकेट्स की उत्पत्ति के पूर्व निम्न पूर्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं—

1. उद्विग्नता (Uneasiness)
2. चिड़चिड़ापन (Irritability)
3. ललाट पर अधिक स्वेद (Excessive sweating over Forehead)
4. कृशता (Emaciation)
5. पाण्डुता/पीलापन (Anaemia)

सामान्य लक्षण

रिकेट्स प्राय: शिशु के वृद्धि काल में ही सर्वाधिक मिलता है। तीन माह से कम आयु के शिशु में यह रोग नहीं मिलता है। रिकेट्स के सर्वाधिक रोगी प्राय: छ: माह से ढाई वर्ष तक की आयु के बच्चे होते हैं। रिकेट्स में निम्नलिखित लक्षण प्राय: मिलते हैं—

1. सिर के अगले एवं पिछले भाग की अस्थियों में उभार होना (Bossing of the Head)
2. सिर का बड़ा होना (Enlargement of head)
3. ब्रह्मरन्ध्र का बड़ा होना एवं देर से बंद होना (Delayed closing of cranial sutures)
4. कपालास्थियों की मृदुता (Softness of scalp bones)
5. दन्तोद्भव देर से होना एवं कृमिदन्त (Late Dentition and Dental carries)
6. वक्ष के सामने वाले भाग पर जहां दोनों तरफ की पर्शुकाएं (Ribs) संधि बनाती हैं उसके फूलने से रुद्राक्ष की माला के समान रचना बन जाना (Ricket Rosary)
7. मेरुदण्ड का पार्श्व में अथवा पीछे की तरफ मुड़ जाना (Scoliosis or Kyphosis)
8. मणिबंध संधि, जानुसंधि का अधिक मोटा एवं उभरा हुआ होना तथा पैर की अस्थियों का टेड़ा हो जाना (Bossing of wrist and knee joints with curvature of extremities)
9. शारीरिक वृद्धि रुक जाना (Retardation of Growth)
10. पाद तल का चपटा हो जाना (Flattening of soles of feet)
11. उदर का बाहर की तरफ निकल जाना (Protrusion of Abdomen)
12. विबंध एवं आक्षेप (Constipation and Tetany)
13. यकृत का सामान्य स्थान से नीचे की ओर आ जाना (Enlarged liver)
14. शिशु के सम्यक रूप से चलने-फिरने, उठने बैठने में कठिनाई (Difficulty in movements)
15. दौर्बल्य (Weakness)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. अष्टविध विशेषायतन एवं द्वादशासन विधि के अनुसार बालक को आहार देना
3. आहार में दुग्ध की मात्रा अधिक देना

4. शिशु को अधिक से अधिक सूर्य प्रकाश में रखना एवं कम से कम कपड़ों से ढँकना

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. सम्यक् पथ्यपालन
3. दुग्ध युक्त पदार्थों का अधिक मात्रा में प्रयोग
4. शिशु को प्रतिदिन 20-30 मिनट तक धूप में, खुले में रखना
5.

प्रात	:	सायम्
अग्निकुमार रस	:	65 मि.ग्रा.
प्रवाल पंचामृत	:	120 मि.ग्रा.
शंखभस्म	:	120 मि.ग्रा.
दुग्ध से		1 × 2 मात्रा

6.

कृमिमुद्गर रस	:	120 मि.ग्रा.
गुड़ से		1 × 2 मात्रा

7.

चित्रकादि वटी	:	120 मि.ग्रा.
कोष्णजल/शहद से		1 × 2 मात्रा

8. भोजनोत्तर

अरविन्दासव	:	15 मि.लि.
समभाग जल से		1 × 2 मात्रा

9. वातनाशक तैलों से सर्वशरीर अभ्यंग

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
दुग्ध एवं दुग्ध से बने पदार्थ, मधुर एवं स्निग्ध द्रव्य, स्तन पान, दलिया, मूंग, मसूर, अंडा, मांस, Cod Liver Oil, सूर्य प्रकाश, खुला एवं स्वच्छ वातावरण इत्यादि।	स्तन्यपान का अभाव, दुग्ध न देना, सर्वदा शरीर को ढक कर रखना एवं सूर्य प्रकाश में शिशु को नहीं रखना इत्यादि।

Management : Principles

1. Rich Diet- Containing plenty of milk.
2. Vitamin "D", Calcium and phosphorus supplements.
3. Symptomatic Management.
4. Regular exposure to sun rays for 20-30 minutes daily.
5. Proper sanitation and hygeinic environment.

5. अस्थि मार्दव
(Osteomalacia)

व्याधि परिचय

अस्थि मार्दव वयस्क व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाला प्रमुख कुपोषण जन्य रोग है। अस्थिमार्दव में विटामिन "डी" एवं कैल्सियम की अल्पता हो जाती है। अत: अस्थियों में दृढ़ता नहीं रहती एवं उनका स्वरूप सम्यक् रूप से विकसित नहीं हो पाता है। अस्थिमार्दव रोग भी लगभग रिकेट्स के समान ही होता है परन्तु मौलिक अन्तर यह है कि रिकेट्स बच्चों की और अस्थिमार्दव प्रौढ़ावस्था की व्याधि है। यह रोग स्त्रियों में विशेषकर अधिक मिलता है।

निदान

अस्थिमार्दव रोग के निदान लगभग रिकेट्स के निदान के समान ही होते हैं जो निम्न हैं—

1. सूर्य के प्रकाश का शरीर पर न लगना (Lack of exposure of solar rays)
2. वसा का आंत्र से कम मात्रा में अवशोषण होना (Fat malabsorption from gut)
3. यकृत जन्य व्याधियाँ (Liver disorders)
4. आहार में कैल्सियम एवं फॉस्फोरस की कमी होना (Dietary deficiency of Calcium and Phosphonus)
5. वृक्क जन्य व्याधियाँ (Kidney Disorders)
6. बीज दोष जनित अस्थिमार्दव (Type II Rickets)
7. मूत्राशय एवं मूत्र नलिका के अर्बुद (Renal Tumours)
8. जीर्ण चयापचय जन्य विकृतियाँ (Chronic Metabolic Disorders)
9. असम्यक् आहार (Incompatible Diet)

लक्षण

अस्थिमार्दव के निम्न लक्षण होते हैं—

1. अस्थियों में शूल एवं वेदना (Bony pains and tenderness)
2. अस्थियों का विकृत होना (Deformity of Bones)
3. मांसपेशियों में दुर्बलता (Weakness of muscles)
4. शरीर में कम्पन होना (Tremors of body)
5. धीरे-धीरे पर्शुकाएं (Ribs), त्रिकास्थि (Saccral Bone), बस्तिगुहा की अस्थि (Pelvic Bone) एवं पैरों (Legs) का बार-बार रोग से आक्रान्त होना
6. रोगी के चलने फिरने में कठिनाई (Difficulty in movements)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. रोगी को दुग्ध एवं दुग्ध विकारों का अधिक मात्रा में सेवन कराना
3. संतुलित आहार एवं विहार प्रयोग
4. सूर्य प्रकाश (किरणों) में रोगी को अधिक समय तक रखना
5. शरीर को वस्त्रों से अधिक न ढकना
6. लाक्षणिक चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. पथ्यपालन
3. दुग्ध पदार्थों का अधिक प्रयोग
4. रोगी को प्रतिदिन 20-30 मिनट तक धूप में रखना

5.	प्रात	: सायम्
	सितोपलादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	यवानी षाडव चूर्ण	: 3 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
6.	भोजनोत्तर	
	शंख भस्म	: 500 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	: 500 मि.ग्रा.
	श्रृंग भस्म	: 500 मि.ग्रा.
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
7.	चित्रकादि वटी	: 500 मि.ग्रा.
	जल से	1 × 2 मात्रा
8.	भोजनोत्तर	
	अश्वगन्धारिष्ट	: 20 मि.लि.
या	बलारिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

9. वातनाशक तैलों से सर्वशरीर अभ्यंग

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
दुग्ध, दधि, मक्खन, केला, अखरोट, पपीता, अरहर, उड़द, चना, मूंग, मसूर, अंडा, मांसरस, यकृत एवं सूर्यप्रकाश इत्यादि।	कटु, तिक्त पदार्थ, कुलत्थ, यव, दिवाशयन, मिथ्याहार एवं विहार, अतिविरेचन एवं अतिवस्त्रधारण इत्यादि।

Management : Principles

On the principles of management of Rickets.

6. रात्रि अंधता या नक्तान्ध्य
(Night Blindness)

व्याधि परिचय

रात्रि अन्धता एक प्रमुख कुपोषण जन्य व्याधि है जो प्राय: बच्चों में अधिक पायी जाती है। रात्रि अन्धता जीवनीय तत्व "ए" की कमी से होती है। यह जीवनीय तत्व केवल जन्तु उतकों में ही मिलता है। जीवनीय तत्व "ए" का Precursor वनस्पतियों में भी मिलता है जो मनुष्य की आंत्र में पहुंचकर जीवनीय तत्व "ए" में बदल जाता है। यह तत्व शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। संतुलित आहार सेवन नहीं करने के कारण भी जीवनीय तत्वों की शरीर में कमी हो जाती है। शरीर में जीवनीय तत्व "ए" की कमी से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं परन्तु उनमें से रात्रि अन्धता प्रमुख रोग है।

निदान

रात्रि अन्धता उत्पन्न होने के प्रमुख निदान निम्न हैं—

1. कुपोषण
2. कुछ निदानार्थकर रोग हैं जिनकी समुचित चिकित्सा नहीं करने पर ये रात्रि अन्धता उत्पन्न कर सकते है यथा-जीर्ण अतिसार (Chronic Diarrhoea, Malabsorption syndrome), अग्न्याशय (Pancreas) की विकृतियां, यकृत संबंधी विकार (Liver Disorders) आदि।
3. संतुलित आहार का अभाव
4. चयापचय जन्य विकृतियां जिनके परिणामस्वरूप आन्त्र से खाद्य पदार्थों का सम्यक् अवशोषण नहीं होना।

लक्षण

1. रात्रि में देखने में असमर्थता (Night Blindness)
2. नेत्र कला में शुष्कता (Xerosis)
3. नासा की ओर नेत्र प्रदेश में शुष्कता, खरता, झुर्रियाँ एवं गंदला भूरा वर्ण (Dryness, roughness and wrinkles at nasal side of the eyes)
4. नेत्र के वाह्य किनारों पर धब्बे (Bitot's spots)
5. चिकित्सा के अभाव में नेत्र के कृष्ण पटल में विकृति उत्पन्न होना (Keratomalacia)
6. संक्रमण के कारण सम्पूर्ण नेत्र में शोथ
7. हाथ एवं पैर की त्वचा में शुष्कता एवं शल्क युक्त त्वचा (Toad skin or follicular hyper-keratosis)
8. जिह्वा का विकृत हो जाना (Hypertrophy of tongue)
9. शरीर के विभिन्न संस्थानों जैसे- मूत्रवह, श्वसन इत्यादि में उपसर्ग होना

(Infections of Urinary, Respiratory and other systems of body)

- शरीर वृद्धि में अवरोध (Retardation of growth)

चिकित्सा सिद्धांत

1. मर्यादित रूप से संतुलित आहार-विहार पालन
2. पथ्यापथ्य पालन
3. लाक्षणिक चिकित्सा
4. उपद्रवों की शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. पथ्यापथ्य पालन
3. शोधन चिकित्सा
   (i) नेत्रतर्पण : दुग्ध, घृत, तैल से
   (ii) शिरो बस्ति
   (iii) नस्य कर्म
4. शमन चिकित्सा

(i) पिप्पल्यञ्जन	: प्रात: सायं
(ii) नक्तान्ध्यहरवर्ति से	: प्रात: सायं अंजन
(iii) नेत्र बिन्दु स्थानिक प्रयोग (नेत्रों में)	: 4-6 बूंद 1 × 4 मात्रा
(iv) महात्रिफलाद्य घृत दुग्ध से	: 20 मि.लि. 1 × 2 मात्रा
(v) त्रिफलादि योग गोघृत एवं शहद से	: 6 ग्राम 1 × 2 मात्रा

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
गोघृत, गोदुग्ध, मक्खन, गाजर, पालक, टमाटर, पपीता, नारंगी, यकृत, अंडा, मांस एवं यकृत से निकाला हुआ तैल इत्यादि।	कटु, तिक्त, रुक्ष पदार्थ, अल्पाहार, उष्ण, तीक्ष्ण पदार्थ, धूप, धूल एवं धुआँ इत्यादि।

Management : Principles

1. Rich Diet- Containg lot of milk, dark green and leafy vegetables and yellow fruits.
2. Oral administration of periodic high doses of vitamin "A" (60mg or 20,0000 IU) at 4-6 months intervals.
3. Symptomatic Management.

7. बेरीबेरी
(Beriberi)

व्याधि परिचय

बेरीबेरी रोग भी कुपोषण के कारण फैलता है। पूर्वकाल में यह रोग विश्वभर में पाया जाता था। परन्तु वर्तमान समय में यह रोग कम मिलता है। बेरीबेरी रोग से ग्रस्त रोगी धीरे-धीरे विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक विकारों से ग्रस्त रहते हुए चलने-फिरने में भी असमर्थ हो जाता है तथा कभी-कभी चिकित्सा न करने पर रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

निदान

बेरीबेरी रोग के निम्नलिखित प्रमुख निदान हैं—

1. छिलका हटाकर पालिश किये हुए चावल का अधिक मात्रा में प्रयोग
2. संतुलित भोजन का अभाव
3. आहार में दालें, अनाज, सब्जी आदि पर्याप्त मात्रा में नहीं होना
4. आन्त्र की विकृति जिसके कारण जीवनीय तत्व 'बी$_1$' (Vitamin B$_1$) के अवशोषण में कठिनाई होना
5. जीर्ण अतिसार

भेद

बेरीबेरी व्याधि निम्न दो प्रकार की होती है—

1. शुष्क बेरीबेरी (Dry Beriberi)
2. आर्द्र बेरीबेरी (Wet Beriberi)

1. शुष्क बेरीबेरी के लक्षण

(i) शुष्क बेरीबेरी रोग में मुख्यरूप से शरीर का तन्त्रिका तन्त्र (Nervous system) अथवा वातवह नाड़ियाँ प्रभावित होती हैं
(ii) चिड़चिड़ापन (Irritability)
(iii) थकावट (Letharginess)
(iv) मानसिक रूप से अस्थिरता (Emotional Disturbances)
(v) शिर: शूल (Headache)
(vi) तन्त्रिका तन्त्र में शोथ होना (Polyneuritis)
(vii) पैर की पिण्डलियों को दबाने पर उनमें दर्द होना (Tender calf muscles)
(viii) शिशु को उठने-बैठने में कठिनाई होना (Difficulty in sitting & standing)
(ix) क्षुधानाश (Poor Appetite)
(x) विबन्ध (Constipation)

(xi) भोजन का सम्यक् पाचन नहीं होना (Indigestion)
(xii) शरीर वृद्धि रुक जाना (Retardation of Growth)
(xiii) कार्श्य (Emaciation)

2. आर्द्र बेरीबेरी के लक्षण

(i) हृदय की धड़कन तीव्र होना (Palpitation)
(ii) हृदय गति में तीव्रता (Tachycardia)
(iii) श्वासकृच्छ्रता (Dyspnoea)
(iv) शोथ (Oedema), शोथ विशेषकर पैर, मुख प्रदेश एवं जंघा पर उत्पन्न होता है।
(v) पैरों में पेशिकाम्ल (Lactic Acid) जमा हो जाने के कारण चलने में कठिनाई एवं शूल
(vi) चिकित्सा न करने पर हृदय का आकार बढ़ जाता है (Cardiomegaly)
(vii) त्वचा में शीतलता का अनुभव (Cold skin)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. मशीन से छिलका साफ किए गये चावल का पूर्णत: निषेध
3. सम्यक् पथ्य एवं अपथ्य पालन
4. रोगी को पूर्ण विश्राम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	:	सायम्
	अश्वगन्धा चूर्ण	:	3 ग्राम
	गोदन्ती भस्म	:	250 मि.ग्रा.
	अग्नि कुमार रस	:	125 मि.ग्रा.
	तण्डुलोदक के साथ		1 × 2 मात्रा
2.	चित्रकादि वटी	:	500 मि.ग्रा.
	विषतिन्दुक वटी	:	250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से		1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर		
	यवानी षाडव चूर्ण	:	1 ग्राम
	पुष्कर मूल चूर्ण	:	1 ग्राम
	अर्जुन चूर्ण	:	1 ग्राम
	शहद के साथ		1 × 2 मात्रा

4. भोजनोत्तर
   अर्जुनारिष्ट : 20 मि.लि.
   अश्वगंधारिष्ट : 20 मि.लि.
   समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
5. रात्रि में
   त्रिफला चूर्ण : 3 ग्राम
   कोष्ण जल से 1 मात्रा
6. योगासन एवं प्राणायाम

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
गेंहूँ, यव, चावल, मूंग, उड़द, मसूर, चना, मटर, अरहर, सेम, मूंगफली, सोयाबीन, सहिजन, परवल, मांस, अंडा, मत्स्य, पालक, टमाटर, गाजर, चौलाई, गुडूची, पुनर्नवा एवं पपीता इत्यादि।	छिलका रहित पालिश किया हुआ चावल, कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही, अभिष्यन्दी, शुष्क, रुक्ष एवं बासी पदार्थ इत्यादि।

Management : Principles

1. Complete rest to the patient.
2. Balanced diet.
3. 50-100mg Thiamine Hydrochloride by slow I.V. injection immediately followed by 50-100mg I.M. daily for a week.
4. Symptomatic Management.

8. पेलाग्रा
(Pellagra)

व्याधि परिचय

पेलाग्रा एक प्रमुख कुपोषण जन्य रोग है। यह वस्तुत: जीवनीय तत्व "नियासिन" (PP Factor) की कमी से उत्पन्न होता है। पेलाग्रा प्राय: उन व्यक्तियों में अधिक होता है जो मक्का (Maize) लम्बे समय तक लगातार अधिक सेवन करते हैं। उन सभी देशों में यह व्याधि अधिक होती है जहां पर मक्का मुख्य भोजन होता है। पेलाग्रा रोग में सार्वदैहिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। भारत में मुख्यत: राजस्थान, महाराष्ट्र प्रदेशों में

यह रोग अधिक पाया जाता है। वैश्विक स्तर पर दक्षिण अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका एवं एशिया के कुछ देशों में यह व्याधि अधिक मिलती है।

निदान

पेलाग्रा रोग के प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं—

1. संतुलित भोजन का अभाव
2. मक्का का अधिक समय तक लगातार सेवन
3. अत्यधिक मद्यपान
4. आन्त्रगत जीर्ण व्याधियां जैसे- जीर्ण अतिसार, ग्रहणी रोग इत्यादि
5. आहार में सम्यक पोषक तत्वों का अभाव
6. गरीबी एवं अशिक्षा

प्रमुख लक्षण

पेलाग्रा रोग को तीन "Ds" का रोग कहा जाता है—

(i) Dermatitis (ii) Diarrhoca (iii) Dementia

पेलाग्रा रोग में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

1. अतिसार (Diarrhoea/Loose motions)
2. क्षुधा नाश (Poor Appetite)
3. हल्लास (Nausea)
4. वमन (Vomiting)
5. मांस पेशियों में दुर्बलता (Weakness in Muscles)
6. मानसिक विकास में अवरोध (Mental Retardation)
7. स्मृति नाश (Loss of memory)
8. त्वचा पर चकते (Pigmented and scaly skin)
9. त्वचा का शुष्क, खर, रक्ताभ एवं पपड़ी युक्त होना (Dry, rough, reddish coloured and scaly skin)
10. चिन्ता (Anxiety)
11. उत्साहीनता (Inertness)
12. प्रलाप (Delirium)
13. रोगी के शरीर भार में कमी (Body weight loss)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. लाक्षणिक चिकित्सा
3. संतुलित आहार सेवन
4. पथ्यापथ्य पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	निदान परिवर्जन	
2.	प्रात	: सायम्
	दाड़िमाष्टक चूर्ण	: 2 ग्राम
	आमलकी चूर्ण	: 2 ग्राम
	गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	रस माणिक्य	: 125 मि.ग्रा.
	नवायस लौह	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	चित्रकादि वटी	: 500 मि.ग्रा.
	ब्राह्मी वटी	: 500 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
4.	सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.लि.
	मञ्जिष्ठाद्यरिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	: 1 × 2 मात्रा
5.	ब्रह्म रसायन	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
6.	पथ्यापथ्य पालन	

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
गेंहूँ, यव, चावल, मूंग, उड़द, मसूर, चना, मटर, सेम, अरहर, राजमां, मूंगफली, सोयाबीन, सहिजन, परवल, पालक, मेथी, करेला, मांस, मत्स्य एवं अंडा इत्यादि।	मद्य, मक्का, पालिश किया चावल, कटु, तिक्त, तीक्ष्ण, रुक्ष आहार एवं अव्यवस्थित दिनचर्या इत्यादि।

Management : Principles

1. Balanced Diet containing plenty of Proteins, Iron and Vitamin B Complex.
2. Nicotinamide 100 mg 8 hourly by mouth or parenteral route.
3. Symptomatic management.

9. स्कर्वी
(Scurvy)

व्याधि परिचय

स्कर्वी रोग प्राय: उन व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है जो पत्तेदार सब्जियों, फल, नींबू आदि का सेवन नहीं करते हैं। स्कर्वी रोग का मुख्य कारण जीवनीय तत्व "सी" (Ascorbic Acid) की कमी होना है। शरीर में लौह तत्व, प्रोटीन आदि की कमी भी स्कर्वी रोग की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत में स्वर्की रोग प्राय: कम पाया जाता है लेकिन शुष्क प्रदेशों जैसे राजस्थान, मध्य प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अभी भी यह रोग बहुतायत से पाया जाता है।

निदान

स्कर्वी रोग उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. संतुलित भोजन का अभाव
2. आहार में नारंगी, नींबू, अनार, ऑवला, टमाटर जैसे फलों की कमी
3. आन्त्रगत कृमि
4. आन्त्रगत जीर्ण रोग जिनके कारण पोषक द्रव्यों का अवशोषण कम होने से कुपोषण होकर स्कर्वी रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

सामान्य लक्षण

1. क्षुधा में कमी (Anorexia)
2. दाँत के मसूड़ों में शोथ एवं रक्त स्राव (Swelling and bleeding from gums)
3. कभी-कभी लम्बी अस्थियों के शीर्ष प्रदेश से भी रक्तस्राव होता है (Haemorrhage from periosteum of long bones)
4. त्वचा पर रक्तवर्ण के चकत्ते होना (Patechiae)
5. रक्ताल्पता (Anaemia)
6. दांतों के बीच पपड़ी बन जाना (Tartar on Teeth)
7. सर्वांग में वेदना (Bodyache)
8. जोड़ों में दर्द (Joint pains) एवं शोथ (Oedema)
9. दौर्बल्य (Weakness)
10. सुस्ती एवं थकान (Letharginess)
11. व्याधिक्षमत्व में कमी (Decreased Immunity)
12. शरीर के घाव भरने में देरी (Delayed healing of wounds)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार
3. ताजे, खट्टे फ़लों का अधिक प्रयोग
4. सम्यक् दिनचर्या पालन
5. पथ्यापथ्य का नियमानुसार पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात :	सांय
	आमलकी चूर्ण	: 3 ग्राम	
	नागराद्य चूर्ण	: 1 ग्राम	
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा	
2.	भोजनोत्तर		
	बोल चूर्ण	: 2 ग्राम	
	नागकेशर चूर्ण	: 1 ग्राम	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
3.	आमल्क्यावलेह	: 10 ग्राम	
	च्यवनप्राशावलेह	: 10 ग्राम	
	दुग्ध से	: 1 × 2 मात्रा	
4.	नवायस लौह	: 500 मि.ग्रा.	
	प्रवालपिष्टी	: 250 मि.ग्रा.	
	बोल बद्ध रस	: 125 मि.ग्रा.	
	शहद से	: 1 × 2 मात्रा	
5.	भोजनोत्तर		
	द्राक्षासव	: 20 मि.लि.	
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा	
6.	शुभ्रा (स्फटिका) युक्त जल से गण्डूष एवं कवलधारण		
7.	स्थानीय प्रयोगार्थ		
	दशन संस्कार चूर्ण	: 3 ग्राम	
	शीतल जल से	: 1 × 2 मात्रा	

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
नींबू, नारंगी, ऑवला, अनार, केला, चांगेरी, बेर, टमाटर, अमरुद, गोभी, पालक, मेंथी, बथुआ, चौलाई, अंकुरित चना, अंकुरित मूंग, अंकुरित उड़द, अंकुरित अन्य अनाज, पपीता, संतरा, घृत, मांस एवं मत्स्य इत्यादि।	यव, कोदो, मक्का, श्यामाक, तले-भुने, बासी पदार्थ, विदाही अन्न, अति व्यवाय, अति क्रोध एवं अति व्यायाम इत्यादि।

Management : Principles

1. **Balanced diet containing plenty of citrous fruits.**
2. **Vitamin "C" 250 mg 8 hourly by mouth for two months.**
3. **Adequate supplements of Iron and Folic acid.**
4. **Symptomatic Management.**

अध्याय 3

विभिन्न अंत: स्त्रावी ग्रंथियों की व्याधियां
(VARIOUS DISORDERS OF ENDOCRINE GLANDS)

परिचय

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में अंत:स्त्रावी ग्रंथियों एवं उनके स्त्राव के संदर्भ में वर्णन नहीं मिलता है। वस्तुत: अंत:स्त्रावी ग्रंथियों का विस्तृत वर्णन, उनकी संरचना, कार्य प्रणाली तथा उनके द्वारा स्त्रावित विभिन्न प्रकार के हार्मोन का वर्णन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आयुर्वेद में सूक्ष्म स्वरूप में अंत:स्त्रावी ग्रंथियों की कार्य प्रणाली का संकेत मिलता है। आयुर्वेद में स्थूल एवं सूक्ष्म दो प्रकार के स्त्रोतस का वर्णन मिलता है। स्थूल स्त्रोतस भी सामन्यत: 13 प्रकार के होते हैं एवं 14वाँ आर्तववह स्त्रोतस माना गया है। दूसरी तरफ सूक्ष्म स्त्रोतसों की संख्या अंसख्य बतायी गयी है। सूक्ष्म स्त्रोतस (Microcirculatory channels) के द्वारा ही सम्भवत: अंत:स्त्रावी ग्रंथियों की क्रिया प्रणाली का सामंजस्य स्थापित हो सकता है। आयुर्वेद में आम एवं अग्नि का भी व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है। अत: आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से समग्र रूप से अध्ययन करने पर अन्त: स्त्रावी ग्रंथियों के क्रिया विन्यास को समझा जा सकता है।

अन्त:स्त्रावी संस्थान (Endocrine System)

अंत: स्त्रावी ग्रंथि विज्ञान, हार्मोन के निर्माण, स्त्राव एवं उनकी क्रिया (Action) से संबंधित है। हार्मोन्स एक प्रकार के रासायनिक दूत (Chemical messengers) होते हैं जो मनुष्य की कोशिकाओं (Cells) की गतिविधियों के साथ समन्वय स्थापित करते हैं। शरीर में दो प्रकार के नियंत्रण तन्त्र (Controll Systems) होते हैं—

1. तंत्रिका तंत्र (Nervous system)
2. अंत:स्त्रावी संस्थान (Endocrine system)

इनमें से तंत्रिका तंत्र (Nervous system) विद्युत रासायनिक (Electrochemical) संकेतों को विशिष्ट तंत्रिका सूत्रों (Nerve Fibres) के द्वारा नियंत्रित करता है जबकि दूसरी ओर अंत: स्त्रावी संस्थान अपने हार्मोन्स को रक्त संवहन (Blood circulation) में छोड़ते (Release) हैं जहां से वह अपने निर्धारित स्थान पर पहुंचकर निर्धारित विशेष कार्य को संपादित करते हैं।

सबसे प्रमुख अंत:स्रावी ग्रंथियों की व्याधियों में अवटु ग्रंथि (Thyroid gland), परा अवटु ग्रंथि (Parathyroid gland), अग्न्याशय (Pancreas), पीयूष ग्रंथि (Pituitary Gland), इत्यादि की व्याधियों की गणना की जाती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation) के अनुसार 1-5% व्यक्तियों की मृत्यु अंत:स्रावी ग्रंथियों की व्याधियों के फलस्वरूप होती है। परंतु बड़ी संख्या में लोग अंत:स्रावी ग्रंथियों के रोगों से पीड़ित रहते हैं, हालांकि उनमें मृत्यु दर कम रहती है।

अंत: स्रावी ग्रंथियों की क्रियाविधि में निरंतरता एवं सम्यक् कार्यक्षमता अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह मनुष्य शरीर को स्वस्थ रखने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यदि किसी प्रकार से इनके स्रावों में कमी या अधिकता उत्पन्न हो जाती है तो व्यक्ति अनेक प्रकार की दीर्घकालीन व्याधियों से ग्रसित हो जाता है। इनमें से कुछ व्याधियां घातक भी होती हैं। अत: अंत: स्रावी संस्थान की कार्य प्रणाली एवं उनकी विकृतियों का समुचित ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यहां प्रमुख अंत: स्रावी ग्रंथियों की सामान्य क्रियाविधियों एवं उनकी विकृतियों से उत्पन्न व्याधियों का वर्णन किया जा रहा है।

1. अवटु या चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid Gland)

परिचय

अवटु ग्रंथि ग्रीवा में, श्वास पथ (Trachea) के उर्ध्वभाग में 5वें, 6वें एवं 7वें ग्रीवा कशेरुका (Cervical Vertebrae) के ठीक सामने स्थित होती है। इसके दो खण्ड (Lobes) होते हैं जो शंकु (Cone) के आकार के होते हैं। अवटु ग्रंथि का सामान्य भार (Weight) लगभग 20-30 ग्राम तक होता है। ग्रंथि का आकार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुछ बड़ा होता है। गर्भावस्था (Pregnancy) एवं मासिक स्राव (Menstrual Cycle) के समय ग्रंथि का आकार कुछ और बढ़ जाता है।

अवटु ग्रंथि के सामान्य कार्य (Functions of the Thyroid Gland)

अवटु ग्रंथि अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथि है जो कि पूरे शरीर के चयापचय (Metabolism) एवं कार्य को प्रभावित करती है। अवटु ग्रंथि के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. अवटु ग्रंथि के स्राव में मुख्यत: "T_4" एवं "T_3" हार्मोन होते हैं। जिन्हें क्रमश: "थायराक्सिन" (Thyroxine) एवं "ट्राईआयडोथायरोनिन" (Tri iodothyronine) कहते हैं। इन हार्मोन्स में आयोडीन की मात्रा अधिक होती है। यह हार्मोन शरीर की वृद्धि, विकास एवं पूर्णता के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनकी शरीर में सामान्य मात्रा निम्न अनुसार होती है—

(i) T_3 (Tri-iodothyronine): 80-100 ng/dl
(ii) T_4 (Thyroxine) : 4-12 µg/dl

2. थायराइड हार्मोन शरीर की सामान्य चयापचय दर को बढ़ाता है (Increases the Basal Metabolic Rate)। चयापचय दर अधिक होने के कारण शरीर भार कम होता है एवं शरीर में उष्मा (Temperature) की अधिक उत्पत्ति होती है।
3. अवटु ग्रंथि का स्राव एन्जाइम की क्रियाशीलता को बढ़ाता है तथा कोलेस्ट्राल के निर्माण (Synthesis) एवं विघटन (Catabolism) को नियमित करता है।
4. थायराक्सिन हार्मोन यकृत को भी प्रभावित करता है तथा शरीर की रक्तगत शर्करा (Blood Sugar) को बढ़ा देता है एवं आंत्र के द्वारा रक्त शर्करा के अवशोषण को भी नियमित करता है।
5. थायराक्सिन हार्मोन प्रोटीन के निर्माण (Synthesis) तथा विघटन (Catabolism) को प्रेरित (Stimulate) करता है।
6. थायराक्सिन हार्मोन मूत्र के माध्यम से शरीर से कैल्सियम को निष्कासित करता है। अत: अतिस्राव की स्थिति में अस्थिक्षय होने लगता है।
7. थायराक्सिन हार्मोन की अधिक मात्रा हृदय गति को बढ़ाती है एवं उच्चरक्त चाप की स्थिति को उत्पन्न करती है।
8. बाल्यावस्था (एक वर्ष की आयु तक) में तंत्रिका तंत्र के पूर्ण विकास के लिए थायराक्सिन हार्मोन की अत्यन्त आवश्यकता होती है, अन्यथा मस्तिष्क (Brain) का आकार छोटा रह जाता है एवं मानसिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है।
9. अस्थिधातु के विकास एवं अस्थिभवन (Ossification) के लिए भी थायराक्सिन हार्मोन आवश्यक होता है।
10. थायराक्सिन हार्मोन की कमी से स्त्रियों में रज: स्राव अधिक (Menorrhagia) होता है।

अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता/अथवा अवटु ग्रंथि के स्राव का अतियोग (Hyper Thyroidism)

परिचय

अवटु ग्रंथि के स्राव का अतियोग (Hyperthyroidism) में अनेक लक्षण एवं स्थितियां एक साथ उत्पन्न होती हैं। यह व्याधि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में पांच गुना अधिक पायी जाती है। अवटु ग्रंन्थि स्राव की अधिकता में शरीर के सभी संस्थान आवश्यक रूप से प्रभावित होते हैं। अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता (Hyperthyroidism)

में T_3 एवं T_4 हार्मोन का रक्तगत स्तर बढ़ जाता है इनमें भी T_3 की मात्रा T_4 की तुलना में अधिक बढ़ी हुई होती है। पीयुष ग्रंथि से स्रावित होने वाले TSH हार्मोन (Thyroid Stimulating Hormone) की मात्रा भी सामान्यत: अधिक होती है।

अवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता का निदान
(Aetiology of Hyper Thyroidism)

अवटु ग्रंथि के अतिस्राव अथवा अतिक्रियाशीलता के प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं—

1. ग्रेव की व्याधि (Grav's Disease)
2. गलगण्ड अथवा घेंघा रोग (Goitre)
3. अवटु ग्रंथि में शोथ (Thyroiditis)
4. कुछ आधुनिक औषधियाँ भी अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता उत्पन्न करती हैं।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार करने पर अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता का कारण पित्त दोष की विकृति प्रतीत होती है। पित्त दोष की अधिकता से जाठराग्नि की अतिवृद्धि हो जाती है जिसके कारण भूताग्नि एवं धात्वाग्नियों की भी अतिक्रियाशीलता उत्पन्न होने लगती है। वृद्धि को प्राप्त धात्वाग्नियां सम्भवत: धातुपाक की क्रिया को तीव्र करती हैं जिससे सभी धातुओं का क्षय होने लगता है। फलस्वरूप व्यक्ति का शारीरिक भार कम होने लगता है लेकिन उसकी जाठराग्नि अप्रभावित अथवा तीव्र रहती है।

अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता के जो लक्षण आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में बताए गये हैं उनका सूक्ष्म विवेचन करने पर वह पित्त वृद्धि के लक्षणों से पर्याप्त साम्यता रखते हैं। अत: अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता का कारण आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से पित्त दोष विकृति को माना जा सकता है।

लक्षण (Clinical Features of Hyper Thyroidism)

अवटु ग्रंथि का स्राव शरीर के प्राय: सभी संस्थानों को प्रभावित करता है और इसके निम्नलिखित मुख्य लक्षण होते हैं—

1. गलगण्ड (Goitre)

गलगण्ड सामान्य स्वरूप का अथवा ग्रंथियुक्त गलगण्ड (Nodular Goitre) भी हो सकता है।

2. पाचन संस्थान गत लक्षण (Gastrointestinal Symptoms)

(i) सामान्य क्षुधा अथवा अधिक क्षुधा के बावजूद शरीर भार कम होना (Weight loss despite normal or increased Appetite)
(ii) अधिक मल प्रवृत्ति (Excessive defecation)
(iii) अतिसार (Diarrhoea)

(iv) अरुचि (Anorexia) (v) वमन (Vomiting)

3. रक्तवह एवं श्वसन संस्थान के लक्षण (Cardiorespiratory Symptoms)

(i) हृदय की धड़कन एवं हृदयगति बढ़ जाना (Palpitation and Tachycardia)
(ii) नाड़ी का दबाव बढ़ना (Increased Pulse Pressure)
(iii) बिना हृदय गत व्याधि के गुल्फ संधि में शोथ (Ankle Oedema without cardiac disease)
(iv) हृच्छूल (Angina)
(v) कार्य करने पर श्वास कृच्छ्रता (Dyspnoea on exertion)
(vi) तमक श्वास (Bronchial Asthma)

4. तंत्रिका तंत्र एवं मांसगत लक्षण (Nuromuscular symptoms)

(i) घबराहट, चिड़चिड़ापन, भावनात्मक परेशानी (Nervousness, Irritability and Emotional Conflicts)
(ii) उन्माद (Psychosis)
(iii) मांसगत कमजोरी (Muscular Weakness)
(iv) कभी-कभी पक्षाघात जैसी अवस्था (Periodic/Transient Paralysis)

5. त्वचागत लक्षण (Dermatological Symptoms)

(i) स्वेदन अधिक होना (Increased Sweating)
(ii) त्वचा में कंण्डू (Itching)
(iii) हथेली की त्वचा में विकार (Palmar Erythema)
(iv) चकत्ते के रूप में बालों का गिरना (Alopecia)
(v) त्वचा पर चकत्ते अथवा सफेद दाग (Hypopigmentation/Vitiligo of skin)
(vi) अंगुलि के अग्रिम भाग में उभार (Digital Clubbing)

6. प्रजनन संस्थानगत लक्षण (Symptoms of Reproductive System)

(i) रजोनाश (Amenorrhoae)
(ii) अल्पार्तव (Oligomenorrhoea)
(iii) अचानक गर्भस्राव हो जाना (Spontaneous Abortion)
(iv) रतिक्रिया में अनिच्छा (Loss of Libido)
(v) नपुंसकता (Impotence)

7. **नेत्रगत लक्षण (Ocular Symptoms)**

(i) नेत्र बाहर की ओर निकल जाना (Exophthalmos)

(ii) नेत्र की पलक का ऊपर चढ़ जाना (Lid Retraction)

(iii) नेत्र में कुछ किराकिराहट अथवा कुछ पड़े हुए होने का आभास (Feeling of some foreign body in the eyes)

(iv) नेत्र से अत्यधिक अश्रुस्राव (Excessive Lacrimation)

(v) नेत्र का रक्तवर्ण होना (Congestion of Eyes)

(vi) नेत्र से देखने में कठिनाई अथवा दिखायी न देना (Loss of Visual Acuity)

8. **अन्य लक्षण (Other Symptoms)**

(i) उष्णता को सहन न कर पाना (Heat Intolerance)

(ii) थकावट (Fatigue)

(iii) पुरुषों में स्तन का विकास होना (Gynaecomastia)

(iv) प्यास (Thirst)

अवटु ग्रंथि (Thyroid Gland) के अंत:स्राव थायराक्सिन (Thyroxin) का मुख्य घटक द्रव्य आयोडीन होता है जिसके साथ टाइरोसिन नामक एमिनो एसिड मिलकर थायराक्सिन हार्मोन का निर्माण करता है। शरीर में जब आयोडीन की कमी हो जाती है अथवा आंत्र या ग्रहणी द्वारा आयोडीन का पर्याप्त अवशोषण नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे शरीर में थायराक्सिन हार्मोन की कमी होने लगती है तथा पूर्वोक्त वर्णित लक्षण शरीर में उत्पन्न होने लगते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा

(i) भस्मक रोग के समान ही अवटुग्रंथि की अतिक्रियाशीलता में पित्त की अत्यधिक वृद्धि रहती है। अत: इसमें पित्तनाशक विरेचन कराना चाहिए।

(ii) रक्तमोक्षण

3. शमन चिकित्सा

(i) यवागू बनाकर उसमें मधु का मोम ओर घृत मिलाकर सेवन कराना चाहिए।

(ii) बेर की गुठली की मज्जा का कल्क पान कराना।

(iii) स्त्री दुग्ध में उदुम्बर छाल पीसकर पान कराना।

(iv) मधुर, मेध्य, कफकारक, गुरु आहार का लगातार प्रयोग।

(v) आयोडीन युक्त आहार द्रव्य अथवा आयोडीन नमक का प्रयोग, दूध, प्याज, गाजर का अधिक प्रयोग।

4. शस्त्र कर्म
5. पथ्यापथ्य का पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	:	सायम्
	चौंसठ प्रहरी पिप्पली	:	500 मि.ग्रा.
	जलकुम्भी भस्म	:	500 मि.ग्रा.
	दुग्ध से		1 × 2 मात्रा
2.	शतावरी चूर्ण	:	2 ग्राम
	आमलकी रसायन	:	2 ग्राम
	कोष्ण जल से		1 × 2 मात्रा
3.	अपामार्ग तण्डुल पायस	:	40 ग्राम
	जल से	:	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर		
	कुमार्यासव	:	20 मि.ली.
	समभाग जल से	:	1 × 2 मात्रा
5.	योगासन	:	हलासन, सर्वांगासन, शीर्षासन, जानुपादासन, इत्यादि।

विशेष-अवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता (Hyperthyrodism) रोग की चिकित्सा भस्मक रोग के चिकित्सा सिद्धांत के अनुसार करनी चाहिए।

Management : Principles

1. Anti Thyroid Drugs- Carbimazole 5-20 mg daily for 18-24 months.
2. Subtotal Thyroidectony.
3. Radio Iodine.

अवटु ग्रंथि स्राव की अल्पता
(Hypo Thyroidism)

अवटु ग्रंथि (Thyroid Gland) की अल्पक्रियाशीलता के कारण शरीर में थायराइड हार्मोन का अपर्याप्त मात्रा में स्राव होता है इस अवस्था को (Hypothyroidism) कहते हैं। Hypothyroidism में "T_4" हार्मोन की रक्तगत मात्रा कम हो जाती है (सामान्य मात्रा 4-12 µg/dl)। "TSH" हार्मोन का रक्तगत स्तर सामान्य से बढ़ जाता है जो लगभग 15-20 mU/L से अधिक होता है। Hypothyroidism में "T_3" हार्मोन की रक्तगत

सांद्रता का कोई विशेष महत्व नहीं होता है और प्राय: इसकी जांच की आवश्यकता नहीं होती है।

प्राय: अवटु ग्रंथि की अल्पक्रियाशीलता से दो तरह के लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. बच्चों में उत्पन्न होने वाले लक्षण
2. वयस्क व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले लक्षण

1. बच्चों में उत्पन्न अवटु ग्रंथि स्राव की अल्पता (Critinism)

शिशु जन्म के समय यदि अवटु ग्रंथि अविकसित अथवा रोगग्रस्त रहती है तो "क्रिटिनिज्म" नामक व्याधि उत्पन्न होती है। यह व्याधि प्राय: शिशु की दो वर्ष की आयु तक होती है। इस अवस्था में मस्तिष्क का सर्वाधिक विकास होता है तथा इसके लिए समुचित मात्रा में अवटु ग्रंथि स्राव की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में अवटु ग्रंथि स्राव की अल्पता के कारण मुख्यत: शिशु का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

निदान एवं सम्प्राप्ति

जन्मगत अवटु ग्रंथि अल्प स्राव के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. अवटु ग्रंथि में विकास जन्य विकृति होना (Developmental Anomalies) जैसे- अवटु ग्रंथि का अपने स्वस्थान पर नहीं होना (Ectopic Thyroid)
2. वंशानुगत विकृति (Genetic Defect) : वंशानुगत विकृति में प्राय: आयोडीन के ग्रहण एवं उससे हार्मोन निर्माण प्रक्रिया में विकृति होती है जिससे समुचित मात्रा में हार्मोन का निर्माण नहीं हो पाता है।
3. गर्भावस्था में विषाक्त औषधियों का सेवन अथवा अवटु ग्रंथि प्रतिरोधी (Anti Thyroid) औषधि प्रयोग।
4. जनपदोध्वंस जन्य अवटु ग्रंथि अल्प क्रियाशीलता (Endemic Cretinism): इस प्रकार की समस्या प्राय: उन स्थानों पर देखी जाती है जहां उस क्षेत्र में उपलब्ध खाद्य पदार्थों में आयोडीन की कमी होती है।
5. अपर्याप्त दुग्ध पान (Poor Milk Feeding)

उपरोक्त सभी कारणों के परिणाम स्वरूप क्रिटिनिज्म व्याधि की उत्पत्ति होती है।

सामान्य लक्षण

क्रिटिनिज्म के लक्षण प्राय: जन्म के कुछ सप्ताह से लेकर महीनों तक प्रकट होते रहते हैं। इस व्याधि के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. शुष्क एवं मछली की शल्क के समान त्वचा (Dry and scaly skin)
2. विबंध (Constipation)
3. भारी आवाज में रोना (Hoarse Cry)
4. हृदय गति सामान्य से कम होना (Bradycardia)
5. अस्थि का अपर्याप्त विकास (Impaired skeletal Development)

6. गोलाकार चेहरा (Rounded face)
7. बौनापन (Dwarfism)
8. ललाट पतला, नेत्र दूर-दूर तथा नाक चपटी एवं चौड़ी होती है (Narrow fore head, widely set eyes and flat, broad nose)
9. उदर प्रदेश आगे की तरफ निकला रहता है (Protuberant Abdomen)
10. बहरापन (Deafness)
11. अवरुद्ध मानसिक विकास (Mental Retardation)
12. मांस पेशियों में कड़ापन (Spasticity in muscle)

2. वयस्क व्यक्तियों में अवटु ग्रंथि स्राव की अल्पता (Myxoedema)

वयस्क अवस्था में यदि अवटु ग्रंथि की क्रिया मंद पड़ जाती है तो उस अवस्था को मिक्सिडिमा कहते हैं। मिक्सिडिमा के निदान, सम्प्राप्ति एवं लक्षण निम्न प्रकार हैं—

निदान एवं सम्प्राप्ति

वयस्क अवस्था में अवटु ग्रंथि के अल्पस्राव के अनेक कारण होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. शल्य क्रिया अथवा विकिरण द्वारा अवटु ग्रंथि को निकाल देना
2. क्षेत्र विशेष में आयोडीन की कमी (Endemic Goitre)
3. अवटु ग्रंथि में अर्बुद (Thyroid cancer)
4. लंबे समय तक अवटु ग्रंथि प्रतिरोधी औषधियों का सेवन (Prolonged Administration of Anti thyroid Drugs)
5. बिना निश्चित कारण के अवटु ग्रंथि क्रियाशीलता में कमी (Idiopathic Myxodema)

सामान्य लक्षण

मिक्सिडिमा के सामान्य लक्षणों की उत्पत्ति धीरे-धीरे होती है। कई वर्षों के पश्चात पूर्ण विकसित स्वरूप में यह व्याधि निम्न लक्षणों के साथ प्रकट होती है—

1. शीत असहिष्णुता (Cold Intolerance)
2. मानसिक एवं शारीरिक थकान (Mental and Physical Lethargy)
3. विबंध (Constipation)
4. आवाज एवं मानसिक कार्यक्षमता में धीरे-धीरे कमी (Slowing of Speech and Intellectual functions)
5. चेहरे पर हल्का शोथ (Puffiness of face)
6. बालों का गिरना (Loss of Hairs)
7. त्वचा के स्वरूप में परिवर्तन (Altered texture of skin)

अवटु ग्रंथि का स्राव अल्प मात्रा में होने के फलस्वरूप शरीर का सामान्य चयापचय प्रभावित होता है तथा शरीर का प्रत्येक अवयव न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्रभावित होता

है। प्रत्येक संस्थान गत लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. **प्रमुख लक्षण (Main Symptoms)**
(i) थकावट (Tiredness)
(ii) शरीर भार में वृद्धि (Weight Gain)
(iii) शीत असहिष्णुता (Cold Intolerance)
(iv) आवाज में भारीपन (Hoarseness of voice)
(v) गलगण्ड (Goitre)

2. **रक्तवह एवं श्वसन संस्थान के लक्षण (Cardio Respiratory Symptoms)**
(i) हृदय गति में कमी (Bradycardia)
(ii) अल्परक्तचाप (Hypotension)
(iii) हृदयाघात (Cardiac Failure)
(iv) हृच्छूल (Angina)
(v) हृदयावरण एवं फुफ्फुसावरण में द्रव पदार्थ एकत्र होना (Pericardial & Pleural Effusion)

3. **तंत्रिका एवं मांसगत लक्षण (Neuromuscular Symptoms)**
(i) शरीर में ऐंठन एवं वेदना (Aches and body pains)
(ii) मांसपेशियों में कड़ापन (Stiffness of muscles)
(iii) बहरापन (Deafness)
(iv) चलने-फिरने में एक तरफ लुढ़क जाना(Cerebellar Ataxia)
(v) मांस पेशियों में खिंचाव के पश्चाच अस्थायी कठोरता (Tonic spasm of muscles or temporary rigidity after muscular contraction)

4. **त्वकगत लक्षण (Dermatological Symptoms)**
(i) शुष्क त्वचा (Dry Skin)
(ii) गंजापन (Alopecia)
(iii) होठों का अधिक रक्तवर्ण का होना (Purplish Lips)
(iv) सफेद दाग (Vitiligo)
(v) मिक्सिडिमा (Myxoedema)

5. **प्रजनन संस्थानगत लक्षण (Reproductive Symptoms)**
(i) अत्यधिक रक्तस्राव (Menorrhagia)
(ii) बन्ध्यत्व (Infertility)
(iii) स्तन से अत्यधिक दुग्ध प्रवृत्ति (Galactorrhoea)
(iv) नपुंसकता (Impotence)

6. **पाचन संस्थानगत लक्षण (Gastrointestinal Symptoms)**
(i) विबंध (Constipation)
(ii) जलोदर (Ascites)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार की व्यवस्था करना
3. पथ्यापथ्य का पालन कराना
4. थायराक्सिन युक्त आहार द्रव्यों अथवा औषधि युक्त द्रव्यों का प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	:	सायम्
	गण्डमालाकण्डन रस	:	250 मि.ग्रा.
	जलकुम्भी भस्म	:	500 मि.ग्रा.
	अजमोदादि चूर्ण	:	2 ग्राम
	शहद/कोष्ण जल से		1 × 2 मात्रा
2.	कांचनार गुग्गुलु	:	500 मि.ग्रा.
	चित्रकादि वटी	:	500 मि.ग्रा.
	शहद से		1 × 2 मात्रा
3.	पिप्पली वर्धमान रसायन	:	10 पिप्पली अथवा 6 पिप्पली अथवा हीन बल व्यक्तियों में 3 पिप्पली से प्रारंभ कर आरोही एवं अवरोही क्रम से कुल 1000 पिप्पली का सेवन घृत एवं दुग्ध के साथ कराना चाहिए। 10 पिप्पली से प्रारंभ पिप्पली वर्धमान रसायन 19 दिन में, 6 पिप्पली से प्रारंभ कर 25 दिन में अथवा 3 पिप्पली से प्रारंभ कर 36 दिन में पिप्पली वर्धमान रसायन का प्रयोग सम्पन्न होता है।
4.	नस्य	:	कटुतुम्बी स्वरस एवं सैंधव लवण से
5.	योगासन	:	सर्वांगासन, हलासन, शीर्षासन, प्राणायाम इत्यादि
6.	पथ्य सेवन		

Management : Principles

1. Drug of choice is Thyroxine.
2. It is customary to start slowly and a dose of 50 μg per day

should be given for 3 weeks, increasing thereafter to 100 μg per day for a further 3 weeks and finally to 150 μg per day.
3. Symptomatic management.
4. Rich protein diet.
5. Active Exercises.

2. परा अवटु ग्रंथि

(Para Thyroid Gland)

परिचय

पराअवटु ग्रंथियां 4 होती हैं। यह अवटु ग्रंथि के पार्श्वखण्ड के किनारों से जुड़ी हुई रहती हैं। दो पराअवटु ग्रंथियां दायीं तरफ एवं दो ग्रंथियां बायीं तरफ होती हैं। वयस्क व्यक्ति में प्रत्येक ग्रंथि गोलाकार, कुछ चपटी सी एवं पीले भूरे रंग की होती है। पराअवटु ग्रंथि का सामान्य भार 35-40 मिली ग्राम तक होता है।

सामान्य कार्य (Functions of the Parathyroid Glands)

पराअवटु ग्रंथि के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. पराअवटु ग्रंथि का सर्वप्रमुख कार्य कैल्सिटोनिन हार्मोन (Calcitonin Harmone) एवं जीवतिक्त डी (Vitamin D) के साथ जुड़कर शरीर में कैल्सियम के स्तर एवं अस्थि के चयापचय को नियमित करना है।
2. पराअवटु ग्रंथि हार्मोन शरीर में कैल्सियम के स्तर को बढ़ाता है एवं फास्फोरस के स्तर को कम करता है।
3. पराअवटु ग्रंथि हार्मोन वृक्क नलिकाओं के द्वारा कैल्सियम के पुनर्अवशोषण (Reabsorption) को बढ़ाता है एवं फास्फोरस के अवशोषण को कम करता है। कैल्सिटोनिन हार्मोन फास्फोरस के उत्सर्जन (Excretion) को बढ़ाता है।
4. पराअवटु ग्रंथि हार्मोन वृक्क के द्वारा विटामिन "डी" के कार्यकारी तत्व (Active metabolites of "Vitamin D") के उत्पादन को बढ़ाता है जो छोटी आंत्र द्वारा कैल्सियम के अवशोषण को बढ़ाता है।

पराअवटु ग्रंथि के स्राव का अतियोग (Hyper Parathyroidism)

निदान

परा अवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता का कारण पैराथायराइड हार्मोन का अधिक स्राव होना है। यह तीन प्रकार का होता है।

1. प्राथमिक पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता (Primary Hyper Parathyroidism)

यह मुख्य रूप से पराअवटु ग्रंथि की स्वयं की विकृति से उत्पन्न होता है। कभी-कभी पराअवटु ग्रंथि के अर्बुद (Cancer of Parathyroid Glands) के कारण भी इसकी उत्पत्ति होती है।

2. द्वितीयक पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता (Secondary Hyper Parathyroidism)

द्वितीयक पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता का मुख्य कारण शरीर में कहीं अन्यत्र विकार अथवा विकृति होती है। इसमें वस्तुतः शरीर में कैल्सियम की कमी अथवा जीर्ण वृक्काघात (Chronic Renal Failure) या आंत्र द्वारा अल्प मात्रा में कैल्सियम अवशोषण के कारण पराअवटु ग्रंथि से पैराथारमोन (Paratharmone) का स्राव बढ़ जाता है।

3. तृतीयक पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता (Tertiary Hyper Parathyroidism)

तृतीयक प्रकार की पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता, द्वितीयक पराअवटु ग्रंथि की अतिक्रियाशीलता के उपद्रव (Complications) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। द्वितीयक पराअवटु ग्रंथि अतिक्रियाशीलता की समुचित चिकित्सा नहीं करने पर यह विकृति उत्पन्न होती है।

पराअवटु ग्रंथि स्राव के अतियोग के सामान्य लक्षण (Clinical Features of Hyper Parathyroidism)

पराअवटु ग्रंथि स्राव के अतियोग में निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—

1. लगभग 50 प्रतिशत व्यक्तियों में कोई भी लक्षण नहीं मिलता
2. अरुचि (Anorexia)
3. हल्लास/वमन होना (Nausea/Vomiting)
4. विबंध (Constipation)
5. शरीर भार में कमी (Weight loss)
6. अतिमूत्र प्रवृत्ति (Polyurea)
7. अत्यधिक तृषा (Polydipsia)
8. दौर्बल्य (Weakness)
9. थकावट (Tiredness)
10. तन्द्रा (Drowsiness)
11. यादास्त में कमी (Loss of memory)
12. मनोअवसादता (Depression)
13. स्त्रियों में यह विकृति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है
14. अस्थि शूल/अस्थि शोथ (Bone pain/swelling of bone)
15. नेत्र में रक्तवर्णता (Congestion of Eyes)

16. कभी-कभी रक्त मिश्रित मूत्र प्रवृत्ति (Some times Haematuria)
17. उच्च रक्त चाप (Hypertension)
18. अचानक अस्थि भग्न (Pathological Fractures)
19. अस्थि में जगह-जगह उभार होना (Bony cysts)
20. वृक्कगत व्याधियों की उत्पत्ति (Renal Disorders)
21. शरीर में कैल्सियम की मात्रा में अधिकता

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पथ्यापथ्य पालन
3. संतुलित आहार
4. शल्य क्रिया द्वारा पराअवटु ग्रंथि को शरीर से बाहर निकाल देना
5. शल्य क्रिया के बाद कुछ दिन तक अधिक मात्रा में कैल्सियम सेवन

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सांय
1.	पुनर्नवा मण्डूर	: 250 मि.ग्रा.
	ब्राह्मी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	नवायस लौह	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	चित्रकादि वटी	: 500 मि.ग्रा.
	अजमोदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
3.	ब्रह्म रसायन	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	: 1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	द्राक्षारिष्ट	: 10 मि.लि.
	अश्वगंधारिष्ट	: 10 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	योगासन	: सर्वांगासन, हलासन, जानुपादासन, भद्रासन इत्यादि।

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
मधुर, लघु, शीत, सुपाच्य आहार का ग्रहण, नियमिति दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं सद्वृत्त का पालन आदि।	सभी कैल्सियम युक्त आहार द्रव्यों जैसे-अत्यधिक दुग्ध, अखरोट, अधिक सूर्य प्रकाश सेवन, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही एवं अभिष्यन्दी पदार्थ आदि।

Management : Principles

1. Lower the serum Calcium concentration.
2. Surgery : Excision of Parathyroid glands.
3. Symptomatic Management.

पराअवटु ग्रंथि स्राव की अल्पता (Hypo Parathyroidism)

पराअवटु ग्रंथि के स्राव में न्यूनता होने से वस्तुत: शरीर में कैल्सियम की मात्रा में कमी तथा रक्तगत फास्फेट की मात्रा में अधिकता होने लगती है। पराअवटु ग्रंथि के स्राव की अल्पता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

निदान

1. पराअवटु ग्रंथि स्राव के हीन योग का सर्वाधिक प्रमुख कारण अवटु ग्रंथि की शल्य क्रिया अथवा गले में उत्पन्न कैन्सर की शल्य क्रिया के द्वारा पराअवटु ग्रंथि का क्षतिग्रस्त होना है।
2. बिना किसी निश्चित कारण के स्वत: ही स्राव में कमी होना।
3. आनुवंशिक (Hereditary) रूप से पराअवटु ग्रंथि स्राव में न्यूनता।
4. यकृत की जीर्ण व्याधि (Chronic Liver disroders)
5. आंत्र द्वारा समुचित अवशोषण में कमी (Malabsorption)

सामान्य लक्षण

पराअवटु ग्रंथि के स्राव के अल्प मात्रा में होने पर निम्न प्रमुख लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. मांसपेशियों एवं तंत्रिका तंत्र में कठोरता होना (Neuromuscular irritability and tetany)
2. नेत्र के दृष्टि पटल (Lens) में कठोरता (Calcification) एवं तिमिर (Cataract) रोग की उत्पत्ति
3. हृदयगति संवहन में विषमता (Abnormalities in cardiac conduction)
4. मस्तिष्क में भी कैल्सिफिकेशन के कारण केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र (Central Nervous system) की व्याधियों की उत्पत्ति
5. दन्तगत विषमता (Dental Abnormalities)
6. मस्तिष्कगत तनाव में वृद्धि (Raised intracranial pressure)
7. कुछ मनोदैहिक लक्षणों की उत्पत्ति (Origin of Psychosomatic symptoms)

पराअवटु ग्रंथि स्राव का मिथ्या योग
(Pseudo Hypo Parathyroidism)

पराअवटु ग्रंथि के स्राव के मिथ्यायोग में पराअवटु ग्रंथि की कार्य प्रणाली पूर्णत: सामान्य होती है एवं सम्यक् मात्रा में हार्मोन का स्राव भी होता रहता है परन्तु मुख्य ऊतकीय अवरोध (Tissue Resistance) के कारण यह स्राव अपना सामान्य कार्य करने में असमर्थ रहते हैं। फलस्वरूप पराअवटु ग्रंथि के स्रावं के हीन योग (Hypo Parathyroidism) के समान ही शरीर में लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह व्याधि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में अधिक पायी जाती है।

प्रमुख लक्षण

1. पराअवटु ग्रंथि स्राव के हीन योग (Hypo Parathyroidism) के समस्त लक्षण
2. शरीर की वृद्धि नहीं होना (Short Stature)
3. नाक चपटी होना (Flat Nose)
4. गोलाकार चेहरा (Rounded face)
5. मूत्र में कैल्सियम की अधिक मात्रा निकलना (Hypercalciurea)
6. शरीर में कैल्सियम की कमी (Hypocalcaemia)
7. शरीर में फास्फेट की मात्रा में वृद्धि (Hyperphosphataemia)

पराअवटु ग्रंथि स्राव के हीन योग एवं मिथ्या योग का चिकित्सा सिद्धात (Principles of Management of Hypo Parathyroidism and Pseudohypo Parathyroidism)

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार विहार सेवन
3. रोगी को सुधा द्रव्य (Calcium) की अधिक मात्रा का सेवन कराना
4. लाक्षणिक चिकित्सा
5. योगासन एवं प्राणायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	:	सायम्
	पिप्पल्यादि चूर्ण	:	1 ग्राम
	कपर्द भस्म	:	250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	:	250 मि.ग्रा.
	शहद से		1 × 2 मात्रा
2.	आमलक्यावलेह	:	20 ग्राम
	दुग्ध से		1 × 2 मात्रा

3.	भोजनोत्तर		
	द्राक्षारिष्ट	:	10 मि.लि.
	बलारिष्ट	:	10 मि.लि.
	समभाग जल से		1 × 2 मात्रा
4.	सुधाष्टक योग (सि.यो.सं.)	:	250 मि.ग्रा.
	दुग्ध से	:	1 × 2 मात्रा
5.	स्थानीय अभ्यंगार्थ	:	बलालाक्षादि तैल
		या :	महानारायण तैल

टिटैनी
(Tetany)

टिटैनी पराअवटु ग्रंथि स्राव के हीन योग से उत्पन्न होने वाला प्रमुख रोग है। इसका विस्तार से वर्णन किया जा रहा है—

निदान

पराअवटु ग्रंथि स्राव में कमी से नाड़ी एवं मांसगत संस्थान उत्तेजित हो जाते हैं तथा टिटैनी रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं—

1. आंत्र द्वारा पोषक द्रव्य अवशोषण में कमी (Malabsorption)
2. अस्थि मार्दव (Osteomalacia)
3. तीव्र अग्न्याशय शोथ (Acute Pancreatitis)
4. जीर्ण वृक्काघात (Chronic Renal failure)
5. बार-बार वमन होना (Repeated vomitings)
6. आहार द्रव्यों में क्षारीय द्रव्यों की मात्रा अधिक होना (Excessive intake of Oral Alkalies)

सामान्य लक्षण

1. हाथ एवं पैरों के अग्रभाग में कठोरता (Carpopedal spasm)
2. गले में श्वासावरोध की प्रतीती (Stridor)
3. आक्षेप (Convulsions)
   यह तीनों लक्षण प्राय: बच्चों में अधिक मिलते हैं।
4. हाथ की मांसपेशियों का मुड़ जाना
5. अंगूठा हथेली के प्रथम जोड़ पर हथेली की तरफ मुड़ा हुआ एवं दूसरे जोड़ पर फैला हुआ रहता है
6. वेगावस्था में समस्त शरीर का अंदर की ओर मुड़ना
7. वयस्क व्यक्तियों में हाथ, पैर एवं मुख के पास झनझनाहट का होना (Tingling sensations of hand, feet and around the mouth)

8. चेहरे की नाड़ियों पर ताड़न करने से चेहरे की मांसपेशियों में ऐंठन उत्पन्न होना (Twitching of the facial muscles after tapping over facial nerves)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार का नियमित सेवन
3. लाक्षणिक चिकित्सा
4. योगासन, ध्यान, प्राणायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	:	सायम्
	अजमोदादि चूर्ण	:	3 ग्राम
	प्रवाल पिष्टी	:	250 मि.ग्रा.
	शंख भस्म	:	250 मि.ग्रा.
	शहद से		1 × 2 मात्रा
2.	अग्नितुण्डी वटी	:	250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से		1 × 3 मात्रा
3.	भोजनोत्तर		
	दशमूलारिष्ट	:	20 मि.लि.
या	अश्वगंधारिष्ट	:	20 मि.लि.
	समभाग जल से		1 × 2 मात्रा
4.	सर्वांग अभ्यंग	:	महानारायण तैल एवं प्रसारिणी तैल से
5.	सर्वांग स्वेदन	:	दशमूल क्वाथ से
6.	बस्ति कर्म	:	मात्रा बस्ति 30-50 मि.लि. दशमूल तैल से प्रतिदिन एक माह तक
7.	योगासन	:	सर्वांगासन, हलासन, मयूरासन, प्राणायाम इत्यादि
8.	पथ्यापथ्य पालन		

Management : Principles

1. To raise serum Calcium concentration immediately.
2. Inj. Calcium Gluconate 10%, 20ml slowly I.V.
3. Symptomatic Management.

3. उपवृक्क ग्रंथि
(Adrenal or Suprarenal Glands)

परिचय

उपवृक्क ग्रंथियां संख्या में दो होती हैं। प्रत्येक वृक्क के ऊपर एक-एक ग्रंथि टोपी के समान लगी रहती है इसीलिए इसे उपवृक्क अथवा अधिवृक्क ग्रंथि कहा जाता है। प्रत्येक ग्रंथि का सामान्य भार लगभग 4 ग्राम होता है। बच्चों में उपवृक्क ग्रंथि का आकार कुछ बड़ा होता है। सूक्ष्म संरचना की दृष्टि से उपवृक्क ग्रंथि के दो भाग होते हैं—

1. बहिर्वस्तु अथवा वाह्य भाग (Cortex)
2. अंतर्वस्तु अथवा अंतस्थ भाग (Meddula)

उपरोक्त दोनों भागों के स्राव एवं उनके कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं।

उपवृक्क ग्रंथि के कार्य (Functions of Adrenal Glands)

उपवृक्क ग्रंथि के कार्यों को निम्न दो भागों में बांट सकते हैं—

1. वाह्य भाग के कार्य (Functions of Cortex of Adrenal Glands)

उपवृक्क ग्रंथि के वाह्य भाग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. यह भाग मिनरैलोकार्टिकोयड (Mineralocorticoid) हार्मोन का स्राव करता है जो शरीर में लवण एवं जल की आवश्यकता को नियमित करता है।
2. उपवृक्क ग्रंथि के वाह्य भाग (Cortex) के अधिकांश भाग में वसा का आधिक्य होता है जो स्टीरोयड हार्मोन (Steroid Harmone) के निर्माण में सहायता करता है। यह हार्मोन जनन ग्रंथियों एवं जननांगों के विकास के लिए आवश्यक होता है।

2. अंतस्थ भाग के कार्य (Functions of Medulla of Adrenal Glands)

उपवृक्क ग्रंथि के अंतस्थ भाग (Medulla) के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. यह रक्तभार (Blood pressure) को बढ़ाता हैं।
2. अनैच्छिक मांसपेशियों (Involuantary Muscles) को उत्तेजित करता है।
3. इसके द्वारा स्रावित हार्मोन से यकृत में शर्करा निर्माण की प्रक्रिया तीव्र होती है।
4. आपातकालीन अवस्थाओं में (In Emergency conditions) उसके द्वारा स्रावित हार्मोन उन परिस्थितियों से मुकाबले के लिए शरीर को तैय्यार करता है।

उपवृक्क ग्रंथि के अंत:स्राव का अतियोग
(Hyper Adrenalism)

उपवृक्क ग्रंथि के अतिस्राव के कारण मुख्यत: तीन प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन यहां किया जा रहा है।

1. कुशिंग सिन्ड्रोम
(Cushing Syndrome)

कुशिंग सिन्ड्रोम को Chronic Hypercortisolism भी कहते हैं। इस व्याधि में कार्टिसोल हार्मोन (Cortisol Harmone) की अधिक मात्रा का स्राव होता है।

निदान एवं सम्प्राप्ति

नैदानिकीय आधार पर (on the basis of etiological factors) सामान्यत: 4 प्रकार के कुशिंग सिन्ड्रोम होते हैं जिनको चिकित्सा की दृष्टि से अलग-अलग समझना अत्यन्त आवश्यक है।

(i) पीयुष ग्रंथि का कुशिंग सिन्ड्रोम (Pituitary Cushing Syndrome)

इस व्याधि का सर्वप्रथम वर्णन अमेरिकी वैज्ञानिक हार्वे कुशिंग ने किया था। लगभग 60-70 प्रतिशत कुशिंग सिन्ड्रोम का मुख्य कारण पीयुष ग्रंथि द्वारा स्रावित हार्मोन ACTH (Adrenocorticotrophic Harmone) होता है। इस हार्मोन के अधिक स्राव का कारण पीयुष ग्रंथि का अर्बुद (Adenoma of the Pituitary Gland) होता है। इस प्रकार की व्याधि में Steroids प्रयोग जैसे- Dexamethasone से पर्याप्त लाभ होता है।

(ii) उपवृक्क ग्रंथि का कुशिंग सिन्ड्रोम (Adrenal Cushing Syndrome)

लगभग 20-25 प्रतिशत कुशिंग सिन्ड्रोम का कारण उपवृक्क ग्रंथि का अर्बुद या उपवृक्क ग्रंथि वृद्धि (Hyperplasia of Adrenal Gland) होता है। इस वर्ग की व्याधि में ACTH हार्मोन की मात्रा कम रहती है तथा Glucocorticoids के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता है।

(iii) स्थानांतरित कुशिंग सिन्ड्रोम (Ectopic Cushing Syndrome)

लगभग 10-15 प्रतिशत कुशिंग सिन्ड्रोम का कारण पीयुष ग्रंथि के अतिरिक्त अन्य स्थान से स्रावित ACTH होता है। इस प्रकार का कुशिंग सिन्ड्रोम बिना किसी अन्त: स्रावी अर्बुद के कारण ही उत्पन्न होता है। यह मुख्यत: फुफ्फुस के अर्बुद, थायमस ग्रंथि अर्बुद अथवा अग्न्याशय अुर्बद के कारण उत्पन्न होता है। इसमें भी Steroids के प्रयोग से लाभ नहीं होता है।

(iv) चिकित्सकीय कुशिंग सिन्ड्रोम (Iatrogenic Cushing Syndrome)

दीर्घ अवधि तक अधिक मात्रा में Glucocorticoids या ACTH के प्रयोग से भी कुशिंग सिन्ड्रोम की उत्पत्ति होती है। कुछ व्याधियों जैसे- Autoimmune व्याधि अथवा

अंग प्रत्यारोपण के संदर्भ में Glucocorticoids का अधिक प्रयोग किया जाता है जो बाद में कुशिंग सिन्ड्रोम उत्पन्न कर सकता है।

कुशिंग सिन्ड्रोम के सामान्य लक्षण (Clinical Features of Cushing Syndrome)

कुशिंग सिन्ड्रोम के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. सामान्यत: 20-40 वर्ष की आयु में यह व्याधि अधिक मिलती है
2. स्त्रियों में पुरुषों की तुलना में तीन गुना अधिक कुशिंग सिन्ड्रोम उत्पन्न होता है।
3. स्थौल्य (Obesity)
4. हाथ एवं पैर पतले हो जाते हैं (Thin arms and legs)
5. कंधे के नीचे एवं पार्श्व भाग में अत्यधिक वसा एकत्र होने से वे स्थूल हो जाते हैं (Buffalo Hump)
6. चेहरा गोलाकार हो जाता है (Moon face)
7. रजोधर्म में अनियमितता (Menstrual Irregularities)
8. पृष्ठ भाग में वेदना (Backache)
9. मांसपेशियों में दुर्बलता (Weakness of Muscles)
10. उच्च रक्तचाप (Hypertension)
11. त्वचा में विदार अथवा घाव होना (Bruising or wounds in skin)
12. उदर प्रदेश (Abdomen) एवं जांघ (Thighs) में रेखाओं (Striae) की उत्पत्ति
13. अस्थिक्षरण (Osteoporosis)
14. मधुमेह रोग की उत्पत्ति (Diabetes Mellitus)
15. अनिद्रा (Insomnia)
16. मनोवसादता (Depression)
17. भ्रम (Confusion)
18. उन्माद (Psychosis)
19. अनार्तव (Amenorrhoea)
20. बन्ध्यत्व (Infertility)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. सम्यक् दिनचर्या रात्रिचर्या पालन
3. पथ्य आहार एवं विहार
4. संतुलित आहार
5. लाक्षणिक चिकित्सा
6. योगासन, ध्यान, प्राणायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	: सायं
	शिलाजत्वादि लौह	: 250 मि.ग्रा.
	मल्लसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	आमलकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	नवक गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 3 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	अश्वगंधा चूर्ण	: 3 ग्राम
	प्रवाल पञ्चामृत	: 250 मि.ग्रा.
	विषाण भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर (स्त्रियों में)	
	अशोकारिष्ट	: 10 मि.लि.
	दशमूलारिष्ट	: 10 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	उष्ण जल से	1 मात्रा
6.	योगासन	: पश्चिमोत्तानासन, विपरीतकरणी, अर्धमत्स्येन्द्रासन, उत्तान कूर्मासन, कूर्मासन इत्यादि
7.	पथ्यापथ्य पालन	

Management : Principles

1. Untreated Cushing Syndrome has a 50%, 5 year mortality.
2. Medical Therapy: To inhibit Corticosteroid biosynthesis by the drugs Metyrapone, aminoglutethimide or ketoconazole.
3. Surgery: Selective removal of the adenoma is the treatment of choice.

2. कान सिन्ड्रोम

(Conn's Syndrome or Primary Hyper Aldosteronism)

यह व्याधि एल्डोस्टीरोन हार्मोन के अत्यधिक स्राव के कारण उत्पन्न होती है।

निदान

कान सिन्ड्रोम के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. उपवृक्क ग्रंथि के वाह्य भाग का अर्बुद
2. दोनों उपवृक्क ग्रंथियों की अतिशय वृद्धि
3. सम्पूर्ण उपवृक्क ग्रंथि का अर्बुद

सामान्य लक्षण (Clinical Features)

शास्त्रों में कान सिन्ड्रोम के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित किए गऐ हैं—

1. उच्च रक्तचाप (Hypertension)
2. पोटैशियम की कमी के कारण मांसपेशियों में दुर्बलता, वाह्य नाड़ी जन्य विकृति (Peripheral Neuropathy) एवं हृदय गति में अनियमितता (Cardiac Arrhythmia) उत्पन्न होती है
3. शरीर में लवण एवं जल की अधिक मात्रा का संचय होना (Retention of salt and water)
4. अत्यधिक मूत्र प्रवृत्ति (Polyurea)
5. अत्यधिक तृषा (Polydipsia)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित दिनचर्या एवं पथ्यापथ्य का पालन
3. लाक्षणिक चिकित्सा
4. योगासन, ध्यान तथा प्राणायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	: सायम्
	सर्पगंधा घन वटी	: 500 मि.ग्रा.
	अर्क मकोय से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	अश्वगंधा चूर्ण	: 2 ग्राम
	गोक्षुरादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	20 मि.लि. गोक्षुरादि क्वाथ से	: 1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	षडंगपानीय	: 40 मि.लि.
		1 × 2 मात्रा
4.	योगासन	: प्राणायाम, षटकर्म, योगमुद्रा, का प्रयोग करना

3. एड्रीनोजेनाइटल सिन्ड्रोम
(Adrenogenital Syndrome or Adrenal Virilism)

उपवृक्क ग्रंथि का वाह्य भाग (Adrenal Cortex) कुछ मात्रा में जनन हार्मोन का स्राव करता है। इस हार्मोन का स्राव अधिक होने पर जनन संबंधी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

निदान सम्प्राप्ति

जनन हार्मोन का स्राव शिशु एवं वयस्क दोनों में अधिक हो सकता है।

1. बच्चों में उपरोक्त हार्मोन के अधिक स्राव का कारण जन्मजात उपवृक्क ग्रंथि की अतिशय वृद्धि (Congenital Adrenal Hyperplasia) होती है।
2. वयस्क व्यक्ति में उपवृक्क ग्रंथि के अर्बुद के कारण हार्मोन का स्राव अधिक होता है।

सामान्य लक्षण (Clinical Features)

एड्रीनोजेनाइटल सिन्ड्रोम के सामान्य लक्षण व्यक्ति के आयु एवं लिंङ्ग पर निर्भर करते हैं।

1. स्त्री शिशु के वाह्य जननांग विकृत हो जाते हैं। लड़कों में सामान्य अवस्था से पूर्व ही तरुणावस्था (Puberty) आ जाती है।
2. वयस्क स्त्रियों में दाढ़ी मूंछ का उगना, रज: स्राव में कमी (Oligomenorrhoea) आवाज में भारीपन एवं भगशिश्निका (Clitoris) के आकार में वृद्धि हो जाती है।
3. पुरुषों में अत्यंत कम व्यक्तियों में स्त्री के समान लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. समुचित दिनचर्या एवं आहार विहार का पालन
3. तनाव मुक्त रहना
4. लाक्षणिक चिकित्सा

उपवृक्क ग्रंथि के अंत: स्राव का हीन योग
(Hypo Adrenalism)

उपवृक्क ग्रंथि के स्राव के हीन योग का प्रमुख कारण पर्याप्त मात्रा में अंत:स्राव (Harmone) का निर्मित नहीं होना अथवा पीयुष ग्रंथि द्वारा उपवृक्क उत्तेजक हार्मोन (ACTH) की कमी होना है। उपवृक्क ग्रंथि अंत:स्राव का हीन योग कई प्रकार की व्याधियां उत्पन्न कर सकता है—

1. प्राथमिक उपवृक्क स्राव न्यूनता
(Primary Adrenocortical insufficiency)

प्राथमिक उपवृक्क स्राव न्यूनता पुन: दो प्रकार की होती है—

(i) उपवृक्क अंत:स्राव की सद्य: कमी (Adrenal crisis)
(ii) उपवृक्क अंत:स्राव की धीरे-धीरे कमी होना (Addison's Disease)

(1) प्राथमिक सद्य: उपवृक्क अंत:स्राव न्यूनता (Primary Acute Adrenocortical Insufficiency or Adrenal Crisis)

उपवृक्क ग्रंथि के सामान्य कार्यों के अचानक बंद हो जाने की स्थिति को उपवृक्क संकट कहते हैं।

निदान सम्प्राप्ति

उपवृक्क ग्रंथि के अंत:स्राव में अचानक न्यूनता उत्पन्न होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) दोनों उपवृक्क ग्रंथियों को शल्य क्रिया के द्वारा निकाल दिया जाना
(ii) उच्च रक्तचाप (Hypertention) एवं स्तनार्बुद (Breast Cancer) चिकित्सा।
(iii) तीव्र संक्रमण (Septicaemia)
(iv) तीव्र रक्तस्राव (Severe Haemorrhage)
(v) स्टीरायड चिकित्सा को अचानक बंद कर देना
(vi) अत्यंत तीव्र तनाव की अवस्था (Acute Anxiety)

सामान्य लक्षण (Clinical Features)

उपवृक्क ग्रंथि अंत: स्राव में सद्य: न्यूनता का मुख्य कारण मिनरैलोकार्टिकोयड एवं ग्लूकोकार्टिकोयड हार्मोन की कमी होना है। अत: इस स्थिति में निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. अचानक रक्त दाब गिर जाना (Sudden fall of blood pressure)
2. हाथ एवं पैरों का ठंडा तथा नीलाभ होना (Cold and cyanosed Extremities)
3. हल्लास (Nausea)
4. वमन (Vomiting)
5. अतिसार (Diarrhoea)
6. मूर्च्छा (Syncope)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. सुनियोजित दिनचर्या का पालन
3. लाक्षणिक चिकित्सा
4. पथ्य सेवन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायम्
   कृष्ण चतुर्भुज रस : 125 मि.ग्रा.
   प्रवाल पिष्टी : 250 मि.ग्रा.

	शुद्ध कुपीलु	: 125 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	सिद्धप्राणेश्वर रस	: 125 मि.ग्रा.
	मयूरपिच्छ भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	नागराद्य चूर्ण	: 1 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	जीरकाद्यरिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	षडंगपानीय	: 40 मि.लि.
	उष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य पालन	

(2) एडिसन की व्याधि (Addison's Disease - Primary Adrenocortical Failure)

जब दोनों उपवृक्क ग्रंथियां धीरे-धीरे लगभग 90 प्रतिशत से भी अधिक नष्ट हो जाती हैं तब शरीर में असामान्य लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इसे ही एडिसन की व्याधि कहते हैं क्योंकि इस व्याधि का सर्वप्रथम वर्णन एडिसन नामक वैज्ञानिक ने किया था।

निदान

एडिसन की व्याधि के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं—

1. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
2. उपवृक्क ग्रंथि का स्वत: शोथ होना (Adrenalitis)
3. अर्बुद (Metastatic Cancer)
4. विषाणु संक्रमण (Cytomegalovirus)
5. एड्स (AIDS)
6. कवक जन्य संक्रमण (Fungul Infection)
7. उपवृक्क ग्रंथि में रक्त स्राव (Haemorrhage of Adrenals)

उपरोक्त कारणों से उपवृक्क ग्रंथियां धीरे-धीरे छोटी होकर सिकुड़ जाती है फलस्वरूप एडिसंस व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

सामान्य लक्षण (Clinical Features)

एडिसन की व्याधि के सामान्य लक्षण धीरे-धीरे एवं लगातार उत्पन्न होते हैं। प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. शरीर में धीरे-धीरे दुर्बलता, शरीर भार में कमी एवं आलस्य होना एडिसन्स व्याधि का प्रत्यात्म लिङ्ग है। (Progressive weakness, weight loss and lethargy are the cardinal symptoms of Addison's disease)

2. त्वचा में विवर्णता उत्पन्न होना (Discolouration of skin)
3. सफेद दाग (Vitiligo)
4. शरीर के खुले भाग पर कृष्ण वर्णता (Hyperpigmentation of exposed skin)
5. शरीर के रक्त भार में कमी (Hypotension)
6. खड़े होने पर मूर्च्छित हो जाना (Faintness on errect posture)
7. कभी-कभी श्वासकृच्छ्रता (Occasional breathlessness)
8. अरुचि (Anorexia)
9. हल्लास/वमन (Nausea/Vomiting)
10. विबंध के साथ कभी-कभी अतिसार (Constipation with intermittent Diarrhoea)
11. उदर शूल (Pain abdomen)
12. मांसपेशियों में दुर्बलता एवं शुष्कता (Muscular weakness and wasting)
13. थकावट (Lassitude)
14. स्मृतिनाश (Loss of memory)
15. तन्द्रा (Drowsiness)
16. अनिद्रा (Insomnia)
17. चिड़चिड़ापन (Irritability)
18. नपुंसकता (Impotence)
19. अनार्तव (Amenorrhoea)
20. अल्पमूत्रता (Diminished urination)
21. रक्तगत प्रोटीन एवं यूरिया में वृद्धि (Increased level of protein and blood urea)
22. शरीर का तापमान सामान्य से कम (Subnormal temperature)
23. स्त्रियों में कक्षा प्रदेश एवं जघन प्रदेश के बालों में कमी होना (Loss of axillary and pubic hairs in females)
24. पाण्डु रोग (Anaemia)
25. मधुमेह (Diabetes Mellitus)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार द्रव्यों का सेवन
3. पथ्यापथ्य का उचित पालन
4. लाक्षणिक चिकित्सा

5. योगासन, ध्यान, योगमुद्रा एवं प्राणायाम का नियमित अभ्यास करना

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. बल्य, बृंहण, पोषक आहार द्रव्यों का प्रयोग
2. प्रात : सायम्
   अश्वगंधा चूर्ण : 3 ग्राम
   नागरादि चूर्ण : 1 ग्राम
   शहद/दुग्ध से 1 × 2 मात्रा
3. गोक्षुरादि गुग्गुलु : 500 मि.ग्रा.
   अग्नितुण्डी वटी : 250 मि.ग्रा.
   उष्ण जल से 1 × 2 मात्रा
4. भोजनोत्तर
   आरोग्यवर्धिनी वटी : 500 मि.ग्रा.
   चित्रकादि वटी : 250 मि.ग्रा.
   शहद से 1 × 2 मात्रा
5. भोजनोत्तर
   पुनर्नवारिष्ट : 10 मि.लि.
   द्राक्षारिष्ट : 10 मि.लि.
   समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
6. ब्रह्मरसायन : 20 ग्राम
   दुग्ध से 1 × 2 मात्रा
7. रात्रि में
   हरीतकी चूर्ण : 3 ग्राम
   कोष्ण जल से 1 मात्रा
8. योगासन : वज्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन इत्यादि
7. पथ्यापथ्य पालन

Management : Principles

1. Glucocorticoid replacement therapy- Mineralocorticoids.
2. Symptomatic Management.

2. द्वितीयक उपवृक्क स्त्राव न्यूनता
(Secondary Adrenocortical insufficiency)

यदि पीयुष ग्रंथि (Pituitary Gland) द्वारा स्त्रावित ACTH हार्मोन जो कि उपवृक्क ग्रंथि को अंत:स्त्राव स्त्रावित करने के लिए उत्तेजित करता है, की कमी हो जाये अर्थात पर्याप्त मात्रा में ACTH हार्मोन का स्त्राव नहीं हो तो द्वितीयक उपवृक्क अंत:स्त्राव जन्य न्यूनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सामान्य लक्षण (Clinical Features)

इस स्थिति में निम्नलिखित लक्षणों को छोड़कर शेष लक्षण पूर्व में वर्णित एडिसन की व्याधि के लक्षणों के समान होते हैं—

1. त्वचा पर कृष्ण वर्णता नहीं होती है (Lack of Hyperpigmentation)
2. रक्तगत ACTH की मात्रा अति अल्प अथवा ACTH की अनुपस्थिति
3. एल्डोस्टीरॉन हार्मोन की रक्तगत मात्रा सामान्य होती है।

चिकित्सा सिद्धांत एवं आदर्श चिकित्सा पत्र

यह व्याधि लगभग एडिसन्स व्याधि से मिलती जुलती है। अत: चिकित्सा करते समय एडिसन्स व्याधि में वर्णित चिकित्सा सिद्धांत एवं चिकित्सा व्यवस्था पत्र का प्रयोग करना ही उचित रहता है।

4. थायमस ग्रंथि
(Thymus Gland)

परिचय

यह ग्रंथि उरोस्थि (Sternum) के पीछे वक्ष प्रदेश में अवस्थित होती है। शैशवावस्था में थायमस ग्रंथि का भार लगभग 10-15 ग्राम तक होता है। युवावस्था में ग्रंथि के आकार में वृद्धि होकर यह लगभग 30-40 ग्राम तक की हो जाती है। युवावस्था के पश्चात पुन: ग्रंथि का आकार छोटा होने लगता है तथा अंतत: 5-10 ग्राम तक की रह जाती है। थायमस ग्रंथि का वर्ण गुलाबी धूसर होता है। ग्रंथि के दो भाग होते है दक्षिण खंड (Right Lobe) तथा वाम खंड (Left Lobe)।

थायमस ग्रंथि के कार्य (Functions of Thymus Gland)

थायमस ग्रंथि के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. थायमस ग्रंथि शरीर की व्याधिक्षमित्व शक्ति को बनाए रखने में सहायक होती है।

2. यह दो प्रकार के अंत: स्रावों का स्राव करती है।
3. थायमस ग्रंथि बाल्यावस्था में स्त्री एवं पुरुष दोनों में कुछ समय तक जननांगों के विकास को रोकती है जिससे शरीर के अन्य अंग पुष्ट हो जाते हैं।
4. यह कैल्सियम के चयापचय में सहायता करती है।
5. शरीर को संक्रमण से सुरक्षा प्रदान करती है।

थायमस ग्रंथि विकृति

थायमस ग्रंथि में प्राय: दो प्रकार की विकृति मिलती है। कभी-कभी ग्रंथि का आकार बढ़ जाता है अथवा अत्यधिक छोटा हो जाता है। थायमस ग्रंथि को यदि युवावस्था में शरीर से बाहर निकाल दिया जाए तो भी प्राय: शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। परंतु यदि बाल्यावस्था में ही ग्रंथि विकृत हो जाए तो प्रभावित व्यक्ति की लंबाई कम रह जाती है एवं वह व्यक्ति शारीरिक रूप से दुर्बल हो जाता है।

5. पीयूष ग्रंथि
(Pituitary Gland)

परिचय

पीयूष ग्रंथि (Pituitary Gland) का दूसरा नाम हाइपोफाइसिस (Hypophysis) भी है। वयस्क व्यक्ति में पीयूष ग्रंथि का सामान्य भार लगभग 500 मिलिग्राम होता है तथा स्त्रियों में कुछ अधिक होता है। यह ग्रंथि मस्तिष्क के तल भाग सेला टर्सिका (Sella Turcica) में स्थित होती है। पीयूष ग्रंथि के दो प्रमुख भाग होते हैं—

1. अग्रिम खण्ड (Anterior Lobe or Adenohypophysis)
2. पश्चिम खण्ड (Posterior Lobe or Neurohypophysis)

दोनों खण्डों की सूक्ष्म संरचना एवं उनके अंत:स्राव तथा कर्म अलग-अलग होते हैं। पीयूष ग्रंथि शरीर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथि होती है। इसके अंत:स्राव अन्य ग्रंथियों को उनके अंत:स्राव के लिए उत्प्रेरित करती हैं जिसके कारण पीयूष ग्रंथि को मुख्य ग्रंथि (Master Gland) भी कहा जाता है।

अग्रिम खण्ड के अंत:स्राव एवं उनके प्रमुख कार्य (Functions of Harmones of Anterior Lobe of Pituitary Gland)

पीयूष ग्रंथि के अग्रिम खण्ड (Anterior Lobe) द्वारा कुल 6 प्रकार के अंत:स्रावों का निर्माण होता है। इनके नाम एवं प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. वृद्धिकारक अंत:स्राव (Growth Harmone or Somatotrophic Harmone)

यह अंत:स्राव अस्थियों की लंबाई (Length) एवं चौड़ाई (Width) में वृद्धि करता है तथा उनको पुष्ट करता है।

2. दुग्ध उत्पादक अंत:स्राव (Prolactin or Lactogenic Harmone)

स्त्रियों में यह अंत:स्राव दुग्ध के निर्माण तथा उसका नियमित स्तर बनाए रखने में सहायक होता है। पुरुषों में भी यह हार्मोन मिलता है तथा यौवनावस्था के समय रक्त में इसकी मात्रा बढ़ जाती है।

3. उपवृक्क वल्क प्रवर्तक अंत:स्राव (Adrenocorticotrophic Harmone-ACTH)

यह अंत:स्राव उपवृक्क ग्रंथि को उसके अंत:स्रावों के निर्माण एवं स्राव के लिए प्रेरित करता है। इस हार्मोन की अधिक मात्रा शरीर में कृष्णवर्णता उत्पन्न करती है। यह हार्मोन तनाव को कम करने में भी सहायक होता है।

4. अवटु ग्रंथि प्रवर्तक अंत:स्राव (Thyroid Stimulating Harmone-TSH)

यह अंत:स्राव अवटु ग्रंथि को उत्तेजित करता है जिसके फलस्वरूप अवटु ग्रंथि का अंत:स्राव स्रवित होता है। यह हार्मोन अवटु ग्रंथि की वृद्धि में भी सहायक होता है।

5. बीज ग्रंथि प्रवर्तक अंत:स्राव (Gonadotropic Harmone)

बीज ग्रंथि प्रवर्तक अंत:स्राव दो प्रकार के होते हैं—

(i) बीजपुट प्रेरक अंत:स्राव (Follicle Stimulating Harmone-FSH)

यह स्राव स्त्रियों में बीज पुट (Graffian Follicles) की वृद्धि एवं पूर्णता (Growth and Maturation) का कार्य करता है एवं पुरुषों में शुक्राणु निर्माण (Spermatogenesis) तथा शुक्राशय (Seminal Vesicle) के सामान्य कार्यों को सम्पादित करता है।

(ii) अंत: पुष्प प्रेरक अंत:स्राव (Lutinizing Harmone-LH)

यह अंत:स्राव स्त्रियों में बीज विपाक (Ovulation) का कार्य करता है। पुरुषों में यह अंत:स्राव पुरुष हार्मोन (Male sex Harmone or Testosterone) के स्राव को उत्पन्न करता है।

पश्चिम खण्ड के अंत:स्राव एवं उनके प्रमुख कार्य (Functions of Harmone of Posterior Lobe of Pituitary Gland)

पीयूष ग्रंथि के पश्चिम खण्ड के अंत: स्राव वस्तुत: अधो आज्ञाकद (Hypothalamus) द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा यह पीयूष ग्रंथि के पश्चिम खण्ड (Posterior Lobe) में एकत्र होते हैं। यह हार्मोन दो प्रकार के होते हैं जिनके कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) मूत्र संग्रहणीय अंत:स्राव (Anti Diuretic Harmone -ADH)

यह अंत:स्राव शरीर में जल का संग्रहण करता है अर्थात् शरीर में जलीयांश की कमी नहीं होने देता है। दूसरे शब्दों में यह मूत्र प्रवृत्ति को कम करता है। कुछ मात्रा में यह शिराओं को संकुचित (Vasoconstriction) भी करता है।

(ii) गर्भ प्रवर्तक अंत:स्राव (Oxytocin Harmone)

गर्भप्रवर्तक अंत:स्राव का मुख्य कार्य गर्भाशय पेशियों को संकुचित करना है। यह हार्मोन स्तन की कोशिकाओं को भी उत्तेजित या संकुचित करता है जिसके फलस्वरूप दुग्ध प्रवृत्ति (Ejection of Milk) होती है।

पीयूष ग्रंथि के स्राव का अति योग
(Hyper Pituitarism)

पीयूष ग्रंथि अतिस्राव का प्रमुख कारण उसका रोग ग्रस्त होना है। पीयूष ग्रंथि में जब एक प्रकार का अर्बुद (Adenoma) विकसित हो जाता है तब पीयूष ग्रंथि के अंत:स्रावों की मात्रा बढ़ जाती है। पीयूष ग्रंथि के अंत:स्रावों की अधिकता से निम्नलिखित प्रमुख विकार उत्पन्न होते हैं—

1. दानवकायता एवं भीमकायता (Gigantism and Acromegaly)
2. दुग्ध प्रवर्तक अंत: स्रावाधिक्य (Hyperprolactinaemia)
3. कुशिंग सिन्ड्रोम (Cushing Syndrome)
4. मूत्र संग्रहणीय अंत: स्रावाधिक्य (Hypersecretion of Anti Diuretic Harmone-ADH)
5. शीघ्र यौवनावस्था (Precocious Puberty)

1 (i) दानव कायता (Gigantism)

जब वृद्धि हार्मोन (Growth Harmone) का स्राव यौवनावस्था के पूर्व अधिक हो जाता है, तब दानवकायता उत्पन्न होती है। अर्थात् लंबी अस्थियों (Long Bones) के अग्र एवं पश्च भाग में वृद्धि पूर्णता के पूर्व ही, वृद्धि हार्मोन की अधिक मात्रा उन अस्थियों की और वृद्धि को प्रेरित करती है। जिसके परिणामस्वरूप शरीर की लंबाई अत्यधिक बढ़ जाती है।

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

1. शिशु की अत्यधिक वृद्धि (Excessive and Proportionate growth of child)
2. अस्थियों की वृद्धि के साथ-साथ उनकी मोटाई में भी वृद्धि होती है। फलस्वरूप व्यक्ति की लंबाई (Height) एवं चौड़ाई (Width) दोनों में वृद्धि होती है।

1 (ii) भीमकायता (Acromegaly)

शरीर की लंबाई जब रुक जाती है, अर्थात् अस्थि का विकास जब रुक जाता है उसके पश्चात भी वृद्धि हार्मोन के अत्यधिक स्राव से भीमकायता (Acromegaly) उत्पन्न हो जाती है। भीमकायता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

1. थकावट (Fatigue)
2. शरीर भार अधिकता (Weight Gain)
3. उष्मा असहिष्णुता (Heat Intolerance)
4. अत्यधिक पसीना आना (Excessive Sweating)
5. ललाट का बाहर की ओर निकल जाना (Enlargement of Supraorbital Ridge)
6. हाथ एवं पैर में वृद्धि (Enlargement of Hand & Feet)
7. शरीर का आगे की तरफ झुक जाना (Kyphosis)
8. जिह्वा की लंबाई में वृद्धि (Enlarged Tongue)
9. ओष्ठ एवं नासा की मोटाई में वृद्धि (Thickening of Lips and Nose)
10. उच्च रक्तचाप (Hypertension)
11. हृदयाघात (Cardiac Failure)
12. आवाज में भारीपन (Deepening of voice)
13. कभी-कभी अनार्तव (Occasional Amenorrhoea)
14. नपुंसकता (Impotence)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. नियमित दिनचर्या पालन
3. पथ्यापथ्य सेवन
4. संतुलित आहार ग्रहण
5. लाक्षणिक चिकित्सा
6. योगासन, प्राणायाम, ध्यान, योगमुद्रा इत्यादि

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. गुरु एवं अपतर्पण आहार तथा विहार का निर्देश
3. शोधन चिकित्सा
   (i) सर्वांग स्नेहन एवं स्वेदन
   (ii) वचादि लेखन द्रव्यों से लेखन बस्ति, कर्म बस्ति का प्रयोग
4.

	प्रात : सांय
वचादि चूर्ण	: 500 मि.ग्रा.
मेदोहर विडंगादि लौह	: 250 मि.ग्रा.
सर्पगंधा चूर्ण	: 500 मि.ग्रा.
शहद से	1 × 2 मात्रा

5. भोजनोत्तर
   पंचकोल चूर्ण : 2 ग्राम
   चौषठ प्रहरी पिप्पली : 250 मि.ग्रा.
   शिलाजित्वादि लौह : 250 मि.ग्रा.
   शहद से 1 × 2 मात्रा
6. मेदोहर गुग्गुलु : 500 मिग्रा.
   या नवक गुग्गुलु : 500 मिग्रा.
   मधूदक से 1 × 2 मात्रा
7. योगाभ्यास : शीर्षासन, सर्वांगासन, शवासन, वज्रासन, प्राणायाम, षट्कर्म आदि
8. पथ्यापथ्य पालन

Management : Principles

1. Medical : To lower growth Harmone levels- Somatostanin analogues.
2. Surgical : Trans sphenoidal surgery.
3. Radiotherapy : To stop tumour growth and lower growth harmone levels.

2. दुग्ध प्रवर्तक अंत:स्त्रावाधिक्य
(Hyper Prolactinaemia)

यह प्रोलैक्टिन हार्मोन के अधिक स्राव के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसके प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

दुग्ध प्रवर्तक अंत:स्त्रावाधिक्य का प्रभाव पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों में दिखाई देता है। इसके प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. अल्पार्तव (Oligomenorrhoea) 2. अनार्तव (Amenorrhoea)
3. बन्ध्यत्व (Infertility)
4. चेहरे पर दाढ़ी, मूँछ उगना (Hirsutism)

पुरुषों में उत्पन्न लक्षण

1. कामेच्छा में कमी (Reduced Libido)
2. नपुंसकता (Impotence)
3. बन्ध्यत्व (Infertility)
4. कभी-कभी दुग्ध स्राव (Occasional Galactorrhoea)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार विहार
3. नियमित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या
4. पथ्यापथ्य पालन
5. योगाभ्यास, प्राणायाम
6. लाक्षणिक चिकित्सा

3. कुशिंग सिन्ड्रोम
(Cushing Syndrome)

कुशिंग सिन्ड्रोम का विस्तृत वर्णन उपवृक्क ग्रंथि के वर्णन के अंतर्गत किया जा चुका है। अत: इसे वहीं देखें।

4. मूत्र संग्रहणीय अंत:स्त्रावाधिक्य
(Hyper Secretion of ADH)

मूत्र संग्रहणीय अंत:स्राव (Antidiuretic Harmone) का निर्माण एवं स्राव पीयूष ग्रंथि के पश्चिम खण्ड (Posterior Lobe) से होता है। यह हार्मोन निम्न कारणों से अधिक मात्रा में स्रवित होता है—

निदान

1. फुफ्फुस का एक प्रकार का अर्बुद (Oat cell carcinoma of the lungs)
2. अग्न्याशय का अर्बुद (Carcinoma of the Pancreas)
3. अधो आज्ञाकंद में आघात (Trauma in the Hypothalamus)
4. रक्तस्राव (Haemorrhage)
5. मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)
6. राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis)
7. फुफ्फुस विद्रधि (Lung Abscess)

प्रमुख लक्षण (Ciinical Features)

1. सान्द्र मूत्र की प्रवृत्ति (Passage of concentrated urine)
2. मूत्र में सोडियम की कमी (Hypo Natraemia in urine)
3. रक्तगत तनुता (Haemodilution)
4. शरीर में जल एवं लवण की अधिकता (Retention of fluid and salt in the body)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन 2. संतुलित आहार 3. लाक्षणिक चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायं
   गोक्षुरादि चूर्ण : 3 ग्राम

	पुनर्नवादि चूर्ण	: 1 ग्राम
	श्वेत पर्पटी	: 250 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	नवायस योगराज	: 250 मि.ग्रा.
	हीरक भस्म	: 125 मि.ग्रा.
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	पुनर्नवादि गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अमृतादि गुग्गुलु	: 500 मि.लि.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	पुनर्नवारिष्ट	: 10 मि.लि.
	अमृतारिष्ट	: 10 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	रात्रि में	
	त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोष्ण से	1 × 2 मात्रा
6.	योगासन	: शीर्षासन, सर्वांगासन, प्राणायाम इत्यादि
7.	पथ्यापथ्य का समुचित पालन	

5. पूर्व यौवनावस्था
(Precocious Puberty)

निदान

पूर्व यौवनावस्था के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं—

1. अधो आज्ञा कंद में अर्बुद (Tumour in Hypothalamus)
2. पीनियल ग्रंथि में अर्बुद (Tumour of Pineal Gland)

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

पूर्व यौवनावस्था उत्पन्न होने के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. जनन हार्मोन के अत्यधिक स्राव के कारण प्राय: 9 वर्ष की अवस्था के पूर्व ही वयस्क के लक्षण शरीर में विकसित होने लगते हैं।
2. पुरुष एवं स्त्री दोनों में जननांगों का तीव्र विकास होता है (Premature development of genitalia both in males and females)

3. जघन प्रदेश (Pubic region) एवं कक्षा प्रदेश (Axillary Region) में रोम की शीघ्र उत्पत्ति
4. शीघ्र स्तन विकास एवं रजोधर्म प्रारंभ

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार विहार
3. आश्वासन चिकित्सा
4. लाक्षणिक चिकित्सा
5. योगाभ्यास एवं प्राणायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात	: सायं
	अश्वगंधा चूर्ण	: 2 ग्राम
	वचादि चूर्ण	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	पिप्पली चूर्ण	: 1 ग्राम
	शुद्ध शिलाजतु	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पंचामृत	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	द्राक्षारिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	योगाभ्यास, प्राणायाम, इत्यादि का निर्देश	
5.	पथ्यापथ्य पालन	

पीयूष ग्रंथि के अंत:स्त्रावों का हीन योग
(Hypo Pituitarism)

पीयूष ग्रंथि के अंत: स्त्रावों के हीन योग अर्थात् अंत:स्त्रावों की कमी से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। क्योंकि पीयूष ग्रंथि ही प्राय: सभी प्रकार की ग्रंथियों के अंत:स्त्रावों को नियंत्रित करती है।

निदान

पीयूष ग्रंथि के अंत:स्त्रावों के हीनयोग (Hyposecretion) के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. पीयूष ग्रंथि का अर्बुद (Pituitary Tumours)
2. अधो आज्ञाकंद में अर्बुद (Tumours in the regions of Hypothalamus)

3. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
4. फिरंग (Syphilis)
5. अभिघात (Trauma)
6. पीयूष ग्रंथि कोशिकाओं का नष्ट हो जाना (Necrosis of the Pituitary cells)

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

1. वृद्धिकारक अंत:स्राव (Growth Harmone) की कमी यदि यौवनारम्भ के पूर्व होता है तो शरीर की लंबाई में कमी, स्थूलता, शारीरिक एवं मानसिक विकास में कमी होती है। शरीर की अस्थियाँ पुष्ट नहीं होती हैं तथा बन्ध्यत्व एवं नपुंसकता भी उत्पन्न हो जाती है।
2. बीजग्रंथि प्रवर्तक अंत:स्राव (Gonadotropic Harmone) की कमी होने पर स्त्रियों में अल्पार्तव (Oligomenorrhoea), अनार्तव (Amenorrhoea), बन्ध्यत्व (Infertility), रतिक्रिया में कठिनाई (Dyspareunea) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
3. उपवृक्क वल्क प्रवर्तक अंत: स्राव (Adrenocorticotropic Harmone) की कमी से शरीर में थकावट (Fatigue), अरुचि (Anorexia), शरीर भार में कमी (Weight Loss), शरीर की रक्तगत शर्करा में न्यूनता (Hypoglycaemia), स्त्रियों में जघन प्रदेश एवं कक्षा में बालों में कमी (Loss of Pubic & Axillary hairs) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
4. अवटु ग्रन्थि प्रवर्तक अंत:स्राव (Thyroid stimulating harmone) की कमी होने से शरीर भाराधिक्य, (Weigth gain) विबंध (Constipation), थकावट (Fatigue), शीत असहिष्णुता (Cold Intolerance), त्वक् शुष्कता (Dryness of skin) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
5. मूत्र संग्रहणीय अंत:स्राव (Anti Diuretic Harmone) की कमी होने से अत्यधिक तृषा (Polydipsia), अतिमूत्र प्रवृत्ति (Polyurea), आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर में सोडियम लवण की कमी हो जाती है तथा जन्मगत मधुमेह (Diabetes Insipidus) रोग की उत्पत्ति भी हो सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार एवं विहार
3. समुचित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या पालन
4. पथ्यापथ्य सेवन
5. लाक्षणिक चिकित्सा
6. योगासन, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सांय
1.		
	पिप्पली चूर्ण	: 1 ग्राम
	पंचकोल चूर्ण	: 1 ग्राम
	शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध शिलाजतु	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	चित्रकादि वटी	: 500 मिग्रा.
	अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	प्रवाल पंचामृत	: 500 मिग्रा.
	बसन्तकुसुमाकर रस	: 125 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	बलारिष्ट	: 10 मि.लि.
	दशमूलारिष्ट	: 10 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	अश्वगंधा पाक	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
5.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	उष्ण जल से	1 मात्रा

6. अग्न्याशय
(Pancreas)

परिचय

अग्न्याशय शरीर की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उभय स्रावी (Both Exocrine and Endocrine) ग्रंथि है। यहाँ पर अग्न्याशय के अंत:स्रावी (Endocrinal) कार्यों एवं विकृतियों का वर्णन किया जा रहा है। अग्न्याशय की सामान्य लंबाई 15 सेंटीमीटर एवं भार लगभग 90 ग्राम होता है। अग्न्याशय के 3 प्रमुख भाग होते हैं—

(i) सिर (Head) (ii) मध्य भाग (Body) (iii) पुच्छ (Tail)

अग्न्याशय का वह भाग जो अंत:स्रावों का निर्माण एवं स्राव करता है उसका कुल भाग लगभग 1-1.5 ग्राम तक होता है तथा यह मुख्यत: अग्न्याशय के पुच्छ भाग की

ओर अवस्थित होता है। अग्न्याशय का स्राव अन्य अंत:स्रावी ग्रंथियों के स्राव की तरह सीधे रक्त में मिलता रहता है।

प्रमुख कार्य

अग्न्याशय के लैंगरहैंस नामक द्वीप समूह में मुख्य रूप से चार प्रकार की कोशिकाऐं होती हैं जो अलग-अलग निम्न कार्यों का सम्पादन करती हैं—

1. बीटा कोशिकाऐं (β Cells)

बीटा कोशिकाओं की संख्या लगभग 70 प्रतिशत तक होती है तथा यह कोशिकाऐं इन्सुलिन नामक हार्मोन का स्राव करती हैं। इन्सुलिन (Insulin) हार्मोन की कमी से मधुमेह रोग की उत्पत्ति होती है।

2. अल्फा कोशिकाऐं (α cells or A cells)

अल्फा कोशिकाऐं लगभग 20 प्रतिशत तक होती हैं एवं ग्लूकैगोन (Glucagon) नामक हार्मोन का स्राव करती हैं। यह स्राव शरीर की रक्तगत शर्करा में वृद्धि करता है।

3. डेल्टा कोशिकाऐं (δ cells or D cells)

यह कोशिकाऐं लैंगरहैंस के द्वीपों के लगभग 5-10 प्रतिशत तक होती हैं। यह सोमैटोस्टैनिन (Somatostanin) नामक हार्मोन का स्राव करती हैं। यह हार्मोन इन्सुलिन एवं ग्लूकैगोन हार्मोन के स्राव को कम करता है।

4. पैंक्रियाटिक पालीपेप्टाइड कोशिकाऐं (PP cells or F cells)

यह कोशिकाऐं लगभग 1-2 प्रतिशत तक होती हैं एवं इनका आंत्र की क्रियाओं पर प्रभाव होता है।

भोजन ग्रहण करने के उपरान्त उसका पाचन होकर यह विभिन्न प्रकार की शर्कराओं के रूप में यकृत से होते हुए रक्त में मिश्रित हो जाता है। वस्तुत: इन्सुलिन के कारण ही रक्तगत शर्करा का दहन अथवा संचय होता है। यदि इन्सुलिन हार्मोन की कमी हो जाती है तो शारीरिक रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। इसे मधुरक्त (Hyperlycaemia) की अवस्था कहते हैं। मधुरक्त उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप वृक्क द्वारा जब पुन: शर्करा का अवशोषण नहीं हो पाता है तो यह रक्तगत शर्करा मूत्र में स्रवित होने लगती है, जिससे मधुमेह नामक रोग की उत्पत्ति होती है। रक्तगत शर्करा की अधिक मात्रा को शरीर से शीघ्रतापूर्वक बाहर निकालने के लिए अधिक जल की आवश्यकता होती है फलस्वरूप रोगी के शरीर से मूत्र का निष्कासन भी बढ़ जाता है। इस अवस्था को उदकमेह भी कहा जाता है। ऐसी स्थिति में रोगी के शरीर में बहुमूत्रता (Polyurea), अत्यधिक तृषा (Polydipsia) क्षुधाधिक्य (Hunger) एवं दौर्बल्य (Weakness) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

मधुमेह रोग का विस्तृत वर्णन लेखक की पुस्तक कायाचिकित्सा भाग II में किया गया है। अत: विस्तृत ज्ञान के लिए उसे वहीं देंखे।

7. वृषण ग्रंथियां

(Testicular Glands)

परिचय

वृषण भी अग्न्याशय की तरह एक उभय स्रावी ग्रंथि है। वृषण संख्या में दो होते हैं और प्रत्येक वृषण का सामान्य भार लगभग 25 ग्राम होता है। वृषण के मुख्यत: दो कार्य होते हैं—

1. शुक्राणु निर्माण (Spermatogenesis)
2. पुरुष अंत:स्राव का उत्पादन (Production of Male Harmones)

वृषण के अंत:स्राव (Harmones of the Testis)

वृषण ग्रंथियों से निम्नलिखित दो प्रकार के अंत:स्रावों का निर्माण एवं स्राव होता है—

1. टेस्टोस्टीरॉन (Testosterone)
2. एन्ड्रोस्टेनेडिआन (Androstenedion)

इसमें टेस्टोस्टीरॉन ही प्रमुख हार्मोन है। एन्ड्रोस्टेनेडिआन की मात्रा अत्यल्प होती है। अत्यन्त अल्प मात्रा में वृषण से इस्ट्रोजेन (Estrogen) हार्मोन का भी स्राव होता है। टेस्टोस्टीरॉन हार्मोन का स्राव वृषण की लेडिंग कोशिकाओं (Leyding cells) के द्वारा होंता है।

वृषण के अंत:स्राव के कार्य (Functions of Testosterone)

1. टेस्टोस्टीरॉन हार्मोन का स्राव गर्भावस्था में भ्रूण (Foetus) जब सात सप्ताह का हो जाता है, तभी से प्रारम्भ हो जाता है। यह गर्भावस्था में पुरुष जननांगों के विकास को प्रेरित करता है।
2. गर्भावस्था में ही टेस्टोस्टीरॉन हार्मोन उपआज्ञाकेंद्र (Hypothalamus) एवं मस्तिष्क (Brain) को प्रभावित करता है जिससे जन्म के पश्चात यौवनावस्था में पुरुषोचित व्यवहार जैसे- स्त्री के प्रति आकर्षित होना इत्यादि का विकास होता है।
3. यौवनावस्था में टेस्टोस्टीरॉन जननांगों के समुचित विकास के लिए उत्तर दायी होता है।
4. पुरुषों में द्वितीयक जनन लक्षणों (Secondary sexual characters) जैसे- मूंछ एवं दाढ़ी का उगना, जघन प्रदेश (Pubic Region) पर बालों की उत्पत्ति, मांसपेशियों में दृढ़ता (Muscular Strength), आवाज में भारीपन (Deepening of voice) आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है।
5. टेस्टोस्टीरॉन शुक्र के निर्माण (Spermatogenesis) एवं शुक्र की गति (Motility of sperm) को बनाए रखता है।

6. टेस्टोस्टीरॉन पुरुषों में आक्रामकता (Aggressive Behavior) के लिए भी कार्य करता है।
7. टेस्टोस्टीरॉन हार्मोन के कारण ही शरीर में उपचय (Anabolism) की दर (Rate) बढ़ जाती है एवं शरीर भार में भी वृद्धि होती है।

वृषण ग्रंथि स्राव का हीन योग
(Male Hypogonadism)

वृषण ग्रंथि अंत:स्रावों के हीन योग (Hypogonadism) के अनेक कारण होते हैं। कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

निदान

1. वृषण में किसी प्रकार की व्याधि (Diseases of Testes)
2. पीयूष ग्रंथि में किसी प्रकार का विकार होना जिससे वृषण ग्रंथि प्रेरक हार्मोन का स्राव का उत्पन्न नहीं होना।
3. अन्य कारण जो स्पष्ट नहीं हैं।

प्रमुख लक्षण (Clinical Features)

वृषण ग्रंथि के अंत:स्रावों के हीनयोग में निम्नलक्षण प्रकट होते हैं—

1. स्वर में परिवर्तन नहीं होना (No deepening of voice)
2. दाढ़ी, मूंछ का अत्यल्प प्रादुर्भाव (Not well developed beard and Moustache)
3. वृषण, शुक्राशय एवं पौरुष ग्रंथि का अल्प विकसित रहना (Inadequate development of testes, Seminal vesicles and Prostate gland)
4. अल्प मैथुन क्रियाशीलता (Loss of Libido)
5. आक्रामकता की कमी (Lack of aggressiveness)
6. मांस पेशियों का अल्प विकास (Lack of muscular development)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. सुव्यवस्थित दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या पालन
3. संतुलित एवं पौष्टिक आहार सेवन
4. हार्मोन्स (Harmones) का अंत: प्रयोग (Internal Use)
5. लाक्षणिक चिकित्सा
6. योगासन, योगमुद्रा, प्राणायाम

8. अंत: फल अथवा बीज कोश
(Ovary)

परिचय

अंत: फल भी एक प्रकार की उभय स्रावी ग्रंथि है। यह संख्या में दो होती हैं और इनके द्वारा मुख्यत: दो प्रकार के हार्मोनस का स्राव होता है—

1. इस्ट्रोजेन (Estrogen) एवं
2. प्रोजेस्टेरॉन (Progesterone)

इसके अतिरिक्त भी अन्य अंत: स्रावों का प्रादुर्भाव होता है परन्तु वे मात्रा में नगण्य होते हैं।

अंत: फल के अंत:स्रावों के कार्य (Functions of Harmones of Ovary)

1. इस्ट्रोजेन हार्मोन के कार्य (Functions of the Estrogen Harmone)

इस्ट्रोजेन हार्मोन के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं—

(i) इस्ट्रोजेन हार्मोन का प्रधान कार्य गर्भधारण करने के लिए गर्भाशय की तैयारी करना है। अत: यह गर्भाशय के अंत: भाग की वृद्धि करता है, रजोधर्म की प्रथम अवस्था (Proliferative stage of Endometrium) को विकसित करता है एवं गर्भाशय के ग्रीवा (Cervix of Uterus) में स्राव (Mucus) उत्पन्न करता है जो शुक्राणुओं की गति के लिए आवश्यक है।

(ii) इस्ट्रोजेन हार्मोन यौवनावस्था के समय योनि वृद्धि (Growth of vagina) एवं उसमें अम्लीयता उत्पन्न करता है।

(iii) यह हार्मोन स्तन एवं दुग्ध नलिकाओं के विकास का कार्य करता है।

(iv) इस्ट्रोजेन हार्मोन अधस्त्वक (Subcutaneous layer) में वसा संचय एवं स्त्रियोचित व्यवहार के विकास को प्रेरित करता है।

(v) आहार की कम मात्रा ग्रहण करने, जनन अथवा रतिक्रिया के प्रति अभिरुचि को जागृत करता है।

2. प्रोजेस्टेरॉन हार्मोन के कार्य (Functions of Progesterone Harmone)

प्रोजेस्टेरॉन हार्मोन के मुख्य कार्य निम्न प्रकार हैं-

(i) प्रोजेस्टेरॉन हार्मोन गर्भाशय में रजोधर्म की द्वितीय अवस्था (Secretary Phase) को प्रेरित करता है। गर्भाशय के संकुचन (Constriction) को रोकता है, गर्भाशय ग्रीवा गत स्राव (Mucus) को अत्यधिक घन (Concentrated) बना देता है।

(ii) स्तन को और अधिक विकसित करता है।

(iii) शरीर के तापक्रम को कुछ मात्रा में बढ़ाता है।

अंत:फल के अंत:स्रावों का हीन योग (Hypofunctions of the Ovarian Harmones)

अंत:फल के अंत:स्रावों की कमी से निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—

1. स्त्री सुलभ लक्षणों की कमी।
2. अल्प स्तन विकास।
3. अल्पार्तव अथवा अनार्तव।
4. बीजोत्सर्ग (Ovulation) नहीं होना।
5. स्त्रियों में पुरुषों जैसे कुछ लक्षणों की उत्पत्ति होना।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पथ्य एवं संतुलित आहार विहार सेवन
3. नियमित दिनचर्या, रात्रिचर्या पालन
4. हार्मोन्स का अंत: प्रयोग (Internal use of Harmones)
5. लाक्षणिक चिकित्सा
6. योगाभ्यास, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि

9. अपरा एवं अंत: स्राव

(Harmones of Placenta)

परिचय

अपरा एक अस्थायी (Temporary) अंत:स्रावी ग्रन्थि का कार्य करती है। गर्भधारण के लगभग 6-8 सप्ताह पश्चात अपरा निर्माण हो जाता है तथा इससे अंत:स्रावों का निकलना प्रारंभ होता है। अपरा से लगभग 5 प्रकार के प्रोटीन हार्मोन्स एवं दो प्रकार के स्टीरॉयड हार्मोन्स का स्राव होता है।

अपरा के प्रमुख अंत:स्रावी कार्य (Endocrinological Functions of Placenta)

अपरा के प्रमुख अंत:स्रावी कार्य निम्न प्रकार हैं—

1. अपरा द्वारा स्रावित प्रोटीन हार्मोन गर्भावस्था के समय प्रोजेस्टेरॉन हार्मोन के स्राव को बनाए रखने को प्रेरित करता है।
2. पुरुष बीजग्रंथि प्रवर्तक अंत: स्राव (Human Chorionic Gonadotrophin-

HCG) पुरुष भ्रूण (Male Foetus) में टेस्टोस्टीरॉन के स्राव को प्रेरित करता है जिसके परिणाम स्वरूप भ्रूण के वाह्य जननांगों का विकास होता है।

3. अपरा द्वारा स्रावित स्टीरॉयड हार्मोन्स (प्रोजेस्टेरॉन एवं इस्ट्रोजेन) गर्भावस्था को बनाए रखते हैं, गर्भावस्था को विकसित करते हैं एवं उनमें रक्तसंचार को बढ़ाते हैं।
4. अपरा से स्रावित स्टीरॉयड हार्मोन गर्भावस्था में स्तन के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं।
5. स्टीरायड हार्मोन माता के शरीर से अधिकाधिक पोषण गर्भ तक पहुंचाने की प्रक्रिया को प्रेरित करते हैं।
6. स्त्री के बीजग्रंथि प्रवर्तक अंत:स्राव (Gonadotropic Harmone) के नियमित स्राव को रोकते हैं एवं उसका संरक्षण करते हैं।

अध्याय-4

आनुवंशिक एवं पर्यावरणजन्य व्याधियाँ

(HEREDITARY AND ENVIRONMENTAL DISORDERS)

2. आनुवंशिक व्याधियाँ

(Heriditary Disorders)

परिचय

आधुनिक काल में आनुवंशिकी का अत्यधिक एवं बहुमुखी विकास हुआ है। अनेक अनुसंधानों के फलस्वरूप मनुष्य में उत्पन्न होने वाले अनेक कष्ट साध्य या असाध्य रोगों का ज्ञान, उनकी उत्पत्ति का प्रकार एवं उनका पारिवारिक इतिहास ज्ञात हुआ है जिससे चिकित्सा के क्षेत्र में नयी क्रांति का संचार हुआ है। पिछले कुछ दशकों में गुणसूत्र (Chromosomes) एवं जीन (Gene) को समझनें में अत्यधिक प्रगति हुई है जिसके कारण वैज्ञानिक जीन को बदलनें में भी सफल हो चुके हैं एवं विज्ञान की एक नयी शाखा Genetic Engineering का तीव्र विकास हुआ है। कुछ देशों में वैज्ञानिक अनेक प्रतिबंधों के बावजूद मानव क्लोन तैयार करने की दिशा में भी सफलता की ओर अग्रसर हैं। वैज्ञानिक यहाँ तक सफलता प्राप्त कर चुके हैं कि किसी जीव के शरीर की सामान्य कोशिकाओं (Somatic Cells) की सहायता से भी उसी प्रकार का प्रतिरूप (Clone) तैयार किया जा सकता है।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी नित्य प्रति नये अनुसंधानों के फलस्वरूप जो व्याधियाँ कुछ समय पहले असाध्य समझी जाती थीं आज उनकी चिकित्सा सुगमता से की जाने लगी है एवं उत्पन्न होने से पूर्व ही ऐसे रोगों से बचा जा सकता है।

आनुवंशिक व्याधियों का ज्ञान आयुर्वेद के प्राचीन मनीषियों को भी था। इस संदर्भ में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। आचार्य सुश्रुत ने आनुवांशिक रोगों को "आदिबल प्रवृत्त" बताया है। आचार्य याज्ञवल्क्य ने इसे "संचारी", आचार्य चरक ने "कुलज", आचार्य वाग्भट ने "सहज", एवं आचार्य भेल ने "प्रकृति प्रभाव" नाम से इनका उल्लेख किया है।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

1.	चरक संहिता शारीर स्थान	-	अध्याय 2,3,8
2.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	-	अध्याय 14
3.	सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान	-	अध्याय 24
4.	अष्टांग संग्रह शारीर स्थान	-	अध्याया 2
5.	भाव प्रकाश मध्यम खण्ड	-	अध्याय 59

परिभाषा

मनुष्य की उत्पत्ति का कारण पुरुष शुक्राणु (Sperm) एवं स्त्री बीज (Ovum) की परस्पर क्रिया होती है। माता एवं पिता के शुक्र शोणित में अवस्थित दोषों के कारण होने वाली संतति अथवा शिशु में उत्पन्न विकार या रोग को आनुवंशिक रोग (Hereditary disease) कहते हैं।[1]

पर्याय

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में अनेक ऐसे शब्द वर्णित हैं जिनका आनुवंशिकी के पर्याय रूप में प्रयोग होता है जैसे- सहज विकार, कुलज विकार, मातृपितृज विकार, आदिबल प्रवृत्त विकार, संचारी रोग एवं प्रकृति प्रभावज रोग इत्यादि।

निदान

आयुर्वेद में त्रिदोष की अवधारणा सबसे प्रधान मानी जाती है। आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट लिखा है कि सर्व प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ के लक्षण मिलने से तथा उन लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करने पर रोग शांत होने से एवं शास्त्रों में भी प्रमाण मिलते हैं कि वातादि दोष ही सब रोगों के उत्पादक कारण हैं[2]।

अत: आयुर्वेद मतानुसार आनुवंशिक व्याधियों के निम्न कारण हो सकते हैं—

1. माता का आर्तव दूषित होना
2. पिता का शुक्र दूषित होना
3. गर्भावस्था में माता द्वारा मिथ्या आहार विहार सेवन
4. आचार्य चरक ने बीज भाग, बीजभागावयव (Chromosomes and Genes) का दूषित या विकृत होना भी आनुवंशिक रोगों का कारण माना है।

---

1. तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानां।
   तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः - मातापित्रोरपचारः:
   पूर्वकृतं च कर्म, तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। (च.चि. 14/5)
2. सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एवं मूलं, तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च।
   (सु.सू. 24/9)
3. यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तः भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते॥
   (च.शा. 3/17)

5. गर्भाशय एवं काल की विकृति
6. विकृत काल में गर्भ धारण करना
7. गर्भावस्था में कुपोषण के कारण
8. दौहृद की अवमानना

अर्थात वह सभी कारण जो शुक्र एवं शोणित को स्थायी रूप से प्रभावित कर सकते हों, उन-उन कारणों को आनुवंशिक व्याधि का कारण मानना चाहिए।

सम्प्राप्ति

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में आनुवंशिक व्याधियों की अलग से सम्प्राप्ति का वर्णन नहीं मिलता है परंतु स्पष्ट संकेत अवश्य मिलता है। आचार्य चरक के अनुसार दूषित गर्भोत्पादक बीज या बीजभाग से जो-जो अंग उत्पन्न होते हैं अर्थात जिस अंग और प्रत्यङ्ग का बीजभाग दूषित होता है उस अंग या प्रत्यङ्ग में विकृति उत्पन्न होती है अन्य में विकृति उत्पन्न नहीं होती है[1]।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि लिखते हैं कि पुंबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज प्रत्येक अंग प्रत्यंङ्ग की उत्पत्ति में समर्थ बीज भागों के संयोग से बने हुए होते हैं। इसी कारण गर्भ की उत्पत्ति में यह बीज भाग ही विकसित होकर अंग प्रत्यङ्ग बनाते हैं[2]।

अत: विभिन्न कारणों से दूषित बीज, बीजभाग एवं बीजभागावयव ही आनुवंशिक व्याधियों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी होते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

मिथ्या आहार विहार का सेवन, दौहृद अपमान, कुपोषण इत्यादि

↓

बीज, बीजभाग, बीजभागावयव का दूषित होना

↓

विकृत गर्भ की उत्पत्ति

↓

आनुवंशिक व्याधियों की उत्पत्ति

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	त्रिदोष, रज एवं तम
दूष्य	:	बीज, बीजभाग, बीजभागावयव
अधिष्ठान	:	प्रभावित बीजभागावयव से उत्पन्न अंग
स्रोतस	:	उत्पन्न व्याधि से संबंधित स्रोतस
व्याधि स्वभाव	:	चिरकारी
साध्यासाध्यता	:	याप्य/असाध्य

1. यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपपप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृति रूप जायते, नोपजायते चानुपतापात। (च.शा. 3/17)
2. मनुष्य बीजं हि प्रत्यङ्गबीजभाग समुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूप पुरुषजन्मकम्। (च.शा. 3/17 पर चक्रपाणि टीका)

भेद

आचार्य सुश्रुत ने व्याधि वर्गीकरण के संदर्भ में आदिबल प्रवृत्त एवं जन्मबल प्रवृत्त व्याधियों का वर्णन किया है जिसे आनुवंशिक व्याधियों के अंतर्गत माना जाता है। यह व्याधियां निम्नलिखित हैं—

1. आदिबल प्रवृत्त रोग

पिता के शुक्र एवं माता के आर्तव दोष से उत्पन्न होने वाले कुष्ठ, अर्श इत्यादि रोग आदिबल प्रवृत्त रोग कहे जाते हैं। इनके दो भेद हैं[1]—

(अ) मातृज आदिबल प्रवृत्त रोग (ब) पितृज आदिबल प्रवृत्त रोग

आयुर्वेद में कुष्ठ तथा अर्श के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के रोग हैं जिन्हें आदिबल प्रवृत्त रोग कहा जाता है जैसे- राजयक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र, अपस्मार इत्यादि। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित रोगों में आदिबल प्रवृत्ति देखी जाती है।

(i) अर्बुद (Tumour)
(ii) मेदो अर्बुद (Lymphoma)
(iii) शोणित प्रियता (Haemophilia)
(iv) बाधिर्य (Deafness)
(v) मूकत्व (Aphonia)
(vi) वातरक्त (Gout)
(vii) अर्धावभेदक (Trigeminal Neuralgia)
(viii) त्वक् विकार (Eczema)
(ix) शीतपित्त (Urticaria)
(x) तृणपुष्पाख्य ज्वर (Hay fever)
(xi) अपतन्त्रक (Hysteria)
(xii) वर्णान्धता (Colour Blindness)
(xiii) तिमिर (Cataract)
(xiv) उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure)
(xv) कृशता एवं मेदो वृद्धि (Emaciation & Obesity)
(xvi) आमाशयिक व्रण (Gastric ulcer)
(xvii) वामन (Dwarfism)

1. तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वया: कुष्ठार्श: प्रभृतय:, तेऽपि द्विविधा: मातृजा: पितृजाश्च। (सु.सू. 24/6)

(xviii) ओष्ठ भेद (Hare lips, clefts lips)

(xix) तालु विकृति या खण्ड तालु (Cleft palate)

(xx) अंगुलियों में संख्यात्मक अंतर (Difference in number of fingers)

उपरोक्त व्याधियों में से कुछ व्याधियाँ प्रत्येक पीढ़ी में कुछ मात्रा में अवश्य होती हैं जैसे तिमिर इत्यादि। जबकि कुछ रोग एक या दो पीढ़ी के अंतर के बाद दिखायी देते हैं। कुछ व्याधियां केवल पुरुषों में मिलती हैं जबकि कुछ व्याधियां उन पुरुषों की पुत्रियों के पुरुष शिशु में धीरे-धीरे विकसित हो जाती हैं। अर्थात् पीढ़ी दर पीढ़ी आदिबल प्रवृत्त रोगों की उत्पत्ति होती रहती है।

2. जन्मबल प्रवृत्त व्याधियाँ

आचार्य सुश्रुत के अनुसार गर्भ के समय माता के मिथ्या आहार विहार के सेवन करने से जो रोग उत्पन्न होते हैं जैसे पङ्गु, जात्यान्ध, बधिर, मूक, मिन्मिन एवं वामन आदि विकार, उन्हें जन्मबल प्रवृत्त व्याधियां कहते हैं। यह भी दो प्रकार की होती हैं[1]—

(अ) दौहद् उपचार कृत (ब) रस कृत

(अ) दौहद् उपचार कृत[2]

गर्भावस्था के समय गर्भ के भीतर भी जीवन का संचार होने से माता के मन में जो अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं उनका यदि सम्यक् रूप से परिपालन नहीं किया जाये तो उससे उत्पन्न व्याधियों को "दौहद अपचार कृत व्याधियाँ" कहते हैं। इससे अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। दौहद अपचार से कुबड़ा, कुणि (लूला), खञ्ज, जड़, वामन, विकृताक्ष (टेढ़ी आंख वाला) एवं अनक्ष (अंधा) संतान पैदा होती हैं।

(ब) रस कृत[3]

विभिन्न प्रकार के आहार रस के निरंतर सेवन करने से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हें "रसकृत व्याधि" कहते हैं। यह व्याधियाँ भी कालान्तर में आनुवंशिक व्याधियों के रूप में विकसित हो सकती हैं। जैसे—

(i) मधुर रस के अत्यधिक सेवन से : मूकत्व, अतिस्थौल्य, प्रमेह रोग

(ii) अम्ल रस के नित्य सेवन से : रक्तपित्त, नेत्र रोग, त्वक् रोग

(iii) लवण रस के अत्यंत सेवन से : शीघ्र वली, पालित्य, खालित्य

1. जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते। तेऽपि द्विविधाःरसकृता दौहदापचारकृताश्च (सु.सू. 24/6)
2. दौहद विमाननात्, कुब्जं, कुणिं, खञ्जं, जड़ं, वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति। (सु.शा. 3/15)
3. मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा। (च.शा. 8/21)

(iv) कटु रस के निरंतर सेवन से : दौर्बल्य, अल्पशुक्रता

(v) तिक्त रस के अत्यन्त सेवन से : शोष, यक्ष्मा, बलहास

(vi) कषाय रस के अति सेवन से : आनाह, उदावर्त रोग

इसी प्रकार आचार्य चरक ने भी अनेक प्रकार के हानिकारक आहार द्रव्यों का वर्णन किया है जिनके अत्यन्त सेवन से संतान में विकृति उत्पन्न हो सकती है।

आचार्य वाग्भट ने दोषानुसार रसकृत व्याधियों का विस्तृत उल्लेख किया है जैसे— वात प्रधान रस सेवन से उत्पन्न व्याधियाँ, इसी प्रकार पित्त प्रधान, कफ प्रधान एवं त्रिदोषज प्रधान रस सेवन से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ[1]।

1. वातज आहार रस से उत्पन्न व्याधियाँ

जड़ता, बाधिर्य, मूकत्व, मिन्मिन, खञ्ज, कुब्ज, वामन एवं हीनाधिकाङ्गी (अर्थात् सामान्य से कम अथवा अधिक अंगों वाला) इत्यादि।

2. पित्तज आहार रस से उत्पन्न व्याधियाँ

खालित्य, पालित्य, दाढ़ी मूंछ के बालों का न आना, त्वचा, नख एवं नेत्र का पिङ्गल वर्ण होना इत्यादि।

3. कफज आहार रस से उत्पन्न व्याधियाँ

कुष्ठ, किलास एवं दंतगत व्याधियाँ

4. त्रिदोषज आहार रस से उत्पन्न व्याधियां

त्रिदोषज आहार रस से मिश्रित विकार उत्पन्न होते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर कुष्ठ, राजयक्ष्मा एवं अर्श आदि रोगों को आनुवांशिक व्याधि नहीं माना जा सकता है। क्योंकि यह प्रमाणित हो चुका है कि कुष्ठ एवं राजयक्ष्मा रोग उपसर्ग (Infection) के कारण उत्पन्न होते हैं। परंतु कुष्ठ अथवा राजयक्ष्मा से ग्रस्त माता-पिता की संतानें उनके अत्यंत निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनमें भी कुष्ठ एवं राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होने की संभावना अधिक रहती है। परंतु जन्म के तत्काल बाद यदि इन बच्चों को माता पिता से अलग रखकर उनका पालन पोषण किया जाये तो उनमें यह व्याधियाँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

आनुवंशिक व्याधियों के सामान्य लक्षण

आनुवंशिकी के कारण उपरोक्त जिन व्याधियों का उल्लेख किया गया है उनका वर्णन

1. यदा च लब्धगर्भाऽन्वक्षमेव वातलान्यसेवते तदाऽस्या वायुः प्रकुपितः शरीरमनुपर्ण गर्भाशयेऽवतिष्ठमानो गर्भस्य जड़बधिर मूक मिन्मिन गद्गद् खञ्ज कुब्ज वामन हीनाङ्गाधिकाङ्गात्वान्यन्यं वा वातविकारं करोति॥ तदा वायुव्रत पित्तमपि खालतिपलितश्मश्रुहीनता त्वङ्नखकेशपैङ्गुल्यादीनि॥ श्लेष्मातु कुष्ठकिलास दन्तत्वादीनि। त्रिवर्गो मिश्रान विकारान्॥ (अ.सं.शा. 2/34)

लेखक की पुस्तक कायचिकित्सा भाग II एवं भाग III के वातव्याधि प्रकरण में किया जा चुका है। अत: उन्हें वहीं देखें।

साध्यासाध्यता

आनुवंशिक व्याधियां प्राय: असाध्य होती हैं। परंतु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में अनेक प्रकार की औषधियां एवं उपकरणों का आविष्कार हो चुका है जिनके समुचित प्रयोग से इन व्याधियों को दूर करने में अंशत: सफलता प्राप्त होती है। इनके युक्ति पूर्वक प्रयोग से रोगी के जीवन को अधिक समय तक और बेहतर बनाया जा सकता है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. रोगी को समुचित परामर्श (Councelling of the patients)
3. पथ्यापथ्य का पालन
4. संतुलित आहार विहार
5. नियमित दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या पालन
6. उत्पन्न व्याधि के अनुसार उसके चिकित्सा सूत्र के आधार पर चिकित्सा करना
7. **सगोत्री विवाह का निषेध**[1]

यह आचार्य मनु की आनुवंशिक रोगों के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण मौलिक अवधारणा है। यदि माता एवं पिता के गोत्र के विरुद्ध गोत्र में विवाह कार्य किया जाऐ तो आनुवंशिक व्याधियों के उत्पन्न होने की सम्भावना कम हो जाती है।

8. आनुवंशिकी परामर्श (Genetic Advise)

आनुवंशिक रोगों से बचाव करने के लिए परामर्श अत्यंत आवश्यक है। सर्वप्रथम सावधानी पूर्वक रोग निदान करना चाहिए। यह सिद्ध होने के पश्चात कि अमुक व्याधि आनुवंशिक है, यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इसका आगमन माता या पिता किससे हुआ है ? इसके पश्चात ही रोगी को उचित परामर्श देना चाहिए। अनेक व्याधियाँ ऐसी होती हैं जिनमें एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन में भाई प्रभावित रहता है लेकिन बहन में व्याधि का कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता है। परंतु अगली पीढ़ी में बहन से उत्पन्न पुत्रों में पुन: वह व्याधि प्रकट हो जाती है। इसलिए भी संबंधित रोगी को आनुवंशिक परामर्श दिया जाना अत्यंत आवश्यक है।

1. अस पिण्डा च या मातुरस गोत्रा च या पितु:।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्माणि मैथुने॥ (मनुस्मृति)

Latest Developments
Genetic Disorders

Introduction

Genetically determined diseases are 2-3% of all pregnancies which result in the birth of child with a defective or absent gene. Up to 12% of paediatrics hospital admissions are the result of single gene disorders or chromosomal abnormalities. Although the frequency of adult diseases with a strong genetic component is more difficult to estimate, it may be as high as 50%.

Categories of Genetic Diseases

Diseases influenced by genetic factors may be grouped into following categories-

1. Mendelian Disorders

It is caused by mutation at single locus. It can be inherited or may result from new mutation.

2. Chromosomes Disorders

Usually caused by new mutation, when inherited show modified patterns of Mendelin Transmission.

3. Multifactorial Disorders

Diseases influenced rather than caused by genetic factors. No clear pattern of transmission.

4. Mitochondrial Disorders

Caused by mutations in the mitochondrial genome. Transmitted through the maternal line.

5. Somatic Cell Disorders

Involve mutations in the somatic cells. Tissue limited, Somatic mutations are not inherited or transmitted.

Single Gene Disorders

It is more accurately termed single locus disorders, refer to mutation in either one or in a pair of homologous alleles at a single locus.

It has 3 categories namely-

1. Autosomal dominant
2. Autosomal recessive
3. X-linked recessive

1. Autosomal Dominant

These disorders include-

(i) Familial combined Hyperlipidaemia
(ii) Familial Hypercholesterolaemia
(iii) Dominant otosclerosis
(iv) Adult polycystic kidney disease

(v) Huntingtons disease (vi) Myotonic dystrophy.

2. Autosomal Recessive

These disorders include-

(i) Cystic fibrosis (ii) α_1-antitripsin deficiency

(iii) Phenylketonurea

(iv) Congenital adrenal hyperplasia

(v) Sickle cell anaemia (vi) β Thalasaemia

3. X-Linked Recessive

These Disorders include-

(i) Haemophilia A and haemophilia B

(ii) Becker muscular dystrophy.

(iii) Duchenne Muscular Dystrophy.

Multifactorial Disorders

These includes-

1. Congenital Malformations

(i) Cleft Lip and Cleft Palate (ii) Club foot

(iii) Dislocation of Hip (iv) Pyloric Stenosis

(v) Spina Bifida

2. Adult Diseases

(i) Alzheimer's disease (ii) Epilepsy

(iii) Hypertension (iv) Manic depression

(v) Multiple sclerosis (vi) Schizophrenia

Management : Principles and Prevention of Genetic Diseases

Very few genetic diseases can be successfully treated. The emphasis in clinical genetics is therefore to assist people to avoid occurences and recurrences by genetic councelling and if need be, by prenatal diagnosis.

Features of Genetic Counselling

There are generally three groups in genetic counselling-

1. To take History
   - (i) Construct Pedigree (ii) Examine proband
   - (iii) Establish Diagnosis
2. Counseiling
   - (i) Risk Estimation (ii) Options Available
3. Follow up
   - (i) Arrange necessary procedures
   - (ii) Review & support

Gene Therapy

Attempts to treat genetic diseases have tended to focus on alleviating the metabolic or biochemical consequences of the gene defect for e.g. by dietary restriction of phenylalanine in children with phenylketonurea. None of these approaches have been very successful, and genetic diseases are conventionally regarded as untreatable. However the advent of gene therapy, the introduction of normal genes into tissue expressing defective ones, promises to change this dismal conclusion.

2. पर्यावरण जनित व्याधियाँ एवं उनका प्रतिकार

(Environmental Disorders and their Management)

परिचय

मनुष्य जब आदि काल में पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ उस समय उसके जीवन यापन करने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं थे, लेकिन उन्हें प्रकृति के निकट रहने का अवसर प्राप्त था। उस समय का पर्यावरण मानव जीवन के पूर्णत: अनुकूल था अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ही मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण मित्र थी जो उन्हें सब कुछ जैसे- जल, वायु, भोजन, इत्यादि नि:शुल्क एवं शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध कराती थी। परंतु धीरे-धीरे सभ्यता का विकास होने लगा तथा मानव मस्तिष्क सक्रिय होकर अपने लिए नित नयी आवश्यकताएं एवं उनकी पूर्ति के उपायों के लिए क्रियान्वयन में संलग्न हो गया। फलस्वरूप धीरे-धीरे मानव प्रकृति से दूर होता चला गया। सृष्टि में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मानव अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु अपने ही कार्यों से प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषित करने लगा। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध एवं बीसवीं सदी में विश्व के अधिकांश देशों में अत्यधिक तीव्र गति से औद्योगिक क्षेत्र का विकास हुआ है जिसके कारण प्राकृतिक पर्यावरण भी लगातार एवं तेजी से अत्यधिक प्रदूषित होता गया। आज के युग में भौतिकतावादी विकास एवं आर्थिक सम्पन्नता के कारण एक ओर तो मनुष्य के कदम चन्द्रमा पर पहुंच गये हैं और आज का मानव मंगल ग्रह पर पहुंचने की तैयारी में है। पूरा विश्व एक छोटे से गांव के रूप में बदलता जा रहा है जिसका कारण संचार क्रांति है। इंटरनेट की सहायता से विश्व के एक कोने में बैठा व्यक्ति अन्य किसी भी व्यक्ति से तत्काल सम्पर्क कर विचार विमर्श कर सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में विश्व व्यापी अविश्वशनीय प्रगति होने के परिणामस्वरूप आज मनुष्य को समस्त प्रकार की सुख एवं सुविधाएं उपलब्ध हैं। परंतु दूसरी ओर भयंकर त्रासदी है कि विश्व की एक बहुत बड़ी जनसंख्या को पीने का स्वच्छ जल भी समुचित मात्रा में उपलब्ध नहीं है और रहने के लिए भी पर्याप्त स्थान उपलब्ध नहीं है। सम्पूर्ण विश्व में समस्त वातावरण की वायु गंभीर

स्तर तक प्रदूषित हो रही है जिससे महानगरों में सामान्य रूप से सांस लेना भी मुश्किल होता जा रहा है।

प्रदूषण के कारण प्रतिक्षण अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं जिनका मनुष्य के स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव दिखायी दे रहा है। भारत, श्रीलंका एवं इन्डोनेशिया आदि देशों में आयी सुनामी त्रासदी का कारण भी वैज्ञानिक, वातावरण एवं प्रदूषण जन्य परिवर्तनों को ही मान रहे हैं। सुनामी त्रासदी के बाद पुन: वातावरण में गंभीर परिवर्तनों की सूचनाएं प्राप्त हो रही हैं। जहां पर पहले मीठा पानी था वह स्थान अब खारे पानी के तालाब में बदल चुका है जिसके कारण वहां सामान्य जनजीवन पर घातक प्रभाव पड़ रहा है। सुनामी प्रभावित स्थानों का परिस्थितीकीय तंत्र (Ecosystem) ही बदल गया है। विश्व के अनेक भागों में चल रहे युद्ध, लड़ाइयां, औद्योगीकरण, तीव्र शहरीकरण एवं जंगलों का सफाया भी पर्यावरण को घातक नुकसान पहुंचा रहे हैं। भोपाल गैस त्रासदी भी असंयमित पर्यावरण एवं विभिन्न प्रकार के प्रदूषण का परिणाम थी जिसके कारण हजारों लोग अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए थे।

पर्यावरण के क्षेत्र अनंत हैं तथा अलग-अलग स्थानों का पर्यावरण अलग-अलग प्रकार से प्रभावित हो रहा है। जीवन को सुखद, संतुलित एवं उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए जिन मौलिक तत्वों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है उनका वर्णन यहां किया जा रहा है। इन तत्वों की शुद्धता बनी रहने पर मनुष्य का जीवन संतुलित एवं व्यवस्थित रूप से चलता रहता है और इनके प्रदूषण से प्राणि जगत के अस्तित्व पर ही खतरे के बादल मंडराने लगते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख विषय

पर्यावरण के प्रमुख विषयों को चिन्हित करना एक कठिन कार्य है क्योंकि प्राणि जगत को पर्यावरण संबंधी अनेक भाव (विषय) प्रभावित करते हैं। प्राथमिकता के आधार पर पर्यावरण के कुछ प्रमुख विषयों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. वायु प्रदूषण
2. जल प्रदूषण
3. ध्वनि प्रदूषण
4. औद्योगिक
5. व्यावसायिक
6. भूमि (देश)
7. काल प्रदूषण
8. शव विनाश एवं पर्यावरण
9. युद्ध जनित पर्यावरण प्रदूषण

3. वायुप्रदूषण

परिचय

जीवन के लिए वायु अत्यंत महत्वपूर्ण है। जीवन की गतिशीलता के लिए भोजन, जल एवं वायु सर्वाधिक आवश्यक तत्व हैं। इनमें वायु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वायु के बिना क्षण भर भी जीवित रहना असम्भव है। शरीर की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को संचालित करने में शुद्ध वायु की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वायु के संयोग से ही आहार द्रव्यों का चयापचय (Metabolism) होकर ऊर्जा की प्राप्ति होती है एवं जीवन का क्रम निरंतर, निर्बाध गति से चलता रहता है। श्वसन क्रिया द्वारा रक्त का शुद्धिकरण, शक्ति का उत्पादन, शरीर ताप का परिरक्षण तथा जीवन की अन्य प्रक्रियाएं उचित क्रम में सम्यक् रूप से तभी सम्पादित होती हैं जब जीवित शरीर को शुद्ध एवं स्वच्छ वायु पर्याप्त मात्रा में निरंतर प्राप्त होती रहे।

शुद्ध वायु की उपलब्धता से शारीरिक क्रियाऐं सम्यक् रूप से संचालित होती हैं। इसके विपरीत अशुद्ध वायु शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियों की उत्पति करता है तथा इससे निरंतर जीवन की क्षति होती रहती है। शास्त्रों में वायु के जो जीवनोपयोगी प्राकृत कर्म बताए गये हैं, वे अधिकांशत: प्राण वायु के कर्म हैं। प्राणवायु को ही आक्सीजन (Oxygen) कहा जाता है जो जीवन के लिए अनिवार्य है। आचार्य चरक ने वायु को "तन्त्रयन्त्रधर" कहा है[1]। यह प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान स्वरूप है तथा शरीर की समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक है, मन का प्रणेता एवं नियन्ता है, सभी इन्द्रियार्थों को ग्रहण करने वाला है और शरीर का संधान करने वाला है। शरीर में होने वाले समस्त कर्म अप्रकुपित वायु के ही कर्म हैं।

सभी जीवधारी श्वसन प्रक्रिया द्वारा वातावरण में कार्बन डाईआक्साइड छोड़ते हैं। यदि कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा वातावरण में सामान्य से अधिक बढ़ती है तो वायु प्रदूषित हो जाती है। इस प्रदूषण को रोकने के लिए प्रकृति ने स्वत: व्यवस्था की है जिसके अंतर्गत वनस्पतियां कार्बन डाई आक्साइड का उपयोग क्लोरोफिल की सहायता से अपना खाद्य पदार्थ बनाने में प्रयोग करती हैं एवं आक्सीजन वायुमंडल में छोड़ती हैं। जिसका प्रयोग प्राणि जगत द्वारा श्वसन कार्य के लिए किया जाता है। इससे पर्यावरण संतुलन बना रहता है। रात्रि में वनस्पतियाँ भी कार्बन डाई आक्साइड का ही त्याग करती हैं। इसीलिए रात्रि में पेड़ पौधों के पास रहने, सोने के लिए आचार्यों ने मना किया है।

वायु प्रदूषण के कारण

वायु प्रदूषण के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख यहां किया जा रहा है—

1. शहरी क्षेत्रों में मोटर गाड़ियां वायु प्रदूषण का प्रमुख कारण हैं। उनसे निकलने

1. वायुस्तन्त्रयन्त्रधर:। (च.सू. 12/6)

वाले हाइड्रोकार्बन, कार्बन मोनोक्साइड, सीसा, नाइट्रोजन आक्साइड प्रमुख होते हैं। डीजल इंजन इत्यादि से निकलने वाला काला धुआं अत्यंत वायु प्रदूषक होता है।

2. विभिन्न उद्योगों द्वारा अनियंत्रित रूप से प्रचुर मात्रा में वायु प्रदूषक तत्वों का निष्कासन होता है जो वातावरण में मिलकर वायु प्रदूषण करते हैं।
3. विभिन्न घरेलू कार्यों के लिए कोयला, लकड़ी, डीजल, मिट्टी का तेल इत्यादि के प्रयोग से वायु मंडल प्रदूषित होता रहता है।
4. धूल, रुई के कण एवं रेशे, पराग, खनिज द्रव्यों के सूक्ष्म कण आदि का वायुमंडल में प्रवेश।
5. मल-मूत्र इत्यादि के समुचित निष्कासन प्रक्रिया के अभाव में दुर्गन्धित एवं अस्वास्थ्य कर वायु तथा सूक्ष्म संक्रामक जीवाणुओं, विषाणुओं द्वारा वायु का प्रदूषण।
6. जीवधारियों एवं वनस्पतियों के सड़ने से दूषित एवं दुर्गन्धित वायु द्वारा वातावरण का प्रदूषण।
7. मनुष्यों, पशुओं एवं अन्य जीवधारियों द्वारा बहिर्श्वास के समय छोड़े जाने वाले कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा में वृद्धि।
8. अनियंत्रित रूप से अनेक प्रकार के कीट नाशकों का छिड़काव, विभिन्न प्रकार के कवक, मिसाइल परीक्षण, परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम इत्यादि से भी वायु प्रदूषण होता है।

वायु प्रदूषण से उत्पन्न प्रमुख व्याधियां

वर्तमान समय में विश्व की लगभग 1.3 बिलियन (Billion) शहरी जनसंख्या वायु प्रदूषण की निर्धारित सीमा से अधिक प्रदूषित वातावरण में निवास करती है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य के स्वास्थ्य पर अत्यंत घातक प्रभाव देखा जा रहा है। वायु प्रदूषण के कारण निम्नलिखित प्रमुख व्याधियां उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है—

1. कास (Cough)
2. श्वास (Asthma)
3. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
4. शिरः शूल (Headache)
5. फुफ्फुसार्बुद (Lung Cancer)
6. श्वसन अनूर्जता (Respiratory Allergy)
7. मस्तिष्क एवं तंत्रिका तंत्र का अल्प विकास (Impaired development of brain and nervous system)
8. आलस्य (Lethargy)
9. अरोचक (Anorexia)
10. पाण्डु (Anaemia)
11. प्रतिश्याय (Rhinitis)
12. विबंध (Constipation)
13. अग्निमांद्य (Poor Appetite)
14. दौर्बल्य (Weakness)
15. कुष्ठ (Leprosy)

16. चेचक (Small Pox)
17. रोहिणी (Diphtheria)
18. मसूरिका (Chicken Pox)
19. सिलिकोसिस (Silicosis)
20. सिड्रोसिस (Sidrosis)
21. एन्थ्राकोसिस (Anthracosis)

वायु प्रदूषण का नियंत्रण एवं बचाव (Prevention and control of air Pollution)

विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization) ने वायु प्रदूषण के नियंत्रण एवं इससे बचाव हेतु निम्नलिखित उपाय प्रयोग में लाने का निर्देश दिया है—

1. विषाक्त पदार्थों को वातावरण में मिलने से रोकना। यह प्रक्रिया विभिन्न प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियों के प्रयोग से संभव है।
2. वायु प्रदूषक तकनीकों को हटाकर उनके स्थान पर नयी विधियों का प्रयोग। विद्युत, प्राकृतिक गैस, सीसा रहित पेट्रोल का प्रयोग करना।
3. औद्योगिक क्षेत्रों एवं शहरी क्षेत्रों के बीच पर्याप्त मात्रा में हरा क्षेत्र (Green belt) का निर्माण करना जिससे वायु प्रदूषक तत्वों की मात्रा में पर्याप्त कमी आती है।
4. वायु प्रदूषण रोकने हेतु कड़े नियम-कानून बनाकर उन्हें समुचित रूप से लागू करना।
5. विश्व में आम व्यक्ति को जागरूक बनाना।

वायु शुद्धिकरण के उपाय

वायु शुद्धिकरण के लिए निम्न उपाय करने चाहिऐ—

1. वायुशुद्धि के लिए संबंधित स्थान पर शुद्ध वायु का अधिकाधिक प्रवाहण करना। इसके लिए आसपास का वातावरण खुला होना चाहिए।
2. धूपन द्रव्यों से धूपन करना चाहिए जैसे- धूप, गुग्गुलु, कर्पूर, देवदारु, चंदन, सर्ज, अगरु, निम्ब, तेजपत्र, गंधक, राजिका, श्वेत सर्षप इत्यादि।
3. घरों में वायु शीतलीकरण यंत्र (Air conditioner) का प्रयोग
4. कमरों में वायु निष्कासक पंखों (Exhaust fans) एवं कूलर का प्रयोग।
6. खस की टट्टी अथवा खसखस के पर्दे का प्रयोग।
7. कमरे में अत्यधिक सूर्य की उष्मा का प्रवेश रोकना, खिड़की एवं दरवाजे बंद करके हरे-नीले पर्दे का प्रयोग भी कमरे में आतप प्रवेश को रोकता है।

आवास में वायु प्रवेश-निकास व्यवस्था (Ventilation)

वायु के समुचित आवागमन हेतु निम्नलिखित दो प्रकार की व्यवस्था की जाती है—

1. बहिर्वेन्टिलेशन (External Ventilation)
2. अंतर्वेन्टिलेशन (Internal Ventilation)

1. बहिर्वेन्टिलेशन

बहिर्वेन्टिलेशन का तात्पर्य नगर अथवा ग्राम के अंदर चारों तरफ वायु का परिपूर्ण आवागमन होना है। यदि बहिर्वेन्टिलेशन उपयुक्त नहीं होगा तो अन्तर्वेन्टिलेशन भी प्रभावी नहीं हो सकता है। अत: बहिर्वेन्टिलेशन को व्यवस्थित करने हेतु निम्न उपाय करने चाहिऐं—

(i) ग्राम अथवा नगर का निर्माण खुले स्थान पर तथा स्वच्छ भूमि एवं स्वच्छ वातावरण में करना चाहिए।
(ii) आवासीय गृहों का निर्माण अलग-अलग पक्तियों में करना चाहिए।
(iii) प्रत्येक गृह के चारों तरफ अथवा कम से कम दो तरफ खुला स्थान होना चाहिए, विशेष कर सामने की ओर।
(iv) नगर एवं ग्राम की सड़क या गलियाँ पर्याप्त चौड़ी होनी चाहिए।
(v) घर की छतें पर्याप्त ऊंची होनी चाहिऐ।
(vi) नगर या ग्राम के पास में ही पार्क अथवा बाग बगीचे अवश्य होने चाहिए।
(vii) पक्की सड़कों के अभाव में गलियों में जल छिड़काव होना चाहिए जिससे धूल उड़कर वायु प्रदूषण न कर सके।
(viii) मल-मूत्र विसर्जन की समुचित व्यवस्था आवश्यक है।
(ix) अपद्रव्य निवारण की उचित व्यवस्था अनिवार्य है।
(x) कल-कारखानें, उद्योग धंधे, आवासीय स्थान से पर्याप्त दूरी पर होने चाहिए।

2. अंतर्वेन्टिलेशन (Internal Ventilation)

अंतर्वेन्टिलेशन से तात्पर्य घर के अंदर शुद्ध वायु के प्रवेश तथा अशुद्ध वायु के निष्कासन से है। इसके लिए घरों में पर्याप्त खिड़कियां, रोशनदान का निर्माण अवश्य

4. जल प्रदूषण

परिचय

जल ही जीवन है। जल के बिना जीवित रहना असम्भव है। प्राचीन नदी घाटी सभ्यताऐं इसीलिए नदियों के किनारे ही विकसित हुई थीं। मानव शरीर में लगभग 80 प्रतिशत भाग जल ही होता है। अस्थियाँ जो कि सर्वाधिक कठोर होती हैं उनमें भी 10 प्रतिशत तक जल होता है। जल शरीर की वाह्य एवं आभ्यान्तर स्वच्छता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। जलीयांश के माध्यम से ही पोषक तत्वों का अवशोषण होकर एवं रक्त के साथ मिश्रित होकर शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों तक पहुंच कर उनका समुचित रूप से पोषण होता है।

शरीर में जल के प्रमुख कार्य

शरीर में जल निम्न कार्य सम्पादित करता है—

1. शारीरिक उष्मा का शरीर में यथावश्यक विकिरण करना
2. शरीर के तापक्रम को संतुलित बनाऐ रखना
3. पाचक रसों की उत्पत्ति में सहायता करना
4. शरीर से उत्सर्जन योग्य तत्वों को शरीर से बाहर निकालने में सहायता करना
5. उतकों के जल संचय को सामान्य प्रमाण में बनाए रखना
6. शरीरगत रक्त एवं लसीका की तरलता को बनाए रखना
7. आहार रस के सर्व शरीर में संचरण में सहायता करना

जल की प्रमुख अशुद्धियाँ

जल की अशुद्धियाँ प्राय: निम्न दो प्रकार की होती हैं—

1. घुलित अशुद्धियाँ (Dissolved Impurities)
2. अवलम्बित अशुद्धियाँ (Suspended or Undissolved Impurities)

1. जल की घुलित अशुद्धियाँ (Dissolved Impurities of Water)

जल की घुलित अशुद्धियों के अंतर्गत कई प्रकार की गैसें, कार्बोलिक अम्ल, आक्सीजन, सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन, क्लोराइड लवण, कैल्सियम सल्फेट, मैग्निशियम सल्फेट, लौह, सीसा आदि धातुऐं और भूमि से मिलने वाले विभिन्न प्रकार के कार्बनिक (Organic) पदार्थ होते हैं।

2. जल की अवलम्बित अशुद्धियाँ (Undissolved or Suspended Impurities of water)

जल की अवलम्बित अशुद्धियों के अंतर्गत वनस्पतियाँ, पशुओं से प्राप्त अशुद्धियाँ, बालू, मिट्टी, जीवाणु तथा कृमि आदि पाए जाते हैं। यह अशुद्धियां जल में घुलनशील नहीं होती हैं।

जल की अशुद्धियों को निम्न रेखा चित्र द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है—

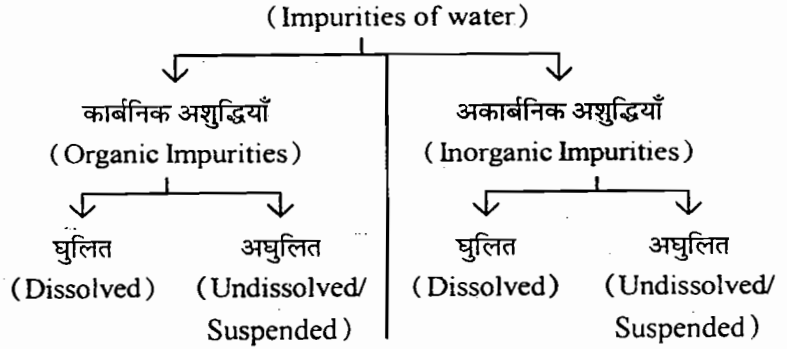

उद्गम स्थल पर (At the site of origin)	जलाशय में (In ponds, Rivers etc.)	संचय के समय (At storage Level)	जलापूर्ति के समय (At the time of supply)

जल प्रदूषण से उत्पन्न प्रमुख व्याधियाँ

प्रदूषित जल अथवा अशुद्ध जल के सेवन से निम्नलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं—

1. कठिन जल (Hard water) से उत्पन्न होने वाले रोग-अर्जीण (Indigestion), अग्निमांद्य (Anorexia), उदावर्त (Belching), अतिसार (Diarrhoea) इत्यादि।
2. जीवाणु एवं विषाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग जैसे- आंत्रिक ज्वर (Typhoid fever), ज्वर (Fever), प्रवाहिका (Dysentary), अतिसार (Diarrhoea), विसूचिका (Cholera), कामला (Infective or Viral Hepatitis) इत्यादि।
3. परजीवी (Parasitic) कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग- गण्डूपद कृमि (Ascariasis), अंकुश मुख कृमि (Hook worms), अमीबिक प्रवाहिका (Amoebic Dysentry) एवं मलेरिया (Malaria) इत्यादि।

जल शोधन की विधियाँ

जल का शोधन मुख्यत: निम्न दो प्रकार से किया जाता है—

1. मार्जन 2. प्रसादन

1. मार्जन विधि

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार जल शोधन की इस विधि के अंतर्गत अनेक प्रक्रियाएं आती हैं जैसे[1]—

(i) जल को अग्नि पर गर्म करना
(ii) जल को धूप में तपाकर गर्म करना
(iii) अग्नितप्त लौह पिण्ड, ईंट इत्यादि को जल में डालकर पुन: जल को छान लेना
(iv) विशेष यंत्र में जल को गर्म कर उसकी वाष्प को तीर्यक पातन यंत्र से बाहर निकालकर उत्पन्न किया गया जल (Distilled water) अत्यंत शुद्ध एवं उत्तम होता है।

1. व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायः पिण्डसिकतालोष्ट्राणाम् वा निर्वापणं प्रसादनञ्च कर्त्तव्यम्। (सु.सू. 45/12)

2. प्रसादन विधि

इस विधि के अंतर्गत निर्मली बीज, शैवाल, फिटकरी, तूतिया, ब्लीचिंग पाउडर अथवा पोटैशियम परमैंगनेट इत्यादि को जल में डालकर जल शोधन करना प्रसादन कहलाता है। आचार्य सुश्रुत ने कलुषित जल को शुद्ध करने के लिए निम्न सात वस्तुओं का प्रयोग करने का निर्देश किया है[1]—

(i) निर्मली के बीज (v) वस्त्र से छानना
(ii) गोमेद मणि (vi) मुक्ता प्रक्षेप
(iii) कमल नाल (vii) स्फटिक प्रक्षेप
(iv) शैवालमूल

जल शोधन की आधुनिक विधियाँ

अशुद्ध जल को निम्नलिखित विधियों से शुद्ध किया जा सकता है—

1. प्राकृतिक विधि

इसके अंतर्गत दो उपाय किए जाते हैं—

(i) बड़े-बड़े जलाशयों में जल का संग्रहण (Storage of water)

(ii) जल स्थिर होने पर उसे दूसरे एवं तीसरे जलाशय में संचित किया जाता है एवं वहां पर क्लोरीन डालकर पुन: संग्रहित कर लिया जाता है एवं भूमिगत पाइप के माध्यम से जल का यथावश्यक वितरण किया जाता है।

2. कृत्रिम विधि (Artificial Method)

इसके अंतर्गत जल शोधन की प्राय: तीन विधियां अपनायी जाती हैं—

(i) भौतिक विधि (Physical Method)

इस विधि के अंतर्गत (Distillation) एवं (Boiling) की प्रक्रियाओं के द्वारा अशुद्ध जल को शुद्ध किया जाता है।

(ii) रासायनिक विधि (Chemical Method)

इस विधि के अंतर्गत Precipitation, Disinfection अथवा Sterilization की प्रक्रियाओं की सहायता से अशुद्ध जल के निर्मलीकरण का प्रयास किया जाता है।

(iii) छनन विधि (Filtration Method)

छनन विधि के अंतर्गत निम्न प्रक्रियाऐं अपनायी जाती हैं—

(अ) Slow sand Filtration
(ब) Rapid Mechanical Filtration
(स) Domestic Filtration

1. तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति। तद्यथा- कतकगोमेदकविसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति॥ (सु.सू. 45/17)

जल शोधन की रासायनिक विधियों में सबसे उत्तम विधि क्लोरिनेशन है जो प्राय: ब्लीचिंग पाउडर से किया जाता है। क्लोरिनेशन के अतिरिक्त ओजोनाइजेशन, अल्ट्रावायलेट किरणें एवं कैटाडिन सिल्वर विधि के द्वारा भी जल का शोधन किया जाता है।

घरेलू प्रयोग के लिए जल का शोधन Distillation, Boiling या Filtration द्वारा अथवा फिटकरी, तूतिया, चूना, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन एवं पोटैशियम परमैंगनेट आदि की सहायता से किया जाता है।

5. ध्वनि प्रदूषण

परिचय

वर्तमान समय में तीव्र औद्योगिक विकास, क्रय शक्ति में वृद्धि, आधुनिक सुविधाओं की बढ़ती उपलब्धता एवं तीव्र आधुनिकीकरण के कारण ध्वनि प्रदूषण भी एक गंभीर समस्या के रूप में प्रकट हुआ है। ध्वनि प्रदूषण के फलस्वरूप मानव स्वास्थ्य पर गंभीर विपरीत प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय में ध्वनि प्रदूषण से बचाव पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

ध्वनि कि तीव्रता प्राय: डेसिबल इकाई में मापी जाती है। मनुष्य द्वारा 80 डेसिबल तक की ध्वनि को सहन किया जा सकता है तथा इससे कोई हानि नहीं होती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization) के अनुसार 120 डेसिबल से अधिक तीव्रता की ध्वनि से सिरदर्द प्रारम्भ हो जाता है जबकि 140 डेसिबल की ध्वनि व्यक्ति को पागल बना सकती है।

ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख कारण

ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख कारण निम्न हैं—

1. दुपहिया, तिपहिया वाहनों, कार, बस, ट्रक, रेलगाड़ियों आदि की तीव्र ध्वनि।
2. हवाईजहाज की तीव्र आवाज।
3. पटाखों के फटने की ध्वनि, विवाह समारोह इत्यादि में बजने वाले वाद्य यंत्रों का शोर।
4. प्रार्थना, कीर्तन, भजन, आरती, नमाज इत्यादि का शोर।
5. तीव्र आवाज में गाना बजाना, सिनेमा इत्यादि की ध्वनि।

ध्वनि प्रदूषण का स्वास्थ्य पर प्रभाव

ध्वनि की तीव्रता का स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ध्वनि प्रदूषण से निम्न विकार उत्पन्न हो सकते हैं—

1. कर्ण को अत्यधिक क्षति होती है एवं बधिर (Deafness) होने की संभावना बढ़ जाती है।

2. तीव्र ध्वनि से धमनियों में सिकुड़न (Constriction in cerebral arteries) होने लगता है।
3. रक्तदाब बढ़ जाता है (Hypertension)
4. श्वसन एवं पाचन क्रिया में अनियमितता (Disturbed Respiration and Digestion)
5. अंत:स्रावी ग्रंथियों के स्राव में अनियमितता (Irregular Endocrinal Secretions)
6. रात्रि अंधता, रंग ज्ञान में कमी, नेत्र ज्योति में मंदता (Night Blindness, Colour Blindness, Poor vision)
7. थकान (Fatigue)
8. उदासी (Depression)
9. मन की चंचलता (Anxiety disorders)
10. कार्यक्षमता में कमी (Decreased efficiency to perform)

ध्वनि प्रदूषण से बचाव के उपाय

ध्वनि प्रदूषण से बचाव के लिए निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं—

1. सर्व साधारण को ध्वनि प्रदूषण के खतरों के प्रति आगाह करते हुए व्यापक रूप से जनजागरण अभियान चलाना।
2. साइलेंसर युक्त वाहनों का प्रयोग एवं कम आवाज के हार्न का प्रयोग।
3. मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर, मेला, बाजार, सभागार, सिनेमाहाल आदि में ध्वनि नियंत्रण करना।
4. घर में रेडियो, ट्रान्जिस्टर, टेलीविजन, टेपरिकार्डर, होम थियेटर आदि को धीमी गति की आवाज में चलाना।
5. पटाखा, बैंडबाजा आदि को प्रतिबंधित करना।
6. ध्वनि प्रदूषण रोकने हेतु कठोर कानून बनाकर सफलता पूर्वक लागू करना।
7. शोर शराबे को रोकने का हर संभव प्रयास करना।

6. औद्योगिक प्रदूषण

परिचय

औद्योगिक इकाइयों का पर्यावरण सामान्य पर्यावरण से पूर्णत: भिन्न प्रकार का होता है। अनेक प्रकार के रासायनिक द्रव्यों, धूल, धुआं, डीजल, पेट्रोल, कोयला आदि के द्वारा पर्यावरण निरंतर प्रदूषित होता रहता है। डीजल, पेट्रोल एवं कोयला इत्यादि के अत्यधि-

प्रयोग से वातावरण में कार्बनमोनोक्साइड एवं कार्बनडाइआक्साइड नामक गैसों की मात्रा बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप वातावरण में आक्सीजन की कमी होने लगती है।

औद्योगिक पर्यावरण प्रदूषण से बचाव के उपाय

औद्योगिक पर्यावरण की रक्षा तथा वायु प्रदूषण रोकने के लिए स्पष्ट नियम तथा उन पर कठोरता से अमल करके औद्योगिक पर्यावरण को बेहतर बनाया जा सकता है। इसके लिए निम्न उपाय करने चाहिए—

1. औद्योगिक संस्थानों की स्थापना नगर से पर्याप्त दूरी पर होनी चाहिए।
2. औद्योगिक संस्थान खुले वातावरण में होने चाहिए जहां पर आबादी नहीं हो।
3. औद्योगिक प्रखंडों में अलग-अलग कक्ष होने चाहियें, जैसे- कार्यालय, कार्यशाला, आवासीय गृह, कच्चे एवं निर्मित सामान के लिए अलग-अलग कक्ष एवं अपद्रव्य निवारण की समुचित व्यवस्था इत्यादि।
4. औद्योगिक संस्थानों में ही स्कूल, बाजार, मनोरञ्जन केंद्र, सिनेमा हाल, खेल के मैदान, पार्क, स्वास्थ्य केंद्र आदि की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।
5. प्रत्येक कक्ष में सभी मूलभूत सुविधाओं की उपलब्धता होनी चाहिए।
6. सभी कमरों में Cross ventilation, पंखे, एग्जास्ट पंखे, शुद्ध जलापूर्ति इत्यादि की व्यवस्था आवश्यक है।
7. प्रदूषित वायु, जल, अपद्रव्य निकास की उचित व्यवस्था अनिवार्यत: होनी चाहिए।
8. सुयोग्य, प्रशिक्षित, कार्यशील एवं दक्ष कर्मचारी होने चाहियें।
9. समस्त क्षेत्र में सड़क, प्रकाश व्यवस्था, शौचालय एवं सीवरेज आदि के लिए उचित प्रबंधन होना चाहिए।
10. धुआं निकलने के लिए ऊंची-ऊंची चिमनियां तथा गंदे जल निकास के लिए पक्की एवं बंद नालियों की व्यवस्था अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।

7. व्यावसायिक प्रदूषण

परिचय

तीव्र औद्योगिकरण के फलस्वरूप अनेक ऐसे व्यवसायों का विकास हुआ है, जिससे पर्यावरण के प्रदूषित होने की सम्भावना अधिक हु: ै जैसे-

1. पशुपालन
2. पशुवध
3. फल एवं सब्जी व्यवसाय
4. चीनी मिल

5. लकड़ी व्यवसाय
6. ईंट भट्ठा व्यवसाय इत्यादि

व्यवसायिक उपक्रमों से पर्यावरण प्रदूषण होने से बचाव के उपाय

1. पशुपालन व्यवसाय

(i) पशुओं को शुद्ध जल, पौष्टिक आहार, समुचित प्रकाश एवं पर्याप्त शुद्ध वातावरण मिलना चाहिए।

(ii) दुग्ध देने वाले पशुओं की विशेष देखभाल होनी चाहिए एवं समय-समय पर उनका चिकित्सकीय परीक्षण होना चाहिए।

(iii) पशुओं से दुग्ध निकालना, उसका भंडारण, एवं विक्रय स्थल तक पहुंचने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(iv) सुयोग्य पशु चिकित्सकों कि स्थायी नियुक्ति होनी चाहिए।

(v) रुग्ण पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग रखना चाहिए।

(vi) पशुओं के मल, मूत्र निस्तारण की निरापद व्यवस्था आवश्यक है।

2. पशुवध व्यवसाय

(i) पशुवध स्थल नगर या गांव से पर्याप्त दूरी पर स्थित होना चाहिए।

(ii) वध स्थल की विधिवत सफाई, अपद्रव्य निवारण व्यवस्था, रक्त आदि की उचित निर्हरण व्यवस्था होनी चाहिए।

(iii) पशु चिकित्सक की देखरेख में स्वस्थ पशुओं का ही मांस विक्रय होना चाहिए।

(iv) रुग्ण पशु मांस विक्रय पर पूर्ण प्रतिबंध होना चाहिए।

(v) मांस विक्रय स्थल पर मक्खियों से बचाव की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए।

3. फल विक्रय एवं सब्जी व्यवसाय

(i) यह व्यवसाय स्वास्थ्य विभाग की देखरेख में होना चाहिए क्योंकि सड़े, गले, कटे एवं संक्रमित फल एवं सब्जियों के सेवन से अनेक रोग फैलते हैं।

(ii) फलों, सब्जियों की दुकानें बाजार के एक किनारे स्वच्छ स्थल पर होनी चाहियें।

(iii) खराब एवं सड़े हुए फल एवं सब्जियों के निस्तारण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

4. चीनी मिल व्यवसाय

चीनी मिलों से निकलने वाले कचरे से पर्यावरण प्रदूषण होता है। अत: चीनी मिलें भी शहर की आबादी से दूर होनी चाहियें तथा चिमनियों से पर्याप्त ऊंचाई पर ही धुआं आदि निकलना चाहिए। मिल से निकलने वाले कचरे की समुचित निस्तारण की व्यवस्था अनिवार्य है।

5. लकड़ी व्यवसाय

लकड़ी चीरनें की मशीनें एवं कारखानें भी आबादी से पर्याप्त दूरी पर स्थित होने चाहिऐं तथा अपद्रव्य निस्तारण की वैज्ञानिक व्यवस्था होनी चाहिए।

6. ईंट भट्ठा व्यवसाय

तीव्र शहरीकरण के कारण आवासीय निर्माण में तेजी से इस उद्योग का भी तीव्र विकास हुआ है। यह व्यवसाय भी शहर से दूर होना चाहिए तथा वहां कार्यरत कर्मचारियों के स्वास्थ्य का नियमित परीक्षण होना चाहिए। प्रयुक्त चिमनियों की ऊचाई अधिक होनी चाहिए जिससे चिमनियों से निकलने वाला धुआं पर्याप्त ऊंचाई पर ही वायुमंडल में मिल सके।

8. भूमि (देश) प्रदूषण

परिचय

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में देश शब्द से दो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं— 1. भूमिदेश एवं 2. देह देश। पर्यावरण के संदर्भ में भूमिदेश का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। आयुर्वेद में 3 प्रकार के भूमि (देश) का उल्लेख प्राप्त होता है[1]

1. जाङ्गल देश 2. आनूप देश 3. साधारण देश

इनमें से जाङ्गल देश वातपित्त प्रधान, आनूप देश वात कफ प्रधान और साधारण देश समत्रिदोषज होते हैं। अत: निवास करने के दृष्टि से साधारण देश ही सर्वोत्तम होते हैं। साधारण देश में रहने वाले मनुष्य प्राय: स्वस्थ एवं निरोगी रहते हैं।

निवास के योग्य भूमि (देश)

निम्न गुणों से युक्त भूमि निवास के योग्य मानी जाती है—

1. स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से स्वच्छ, समतल, कोष्ण, वनस्पतियों को उत्पन्न करने में सक्षम हो।
2. निवास के लिए बलुई-दोमट मिट्टी सर्वोत्तम होती है।
3. निवास योग्य भूमि हाथी, गो, घोड़े, वीणा, जलाशय युक्त, नागकेशर, चमेली, तुलसी एवं कमल आदि अनेक प्रकार की वनस्पतियों से सुंगधित होनी चाहिए।
4. निवास योग्य भूमि स्वच्छ, सुंदर, मन एवं नेत्रों को प्रसन्नता प्रदान करने वाली होनी चाहिए।
5. उस भूमि में शयन कक्ष, भंडारकक्ष, पाकशाला, शौचालय, स्नानघर आदि अलग-अलग बनाने की सुविधा हो।

1. त्रिविध: खलु देश:- जाङ्गल:, आनूप: साधारणश्चेति। (च.क. 1/8)

6. निवास योग्य स्थान से कुछ ही दूर पर अस्पताल, स्कूल, बाजार एवं अन्य सामग्री आसानी से प्राप्त हो सकें।
7. घर का निकास द्वार दक्षिण अथवा पूर्व दिशा में करने की सुविधा हो।
8. निवास योग्य स्थान वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण एवं जल प्रदूषण से मुक्त होना चाहिए।

निवास के अयोग्य भूमि (देश)

निम्न प्रकार की भूमि निवास के अयोग्य मानी जाती है—

1. जहां का वातावरण विभिन्न प्रकार के प्रदूषण से प्रदूषित हो।
2. सभा भवन, चैत्य वृक्ष, राजप्रासाद एवं देवमंदिर के पास।
3. कंटीले वृक्षों से युक्त भूमि।
4. गोल, त्रिकोण, विषम, उन्नत टीलेदार भूमि।
5. जहां पर अत्यधिक कल-कारखाने अवस्थित हों।
6. मुर्गी पालन, सूअर पालन, डेयरी के पास, चर्म उद्योग के पास की भूमि।
7. ईंट-भट्ठा, लकड़ी चीरने के कारखानें, गंदे नाले, सीवर के पास, नदी के तट पर, शमशान के पास की भूमि निवास के अयोग्य होती है।
8. जिस स्थान पर आवश्यक मूलभूत सुविधाओं का अभाव हो, वह भूमि निवास के अयोग्य होती है।

भूमि (देश) की जलवायु एवं तापक्रम

पर्यावरण की दृष्टि से भूमि का तापक्रम यथोचित होना चाहिए अन्यथा वहां पर अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। किसी स्थान की जलवायु मुख्यत: निम्न भावों पर निर्भर करती है—

1. भूमध्य रेखा से दूरी
2. समुद्र से दूरी
3. समुद्र तल से ऊंचाई
4. वायु चलने की दिशा
5. वायु में नमीं की मात्रा
6. भूमि की प्रकृति
7. पर्वत एवं अन्य स्थल
8. वर्षा इत्यादि

उपरोक्त सभी भाव पर्यावरण पर अत्यंत महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप अलग-अलग प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति होती है।

भूमि प्रदूषण के प्रमुख कारण

भूमि प्रदूषण के अनेक कारण होते हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. उद्योग धंधों की अव्यवस्थित रूप में स्थापना
2. संबंधित स्थल पर अत्यधिक कचरा डालना
3. खुले स्थान पर शौच के लिए जाना
4. प्लास्टिक, अपद्रव्य, किट्टमल के निर्हरण की समुचित व्यवस्था का अभाव

5. खुले स्थानों पर पशुवध, पशुओं का चमड़ा उतारना, मांस विक्रय इत्यादि

भूमि (देश) पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख लक्षण

आचार्य चरक ने भूमि (देश) के प्रदूषित होने से उत्पन्न लक्षणों का विस्तृत वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है[1]—

1. विकृत वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त
2. सर्प, हिंसक जीव, टिड्डी, मक्खियों, चूहों, उल्लू, गृध्र एवं सियार इत्यादि जन्तुओं से व्याप्त
3. तृण अथवा विशाल लताओं से युक्त
4. नष्ट हुए अथवा सूखे हुए वृक्ष
5. लगातार शब्द करते पक्षियों का समूह, जहां कुत्ते चिल्लाते हों, मृग, पक्षी आदि इधर-उधर दौड़ते हुए दिखायी देते हों
6. जहां धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, स्वभाव एवं गुण विकृत हो जाते हैं
7. पशु-पक्षियों से पूर्णत: रहित स्थान
8. जलाशयों में तीव्र लहरें उठती हों, आकाश से उल्कापात होता हो, बिजली गिरती हो, भूकंप आता हो एवं जहां भयंकर शब्दोत्पत्ति होती हो
9. चन्द्रमा, सूर्य, तारा अपने स्वाभाविक वर्ण से इतर वर्ण वाले हो जाते हैं अथवा मेघ, जल, आदि से घिर जाते हैं
10. अधिकांश पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु दु:खी प्रतीत होते हैं

भूमि (देश) के पर्यावरण के प्रदूषित होने के उपरोक्त लक्षण अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। कुछ ही समय पूर्व आयी सुनामी से भी उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि होती है, जब सागर में 20-30 फुट उठती ऊंची-ऊंची लहरों ने हजारों लोगों को असमय ही काल कवलित कर दिया था। पर्यावरण में परिवर्तन से पेड़-पौधों एवं जीवों के व्यवहार में भी विचित्र परिवर्तन देखे गये हैं। इन परिवर्तनों पर वैज्ञानिक अनुसंधान प्रारंभ हो गये हैं और वैज्ञानिकों द्वारा इस दिशा में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

भूमि (देश) के प्रदूषित होने से उत्पन्न व्याधियाँ

भूमि के प्रदूषित होने से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। भारतवर्ष में बहुत अधिक भौगोलिक विभिन्नतायें हैं। एक साथ एक ही समय पर कहीं पर सूखा तो कहीं पर बाढ़ जैसी स्थिति अथवा अन्य प्रकार के जलवायु जन्य परिवर्तन देखने को मिलते हैं। भूमि (देश) के प्रदूषित होने से प्राय: निम्नलिखित व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं—

1. श्लीपद (Filaria)
2. कामला (Jaundice/Viral Hepatitis)
3. विषम ज्वर (Malaria)
4. कालाजार (Kalazar)

1. देशं पुन: प्रकृतिविकृतवर्णगंधरसस्पर्शं क्लेद बहुलमुपसृष्टं सरीसृप..... शब्दबहुलं चाहिंत विद्यात्॥ (च.वि. 3/6/3)

5. मष्तिष्क शोथ (Encephalitis)
6. यकृतजन्य अमीबियेसिस (Amoebic liver Abscess)
7. कास (Cough)
8. श्वास (Asthma)
9. अतिसार (Diarrhoea)
10. प्रवाहिका (Dysentery)
11. अग्निमांद्य (Poor Appetite)
12. ग्रहणी दोष (Sprue Syndrome)
13. उदावर्त (Tympanitis/Belching)
14. वातरक्त (Gout)
15. आमवात (Rheumatoid Arthritis)
16. श्वित्र (Vitiligo)
17. कुष्ठ (Leprosy)
18. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
19. धनुर्वात (Tetanus)
20. कोथ (Gangrene)
21. अन्नविषमयता (Food Poisoning)
22. वातालिका (Plague)
23. जलसंत्रास (Hydrophobia)
24. फुफ्फुस शोथ (Pneumonitis)
25. विसूचिका (Cholera)

उपरोक्त व्याधियां अलग-अलग भूभाग में वहां के पर्यावरण के अनुसार उत्पन्न हो सकती हैं जैसे- श्लीपद, मष्तिष्क शोथ, कालाजार प्राय: पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में अधिक पाया जाता है। कुष्ठ का सर्वाधिक प्रसार बिहार एवं पश्चिम बंगाल राज्य में देखने को मिलता है।

चिकित्सा सिद्धांत

भूमि (देश) के प्रदूषित होने से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा उन व्याधियों के चिकित्सा सूत्रों के अनुसार ही करनी चाहिए। निम्नलिखित उपायों से इन व्याधियों की उत्पत्ति पर प्रभावी नियंत्रण पाया जा सकता है—

1. निदान परिवर्जन
2. पर्यावरण संरक्षण
3. संतुलित आहार का सेवन
4. समुचित दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या एवं सद्वृत्त का मर्यादित पालन
5. रोगानुसार चिकित्सा व्यवस्था करना

9. काल प्रदूषण

परिचय

काल पर्यावरण के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में भी काल का उल्लेख मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने काल को भगवान स्वयम्भू कहा है[1], अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता है तथा आदि, मध्य एवं अंत रहित होता है।

1. कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरनादिमध्यनिधन:। (सु.सू. 6/3)

काल के द्वारा भी पर्यावरण का प्रदूषण होता है जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती हैं।

काल के द्वारा पर्यावरण प्रदूषण एवं उत्पन्न लक्षण

काल के पर्यावरण संबंधी प्रदूषण से निम्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

1. ऋतुओं का अतियोग

शिशिर ऋतु में अत्यन्त शीत, ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त भयंकर गर्मी, वर्षा ऋतु में अत्यधिक वर्षा होना ऋतुओं का अतियोग है।

2. ऋतुओं का मिथ्या योग

शिशिर ऋतु में सर्दी उत्पन्न न होकर गर्मी पड़ना, ग्रीष्म ऋतु में गर्मी के बदले सर्दी अथवा वर्षा होना।

3. ऋतुओं का हीन योग

शिशिर ऋतु में अत्यल्प शीत, ग्रीष्म ऋतु में मामूली गर्मी, इसी प्रकार वर्षा ऋतु में वर्षा नहीं होना अथवा अत्यल्प वर्षा होना ऋतुओं के हीन योग का लक्षण है।

सन् 2004 में सऊदी अरब के रेगिस्तानों में अनेक वर्षों बाद भारी वर्षा हुई थी जो कि पर्यावरण में परिवर्तन का संकेत देती है जबकि वहां पर वर्षा अत्यल्प अथवा नहीं होती है। देश के कई हिस्सों में भी असामान्य ऋतु जन्य परिवर्तन हो रहे हैं जो पर्यावरण में बदलाव का द्योतक हैं।

काल के जो भी नियत गुण हैं उनमें परिवर्तन होने के कारण अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो रही हैं।

काल प्रदूषण से उत्पन्न प्रमुख व्याधियां

काल अर्थात् विभिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होने वाली व्याधियां कई मार्गों से शरीर में अंत: प्रवेश द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से काल विशेष जनित बल हानि उत्पन्न होने से व्याधिक्षमित्व में आयी कमी के परिणामस्वरूप अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं।

शरीर में वाह्य कारणों द्वारा व्याधि उत्पन्न होने के प्रमुख रोग मार्ग एवं व्याधियाँ निम्नलिखित हैं—

1. त्वक् मार्ग से संक्रमण

कुछ संक्रमण सीधे त्वचा के द्वारा प्रविष्ट होकर रक्त में मिलकर व्याधि की उत्पत्ति करते हैं जैसे--ऐन्थ्रेक्स (Antharax), धनुर्वात (Tetanus), जलसन्त्रास (Hydrophobia or Rabies), त्वक् में व्रण होने या घाव से फिरंग (Syphilis) एवं पूयमेह (Gonorrhoea) आदि। कई प्रकार के कीटों द्वारा काटने से भी त्वक् मार्गगत व्याधियां उत्पन्न होती हैं यथा--मलेरिया, पीतज्वर, डेन्गू (Dengue), श्लीपद (Filaria) एवं वातालिका (Plague) इत्यादि।

2. श्वसन मार्ग से संक्रमण

हमारे चारों ओर के वातावरण में अनेक प्रकार के हानिकारक जीवाणु हमेशा

उपस्थित रहते हैं। शरीर की व्याधिक्षमता (Immunity power) जब कम हो जाती है तो यह जीवाणु व्याधि उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। इनके प्रमुख उदाहरण निम्न हैं—

रोहिणी (Diphtheria), कुक्कुरकास (Whooping cough), खसरा (Measles), इन्फ्लूएंन्जा, प्रतिश्याय (Rhinitis) एवं राजयक्ष्मा (Tuberculosis) इत्यादि।

3. मुख मार्ग से उत्पन्न होने वाले संक्रमण

मुख मार्ग से संक्रमण होने के परिमाण स्वरूप महास्रोतस (Gastrointestinal Tract) में अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं जैसे-- विसूचिका (Cholera), अतिसार (Diarrhoea), आंत्रिक ज्वर (Typhoid), कृमि विकार (Worm Infestation) एवं संग्रहणी (Sprue/Malabsorption Syndrome) इत्यादि।

4. सहवास से उत्पन्न होने वाले संक्रमण

रोगग्रस्त स्त्री अथवा पुरुष के परस्पर सहवास से मैथुन जन्य रोग उत्पन्न होते हैं जैसे- फिरंग, उपदंश एवं एड्स (AIDS) इत्यादि।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पर्यावरण शोधन
3. स्वच्छ वातावरण में निवास
4. संतुलित एवं पौष्टिक आहार
5. पथ्यापथ्य का समुचित पालन
6. रोगानुसार चिकित्सा व्यवस्था

10. शव विनाश एवं पर्यावरण

परिचय

जीवन का अंतिम सत्य मृत्यु है। मृत्यु कई प्रकार से होती है, जैसे स्वाभाविक अथवा काल मृत्यु, व्याधिजन्य मृत्यु, दुर्घटना, विषप्रयोग, आत्महत्या एवं युद्ध इत्यादि में मृत्यु। मृत्यु के पश्चात शव के समुचित विनाशन हेतु निर्धारित विधियों का प्रयोग नहीं करने से पर्यावरण प्रदूषित होता रहता है।

शव विनाशन की प्रमुख विधियां

शव विनाशन हेतु मुख्य प्रचलित विधियां निम्न प्रकार हैं—

1. विद्युत दाह
2. अग्नि दाह
3. भूमि (कब्र) में दफनाना
4. जल में प्रवाहित करना (जल समाधि)

उपरोक्त विधियों में विद्युत दाह विधि सर्वोत्तम एवं अत्याधुनिक है। परंतु यह सुविधा देश के कुछ बड़े शहरों तक ही सीमित है एवं भारत में अनेक प्रकार के धार्मिक रीति रिवाजों के कारण यह विधि लोकप्रिय भी नहीं है।

शव विनाशन की अन्य विधियों में से अग्निदाह से वायु का सर्वाधिक प्रदूषण होता है एवं अधजले शव के जल प्रवाह से जल प्रदूषण भी होता है। भूमि में दफन करने की शव विनाश विधि पर्यावरण की दृष्टि से उचित है परंतु इसके लिए पर्याप्त भूमि की आवश्यकता होती है। शव के जल में प्रवाहित करने से जल एवं वायु दोनों प्रदूषित होते हैं। अत: पर्यावरण की दृष्टि से विद्युत शवदाह विधि को प्रचलित एवं लोकप्रिय बनाया जाना चाहिए।

संक्रामक रोगों से मृत व्यक्तियों के शवों के निवारण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए एवं शव विनाशन से पूर्व जीवाणुनाशक द्रव्यों से शव को विसंक्रमित कर लेना चाहिए। दुर्घटना एवं विष इत्यादि से मृत व्यक्तियों के शव विनाशन से पूर्व पोस्टमार्टम आदि कानूनी औपचारिकताओं को पूर्ण करना आवश्यक होता है। तत्पश्चात उचित प्रकार से शव विनाशन करना चाहिए।

11. युद्ध जनित पर्यावरण प्रदूषण

युद्ध क्षेत्र में प्राचीन काल में अनेक प्रकार के विषों का प्रयोग कर शत्रु सेना को परास्त करने का प्रयास किया जाता था, जिससे पर्यावरण प्रदूषित होता था। वर्तमान काल में भी विश्व के अनेक क्षेत्रों में युद्ध चलता रहता है जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों, रसायनिक पदार्थों के प्रयोग से जल, वायु एवं अन्न इत्यादि प्रदूषित हो जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप उस स्थान के प्राणी विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। विषैली गैसों के प्रयोग से धुआं पैदा कर वायु को विषाक्त बनाकर सामूहिक नरसंहार किया जाता है। हिरोशिमा और नागासाकी में परमाणु बमों के प्रयोग से बड़ी संख्या में नरसंहार के साथ ही प्रभावित क्षेत्रों में ऐसी विषमयता का वातावरण बन गया कि आने वाले बहुत लंबे समय तक अनेक लोग नये प्रकार की असाध्य व्याधियों से पीड़ित हुए। खाड़ी युद्ध के समय समुद्र में कच्चे तैल के प्रवाह के कारण समुद्री जीवन पर विनाशकारी प्रभाव हुआ है। इससे अनेक प्रकार की दुर्लभ प्रजातियों के समुद्री पक्षी, कछुए, मछलियां एवं समुद्र की प्राकृतिक खाद्य श्रृंखला का अत्यधिक विनाश हुआ है। युद्धों में किये गये विषाक्त प्रयोग महामारी के रुप में अत्यन्त ही घातक एवं विनाशकारी होते हैं जिनके परिणाम स्वरूप विभिन्न प्राणघातक रोग उत्पन्न होते हैं जो सामूहिक नरसंहार का कारण बनते हैं। मानवता की रक्षा, पर्यावरण एवं जीव और जीवन के अस्तित्व के लिए इस प्रकार के युद्धों को रोकना हम सभी का प्राथमिक उत्तरदायित्व एवं पुनीत कर्त्तव्य है। इस प्रकार से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा रोगानुसार ही करनी चाहिए।

12. पर्यावरण परिवर्तन जन्य प्रमुख व्याधियां

(DISORDERS OF THE CLIMATIC CHANGES)

1. आतप दग्ध, लू लगना

(Sun Burn, Sun Stroke)

निदान

जब कोई व्यक्ति अधिक समय तक सूर्य प्रकाश में रहता है, जैसे-खुले स्थल पर पिकनिक पर जाना, रेगिस्तान अथवा समुद्र के किनारे देर तक ठहरना, गौ चराने वाले व्यक्ति अथवा खेतों में कृषि कार्य करने इत्यादि कारणों से सूर्य की तीव्र किरणों के आघात से मनुष्य को आतप दग्ध हो जाता है। इसे लू लगना (Sun Stroke) भी कहते हैं।

प्रमुख लक्षण

आतप दग्ध के रोगी में निम्न लक्षण प्रमुखता से पाए जाते हैं—

1. शरीर के अधिकांश खुले भाग जैसे ललाट, चेहरा, गला, वक्ष का ऊपरी भाग एवं हाथों पर गुलाबी वर्ण की पिड़िकाऐं उत्पन्न होना (Pinkish Rashes over exposed body parts)
2. आक्रांत प्रदेश में तीव्र कण्डू (Itching)
3. त्वचा पर फफोले (Blisters/Erythema) एवं बाद में पपड़ी (Scales) की उत्पत्ति
4. बेचैनी, घबराहट, शिर:शूल (Restlessness, Nervousness, Headache)
5. अत्यधिक देर तक धूप लगने से रोगी में शोथ (Oedema) की उत्पत्ति
6 स्वेद के साथ तीव्र ज्वर (Sweating with hyperpyrexia)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. धूप में जाने से बचाव
3. प्रभावित भाग को स्वच्छ एवं शीतल जल से बार-बार धोना
4. चेहरे पर प्रकाश अवरोधक क्रीम लगाकर ही धूप में निकलना
5. त्वचा पर फफोले हों तो वेधन करके उसे त्रिफला क्वाथ अथवा चमेली स्वरस से सिंचन करना चाहिए।

13. सौर गजचर्म

(Solar Keratosis)

निदान

वस्तुत: सौर गजचर्म एक त्वक् गत रोग है जो प्राय: उन लोगों में होता है जो अधिक दिनों तक क्रांति मंडल (Trophics) में रह जाते हैं ओर उन्हें उचित मात्रा में पोषण नहीं मिलता है तो सौर गजचर्म (Solar Keratosis) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रमुख लक्षण

1. त्वचा पर धब्बे
2. धब्बे विशेषकर ललाट, ग्रीवा एवं हाथों के ऊपरी तल पर होते हैं
3. पश्चात तत् त्वचा पर हस्तिचर्म अथवा मछली के शल्कों (Scales) की तरह विकृति उत्पन्न होती है जो बाद में त्वकगत अर्बुद (Carcinoma of skin) में परिणत हो सकती है
4. कभी-कभी शल्क हट जाने पर एक गंभीर श्वेत कुष्ठ (Albinism) जैसी त्वक् विकृति हो जाती है

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. संतुलित आहार विहार
3. धूप में निकलने से पूर्व सदैव त्वचा को वस्त्र से ढककर ही निकलना चाहिए
4. प्रभावित त्वचा पर जात्यादि घृत अथवा शतधौत घृत का लेप करना चाहिए
5. व्रण बन जाने पर त्रिफला क्वाथ अथवा दशमूल क्वाथ से प्रक्षालन करके दशांग घृत का आलेप करना चाहिए

•••❀•••

14. शीतताजनित विकार

(Frost Bite or Cold Injury)

निदान

सामान्यत: जब तापक्रम O°C से नीचे चला जाता है तब वहां पर कार्यरत व्यक्तियों के हाथ-पैर की अंगुलियों, नासा, चेहरा आदि अवयव अत्यन्त शीत के कारण जम जाते

हैं और ठंडे हो जाते हैं। यह विकार उन व्यक्तियों में अधिक होता है जो अत्यधिक ऊंचाई जैसे- पहाड़ी पर कार्य करते हैं जिसके लिए उन्हें अधिक प्राणवायु (Oxygen) की आवश्यकता होती है परंतु वहां पर आक्सीजन की कमी होती है।

प्रमुख लक्षण

1. हाथ पैर की अंगुलियों में अत्यन्त तीव्र वेदना (Severe and intense pain in fingers of hands and feet)
2. अंगुलियों का सुन्न हो जाना (Loss of sensation of fingers)
3. त्वचा पर फफोले उत्पन्न होना (Blistering)
4. ऊतकों का नष्ट होना
5. अंत में कोथ की उत्पत्ति (Origin of Gangrene)

चिकित्सा सिद्धांत

1. तत्काल एवं अति शीघ्रता पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिऐ।
2. अति शीघ्र रोगी के शरीर को उष्ण करना चाहिए।
3. रोगी को उष्ण पेय पदार्थो जैसे- चाय, काफी पिलाना चाहिऐ।
4. शीत प्रभावित अंगों को 40°C उष्ण जल में डालकर उष्णता प्रदान करनी चाहिऐ।
5. पुन: शीतता होने से बचाव करना चाहिऐ।

•••❀•••

15. आकस्मिक शीतता

(Hypothermia)

निदान

1. शरीर ताप क्रम 35°C से नीचे पहुंच जाना आकस्मिक शीतता (Hypothermia) कहलाती है।
2. मुख्यत: वयस्क व्यक्तियों एवं अकेले रहने वाले व्यक्तियों में यह अवस्था उत्पन्न होती है।
3. वर्षा में भीगे कपड़ों में अथवा अल्प वस्त्र धारण करके पहाड़ी की यात्रा करने से
4. कुछ व्याधियों के द्वारा भी शीतता उत्पन्न होती है, जैसे- एडिसन की व्याधि (Addison's disease), मष्तिष्काघात, यकृतघात, शरीर में रक्त शर्करा की मात्रा सामान्य से कम होना इत्यादि अवस्थाऐं।
5. अत्यधिक सुरा (Alcohol) का सेवन करने से।
6. शीतल जल के तालाब या समुद्र में गोता लगाने से।
7. वृद्ध और रोगी व्यक्ति द्वारा सर्दियों की रात में ठीक से वस्त्र न पहनना।

प्रमुख लक्षण

1. गुदा का ताप क्रम 35°C से कम हो जाता है (Rectal temperature goes below 35°C)
2. थकावट (Fatigue)
3. शीतता का अनुभव (Feeling of cold)
4. मांसपेशियों में कड़ापन (Stiffness in muscles)
5. शरीर का पीला पड़ जाना (Pallor)
6. हृदय गति एवं नाड़ी गति में कमी (Fall in heart rate and pulse rate)
7. 26°C से कम ताप होने पर रोगी अचेत हो जाता है तथा सर्वाङ्ग शोथ उत्पन्न हो जाता है।
8. नेत्रगत प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है (Loss of pupillary Reflexes)

चिकित्सा सिद्धांत

1. रोगी को गर्म कमरे में कम्बल से लपेट कर रखना चाहिए।
2. प्रतिघंटे कम से कम 0.5°C से 1.0°C तक शरीर तापक्रम बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए।
3. हृदय गति को नियंत्रित करना चाहिए।
4. रक्तदाब एवं नाड़ी गति की बार-बार जांच करनी चाहिए।
5. गर्म प्राणवायु (Warm Oxygen) एवं अंत: सूचिका जल (Intravenous fluid) भरण करना चाहिए।

16. आतपजन्य श्रम

(Heat Exhaustion)

निदान

1. तीव्र ग्रर्मी में अथवा अत्यंत उष्ण वातावरण में असामान्य परिश्रम करने से
2. स्वेदन के पश्चात पर्याप्त मात्रा में जल अथवा जलीय पदार्थों का सेवन नहीं करना
3. अत्यधिक स्वेदन होने के फलस्वरूप शरीर में लवण (Sodium Chloride) की कमी हो जाती है जिससे थकान तथा मांसपेशियों में दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है
4. पौष्टिक पदार्थों का अल्प मात्रा में सेवन

प्रमुख लक्षण

1. शिर:शूल (Headache)
2. घबराहट (Nervousness)
3. अरति (बेचैनी) (Restlessness)
4. वमन की इच्छा, उत्क्लेश (Nausea)
5. मांस पेशियों में ऐंठन (Cramps in muscles)

6. सर्वशरीर में वेदना (Bodyache)
7. स्वभाव में चिड़चिड़ापन (Irritability)
8. स्वभाव में परिवर्तन (Change in Moods)
9. स्वेदन (Sweating)
10. नाड़ी दौर्बल्य (Weak pulse)
11. रक्तचाप में कमी (Low Blood Pressure/Hypotension)
12. त्वचा में शीतता (Cold skin)
13. गुदा के सामान्य ताप में वृद्धि (Increased Anal temperature)
14. शरीर में जल की कमी (Dehydration)
15. मूत्र में कमी (Oliguria)
16. कांति हीन शरीर (Pallor)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शीतल चिकित्सा
3. शीतल जल में नींबू, लवण, शक्कर मिलाकर शिकंजी बनाकर बार-बार पिलाना चाहिए
4. आम के पानक को बार-बार पिलाना चाहिए
5. रोगी को शीतल वातावरण में रखें
6. पित्तान्तक अथवा अमृतौज को जल में घोलकर पिलाना चाहिए।

17. क्रांतिमंडलीय स्वेदावरोधजन्य दौर्बल्य

(Tropical Anhidrotic Asthenia)

निदान

1. अत्यधिक उष्णता
2. शरीर में समुचित पोषण का अभाव
3. पर्याप्त मात्रा में जल ग्रहण नहीं करना
4. विशेषकर यह व्याधि पूरे ग्रीष्म काल में होती है

प्रमुख लक्षण

1. स्वेदावरोध (Loss of sweating)
2. शिर:शूल (Headache)
3. दौर्बल्य (Weakness)

4. मूत्र की अधिकता (Polyuria)
5. ज्वर (Fever)
6. घबराहट एवं बेचैनी (Nervousness, Restlessness)
7. सर्व शरीर में वेदना (Bodyache)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. रोगी को शीतल वातावरण में रखें
3. लाक्षणिक चिकित्सा के साथ शीतोपचार
4. रोगी की दीर्घ काल तक समुचित चिकित्सा करनी चाहिए
5. पौष्टिक आहार द्रव्यों का प्रयोग

आदर्श व्यवस्था पत्र

1.	प्रात	: सायं
	संजीवनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
	गोदन्ती भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	पित्तान्तक योग	: 250 मि.ग्रा.
	जल से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	द्राक्षासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	: 1 × 2 मात्रा
3.	शर्बत वनप्सा	: 50 मि.ली.
	समभाग जल से	: 1 × 2 मात्रा
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

18. अंशुघात

(Heat Hyper Pyrexia or Heat Stroke)

परिचय

अंशुघात अत्यन्त घातक व्याधि है। यदि समुचित रूप से व्यवस्थित चिकित्सा नहीं की जाये तो व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है। अस्वाभाविक रूप से जो लोग उच्च तापमान वाले वातावरण में लंबी अवधि तक रहते हैं उन्हें अंशुघात रोग होने की सम्भावना अधिक रहती है।

निदान

अंशुघात व्याधि के प्रमुख निदान निम्न हैं[1]—

1. दुर्बल व्यक्तियों को तीव्र धूप लगने से
2. अत्यन्त उष्ण प्रदेश या स्थिर वायु में रहने से
3. उष्णता युक्त कार्यों को देर तक करना
4. ग्रीष्म ऋतु की तीव्र धूप में देर तक रहना
5. वस्त्र, जूता इत्यादि का सम्यक रूप से धारण नहीं करना
6. वायु रहित उष्ण गृह में निवास करना
7. अल्प वस्त्र धारण करके अधिक उष्ण कार्य करना

सम्प्राप्ति[2]

अत्यन्त तीव्र ताप से शरीर के कोषाणुओं (cells) का विश्लेषण हो जाने पर एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है जो रक्त में मिलकर उसे विषाक्त बना देता है एवं अंशुघात रोग उत्पन्न होता है अथवा सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सुषुम्ना केंद्र स्थित तापकेंद्र को अत्यन्त कुपित कर देती हैं जिससे अंशुघात रोग उत्पन्न हो जाता है।

सम्प्राप्ति चक्र

अत्यन्त तीव्रताप या सूर्य प्रकाश
↓
खुले शरीर अधिक समय तक प्रचण्ड उष्णता में रहना
↓
शरीर कोषाणुओं का विघटन एवं विष (Toxins) की उत्पत्ति
विष का रक्त में सम्मिलित होना
↓
सुषुम्ना स्थित तापकेंद्र का उत्तेजित होना
↓
अंशुघात रोग

---

1. भूम्नाऽयमुग्रातपहेतुतः सदा स्यादंशुघातः खलु दर्बुलादिषु।
उष्णप्रदेशेषु तथैव भूमेरार्द्रत्वतः स्थैर्यत एव वायोः॥
उष्णानि कार्याण्यनिशं प्रकुर्वत्स्वेतत्प्रभावात्मनुजेषु नूनम्।
ग्रीष्मप्रचण्डांशुनिषेविषूषानदातप्त्रादिमनाश्रितेषु।
निर्वातकारालयमास्थितेषु प्राधान्यतो योद्धृजनेष्ववश्यम्॥
संजायते प्राणि वपुर्विमर्दो घोरो गदः सौद्रिषजां मतेन॥ (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 1-3)
2. भवेच्छरीराणुक कोशविश्लेषणम् विशेषादतितीव्रेतापात्।
ततः समुत्पद्य विषं प्रकुर्याद्रक्तं विषाक्तं मिलितं च तेन॥
किंवा प्रचण्डाः किरणाः खरांशोर्नूनं सुषम्णास्थिततापकेन्द्रम्।
संकोपयेयुर्यत एव काले स्यादंशुघातेस्य गदस्य जन्म॥ (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 4-5)

भेद[1]

अंशुघात के तीन भेद बताये गये हैं—

1. शीता अंशुघात 2. साधरणी अंशुघात 3. तीव्रा अंशुघात

1. 'शीता' अंशुघात के लक्षण[2]

शीता प्रकार के अंशुघात के लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. त्वचा में क्लिन्नता एवं शीतलता (Cold skin)
2. थकावट (Fatigue) 3. मूर्च्छा (Fainting)
4. दौर्बल्य (Weakness)
5. नाड़ी गति में तीव्रता (Fast Pulse Rate)

2. 'साधरणी' अंशुघात के लक्षण[3]

साधारणी प्रकार के अंशुघात के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. शिर:शूल (Headache)
2. त्वचा में शुष्कता एवं उष्णता (Dry and Hot skin)
3. नाड़ी गति में तीव्रता, क्षीणता एवं दुर्बलता (Fast and weak Pulse)
4. हृद् दौर्बल्य (Impaired cardiac functions)
5. श्वास काठिन्य (Diminished Respiration)
6. मूर्च्छा (Syncope)
7. थकावट (Fatique)

3. 'तीव्रा' अंशुघात के लक्षण[4]

तीव्रा अंशुघात के लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. तीव्र ज्वर (High Grade Fever)
2. श्वास कष्ट (Breathlessness)
3. प्रलाप (Delirium)

---

1. अस्यांशुघातस्य गदस्य वैद्यैस्तिस्रस्त्ववस्था: परिकीर्तिता वै।
   शीताऽभिधाऽऽद्या च ततो द्वितीया साधारणी चान्तगता हि तीव्रा॥ (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 6)
2. क्लिन्नत्वशीतत्वसमन्विता त्वग् मूर्च्छा श्रम: स्यादथ दुर्बलत्वम्।
   तीव्रत्वमुक्तं ननु नाडिकायासतत्रादिमायां हि रुजो दशायाम्॥ (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 7)
3. तथा द्वितीयां हि दशां गतस्यांशुघातिनो मूर्ध्नि भवेद्धि शूलम्।
   पीडाऽपि शुष्कत्वमथोष्णता च त्वचो धमन्याश्चपलत्वमुक्तम्॥
   क्षीणत्वमेवं बहु दुर्बलत्वं हच्छ्वासयोरप्यतिनिश्चयेन॥
   मूर्च्छाऽऽदिचिन्हानि भवेयुरत्र प्रायेण पूर्वोक्तदशासमानि (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 9-10)
4. एवं दशामाप्नुवतोऽन्तिमां च ज्वरस्तु तीव्र: श्वसनं प्रलाप:।
   भवेद् गदार्त्तस्य च वर्णनीलतां सन्यासरोगो मरणं तथाऽन्ते॥
   (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 11)

4. शरीर का वर्ण नीला होना (Cyanosis)
5. सन्यास (Deep Coma)
6. मृत्यु

साध्यासाध्यता

अंशुघात प्रारम्भिक अवस्था में समुचित चिकित्सा करने से ठीक हो जाता है परंतु लापरवाही अथवा तत्काल चिकित्सा व्यवस्था नहीं करने से यह असाध्य हो जाता है। असाध्य अंशुघात के लक्षण निम्नलिखित हैं[1]—

1. दोनों हाथ एवं पैरों का नील वर्ण हो जाना (Cyanosis of both upper and lower extremities)
2. नाड़ी गति बीच-बीच में रुक जाना (Interrupted Pulse Rate)
3. अंगों में विक्षेप होना (Convulsions)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. तापक्रम नियंत्रित करने का प्रयास-शीतल उपचार
3. प्राणवायु (Oxygen) की व्यवस्था
4. सहस्रधारा स्नान (Shower Bath)
5. लाक्षणिक चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. शीतल जल के भरे टब में रोगी को तब तक बैठाये रखना चाहिए जब तक रोगी का तापक्रम सामान्य न हो जाये।
2. रोगी को चूषणार्थ बर्फ के टुकड़े देना चाहिए।
3. प्रातः : रात्रि

अमृतधारा	: 05 मि.लि.
गुलाब जल	: 20 मि.लि.
समभाग सौंफ के अर्क से	: 1 × 3 मात्रा

4. भोजनोत्तर

पित्तान्तक योग	: 250 मि.ग्रा.
चन्दनादि चूर्ण	: 1 ग्राम
उशीरादि चूर्ण	: 2 ग्राम
20 मि.लि. आम्र के पानक से	: 1 × 2 मात्रा

---

1. करद्वयेऽङ्घ्रिद्वितये च नीलिमा तथा धमन्या: क्षणलुप्तता च।
   विक्षेपणं चावयवस्य रोगिणोऽशुघातिनो मृत्युकृते भवन्ति॥
   (मा.नि. परिशिष्ट अंशुघात निदान 12)

5. त्रिफला क्वाथ : 20 मि.लि.
   समभाग जल से : 1 × 2 मात्रा
6. समुचित पथ्य सेवन

पथ्यापथ्य

पथ्य	अपथ्य
बलकारक, बृंहण, स्निग्ध, सुखविरेचक, पौष्टिक आहार, दुग्ध, दलिया, कृशरा, मूंग, मसूर, मुनक्का, खर्जूर, अंगूर एवं फालसा इत्यादि। शीत स्थान, शीतल जल एवं शीतल वातावरण में निवास।	मिथ्या आहार एवं विहार, रुक्ष, तीक्ष्ण, विबंध कारक, तला, भुना, बासी, गुरु आहार, उष्ण वातावरण, उष्णोदक से स्नान एवं उष्णोदक पान इत्यादि।

Latest Developments
Heat Stroke

Definition

Heat stroke is a syndrome due to over heating of the body. It occurs when the core or rectal temperature of body rises through 41°C. It is associated with ceasation of sweating and leads to tissue injury.

Aetiological Factors

1. High environmental temperature and humidity.
2. Environmental temperature more than 35°C, humidity more than 75% causing heat stroke.
3. Endogenous causes include deficient sweating, obesity, debility and alcoholism.
4. Exogenous causes include-Inappropriate clothings, dehydration, febrile illness and exertion etc.

Pathogenesis

In heat stroke blood is directed to peripheri, depriving organs of oxygen and causing brain and liver damage, rhabdomyolysis, disseminated intravascular coagulation. Above 42°C hypothalamic control of temperature is lost.

Signs and Symptoms

1. Diminished perspiration.
2. Loss of consciousness is rapid and produces cerebral irritation.
3. Dry and burning skin.
4. When the temperature reaches upto 41°C to 42°C the patient looses consciousness and dies.

5. Hyperpyrexia may be complicated by acute circulatory failure, hypokalaemia, acute renal or hepatic failure and haemorrhages.

Management : Principles

1. Patient should be moved to shade, clothes removed, skin kept wet and fanned vigorously.
2. Cooling should be stopped when rectal temperature comes to 39°C.
3. The airways must be maintained and oxygen should be given.
4. Symptomatic treatment.

19. यात्रा जनित विकार
(TRAVEL SICKNESS)
पर्वतीय यात्रा विकार
(Acute Mountain Sickness)

परिचय

इस प्रकार के विकार प्राय: उन व्यक्तियों द्वारा अनुभव किये जा सकते हैं जो शीघ्रता पूर्वक अधिक ऊंचाई की यात्रा करते हैं। कुछ व्यक्तियों को 2500 मीटर की ऊंचाई पर ही विकार उत्पन्न हो सकते हैं जबकि कुछ व्यक्तियों को 5500 मीटर की ऊँचाई पर भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। अत: यह अलग-अलग व्यक्तियों की क्षमताओं पर निर्भर करता है।

प्रमुख लक्षण

1. शिर:शूल (Headache)
2. क्षुधा में कमी (Loss of Appetite)
3. वमन की इच्छा अथवा वमन हो जाना (Nausea/Vomiting)
4. थकावट (Fatigue)
5. मांसपेशियों में दुर्बलता (Muscular weakness)
6. श्वास कृच्छ्रता (Breathlessness)
7. आलस्य (Drowsiness)
8. अनिद्रा (Insomnia)
9. नाड़ीगति में तीव्रता (Rapid Pulse rate)
10. दृष्टिगत रक्त स्राव (Retinal Haemorrhage)

उपद्रव

उपरोक्त वर्णित लक्षणों के अंत में मुख्यत: दो प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होते हैं—

1. फुफ्फुस शोथ (Pulmonary Oedema)
2. मष्तिष्क शोथ (Cerebral Oedema)

प्राय: अत्यन्त साहसी एवं युवा व्यक्ति अति आत्म विश्वास के कारण शीघ्रता से पर्वतारोहण करते हैं जिसके फलस्वरूप यह उपद्रव उत्पन्न होता है। मष्तिष्क शोथ उत्पन्न होने से रोगी में निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

(i) आलस्य (Drowsiness) (ii) चिड़चिड़ापन (Irritability)
(iii) भ्रम (Confusion/Vertigo) (iv) मूर्च्छा (Fainting)
(v) सन्यास (Deep Coma)
(vi) सिरागत घनास्रता (Venous Thrombosis)

चिकित्सा सिद्धांत

1. धीरे-धीरे पर्वतारोहण करना चाहिए
2. शयन करने के लिए जहां पर पहुंच गये हैं वहां से कुछ नीचे उतरकर शयन करना चाहिए
3. पर्याप्त जल का सेवन करना चाहिए
4. सुरा (Alcohol) का पूर्णत: निषेध
5. हृदय एवं श्वसन संस्थानगत व्याधियों में पर्वतारोहण नहीं करना चाहिए
6. आक्सीजन चिकित्सा (Oxygen Therapy)
7. नियमित व्यायाम

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. पर्याप्त मात्रा में जल एवं प्राण वायु (Oxygen)
2. प्रात : सायं

संजीवनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
श्वेत पर्पटी	: 250 मि.ग्रा.
पुनर्नवादि चूर्ण	: 1 ग्राम
शहद से	1 × 2 मात्रा

3. भोजनोत्तर

पुनर्नवादि क्वाथ	: 20 मि.लि.
गोक्षुरादि क्वाथ	: 20 मि.लि.
समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

4. पथ्यापथ्य का पालन

20. जीर्ण पर्वतारोहण विकार

(Chronic Mountain Sickness)

निदान

यह विकार पर्याप्त वायु संचार की कमी के कारण होता है, अर्थात् अल्प वायु संचार युक्त घरों में रहने से या आक्सीजन की कमी के कारण पर्वतारोहण करने अथवा नीचे उतरने वाले व्यक्तियों में यह विकार उत्पन्न होता है।

प्रमुख लक्षण

जीर्ण पर्वतारोहण के परिणाम स्वरूप निम्न विकार उत्पन्न होते हैं—

1. शरीर में श्यावर्णता (cyanosis)
2. हृदयाघात (Cardiac failure)
3. फुफ्फुसीय दाब में वृद्धि (Pulmonary Hypertension)
4. नाड़ी एवं अन्य मानस विकृतियों के लक्ष्मण (Neuropsychiatric Symptoms)

चिकित्सा सिद्धांत

जीर्ण पर्वतारोहण से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा के लिए सर्वप्रथम रोगी को समुद्र तल के समान नीचे के स्थान पर लाकर लक्षणों के अनुसार समुचित चिकित्सा करनी चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायं

अग्नितुण्डी वटी	: 250 मि.ग्रा.
रसराज रस	: 125 मि.ग्रा.
संजीवनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
शहद से	1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

पुनर्नवादि चूर्ण	: 2 ग्राम
श्वेत पर्पटी	: 250 मि.ग्रा.
शहद से	1 × 2 मात्रा

3. पुनर्नवारिष्ट : 20 मि.लि.
   समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
4. समुचित पथ्यापथ्य का पालन

अध्याय-5

खाद्यान्न विषाक्तता एवं भारी धातुजन्य विषाक्तता

(Food Poisoning and Heavy Metal Poisonings)

1. खाद्यान्न विषाक्तता

(Food Poisoning)

परिचय

मनुष्य को जीवित रहने के लिए आहार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता और जीवन की गतिशीलता के लिए आहार अत्यन्त आवश्यक है। स्वस्थ रहने के लिए खाद्यान्न की स्वच्छता, पौष्टिकता इत्यादि आवश्यक हैं। यदि खाद्यान्न के रखरखाव, उपयोग, वितरण इत्यादि में असावधानी हो जाय तो इसमें विषाक्तता हो सकती है। विष देने के लिए अनेकों विधियां प्रयोग की जाती हैं जैसे-आहार द्रव्यों में, पेय पदार्थों के साथ, पान, चाय, शर्बत, बीड़ी, सिगरेट इत्यादि। अभ्यंग के तैल, पाउडर, स्नान जल, वस्त्र, आभूषण, आसन इत्यादि के माध्यम से भी विष का प्रयोग किया जाता है।

भारत की प्राचीन सभ्यता के अंतर्गत अनेक ऐसे संस्कार अपनाये जाते थे जो जीवन को सुरक्षा प्रदान करने के साथ विष से रक्षा में भी सहायक होते थे। जैसे- भोजन करने से पूर्व भोज्य पदार्थों को अग्नि में डालना, घर के पालतू पशु-पक्षियों को थोड़ी मात्रा में अन्न देने के पश्चात ही आहार ग्रहण करने का प्रचलन था। यदि भोजन में विष मिश्रित होता है तो अग्नि में डालने पर विविध प्रकार की लपटें निकलती हैं और अग्नि शीघ्र बुझ जाती है। घर के पालतू जीव जैसे तोता, मैना, कौवा, इत्यादि चीखने, चिल्लाने लगते हैं। इस प्रकार विषाक्त द्रव्य की पहचान आसानी से हो जाती थी और यह जीवन रक्षक उपाय प्रचलन में था। कुछ प्राचीन विष परीक्षण के प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं[1]—

1. विषाक्त भोजन ग्रहण करने से मक्षिका, कौवे शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होते हैं।
2. विषाक्त भोजन अग्नि में डालने से अग्नि से चटचट की आवाज आती है एवं अग्नि शिखा का रंग मोर की ग्रीवा के समान हो जाता है। धुएं में तीक्ष्णता रहती है।
3. विषाक्त अन्न खाने से चकोर पक्षी के नेत्र की लालिमा समाप्त हो जाती है।

1. नृपभक्ताद्वलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
   ..... विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा॥ (सु.क. 1/28-33)

4. विषमिश्रित अन्न को देखकर जीवजीवक पक्षी तुरंत मर जाता है।
5. विषाक्त अन्न सेवन से कोयल का स्वर विकृत हो जाता है।
6. विषाक्त अन्न से क्रौञ्च पक्षी को मद चढ़ जाता है।
7. विषाक्त अन्न से मयूर अत्यंत चंचल हो जाता है।
8. विष मिश्रित अन्न से तोता एवं मैना क्रंदन करने लगते हैं।
9. हंस नामक पक्षी जोर-जोर से शब्द करने व चिल्लाने लगता है।
10. पृषत् नामक प्राणी (हरिण का भेद) के नेत्रों से अश्रुस्राव होने लगता है।
11. भृंगराज नामक जीव कूजन करने लगता है।
12. विषाक्त अन्न को देखकर एवं सूंघकर बंदर तुरंत मलत्याग कर देता है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में विषाक्त अन्न परीक्षण को दैनिक जीवन एवं संस्कारों में सम्मिलित किया गया था तथा पशु पक्षी पालन से अनेक लाभ होते थे।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	- अध्याय 23
2.	सुश्रुत संहिता कल्प स्थान	- अध्याय 01
3.	अष्टांग हृदय सूत्र स्थान	- अध्याय 07
4.	अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान	- अध्याय 08
5.	भाव प्रकाश मध्यम खण्ड	- अध्याय 67

विषाक्तता के प्रकार, लक्षण एवं उनकी चिकित्सा

1. विषमिश्रित आहार के वाष्पजन्य विकार : लक्षण एवं चिकित्सा

विषमिश्रित आहार द्रव्य जब खाने के लिए पात्र में रखा जाता है तो उसके वाष्प सूंघने से निम्नलिखित विकार उत्पन्न होते हैं—

1. हृदय में पीड़ा (Cardiac Pain)
2. नेत्रों में भ्रांति (Difficulty in normal functions of eyes)
3. शिरः शूल (Headache)

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. नस्य 2. अञ्जन 3. लेप

1. उपक्षिप्तस्य चात्रस्य वाष्पेणोर्ध्वं प्रसर्पता।
   हृत्पीड़ा भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते॥ (सु.क. 1/34)
2. तत्रः नस्याञ्जने कुष्ठं लामज्जं नलदं मधु।
   कुर्याच्छिरीषरजनीचन्दनैश्च प्रलेपनम्॥
   हृदि चन्दनलेपस्तु तथा सुखमवाप्नुयात्। (सु.क. 1/35-36)

चिकित्सा

1. कुष्ठ, खस एवं जटामांसी के चूर्ण का नस्य दें।
2. कुष्ठ, खस एवं जटामांसी के बारीक चूर्ण में शहद मिलाकर अंजन करें।
3. ललाट पर शिरीष, हरिद्रा एवं चंदन का लेप करें।
4. हृदय प्रदेश पर चंदन का लेप करें।

2. विषाक्त अन्न स्पर्श के लक्षण एवं चिकित्सा

सामान्य लक्षण

विषाक्त अन्न के स्पर्श से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[1]—

1. कण्डू (Itching)
2. दाह (Burning)
3. ज्वर (Fever)
4. वेदना (Pain)
5. स्फोट (Blisters)
6. स्पर्श ज्ञान का नाश (Loss of touch sensations)
7. नख अथवा बालों का गिरना (Brittleness of nails and falling of nails and hair)
8. शोथ (Oedema)

चिकित्सा[2]

1. विषनाशक परिषेक एवं अभ्यंग करें।
2. उशीर, चंदन, पद्मक, खदिर, तालीस पत्र, कुष्ठ, गिलोय एवं तगर का प्रयोग लेप, परिषेक एवं अभ्यंग के रूप में करें।

3. विषाक्त आहार के मुख में पहुंचने पर उत्पन्न लक्षण एवं चिकित्सा

सामान्य लक्षण

यदि विषमिश्रित आहार का भक्षण किया जाये अर्थात् मुख एवं उसके अवयवों से विष का सम्पर्क हो जाये तो निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[3]—

1. ओष्ठ में चिमचिमाहट (Burning sensation in lips)
2. जिह्वा में शोथ, जड़ता एवं विवर्णता (Oedema, numbness and cyanosis of tongue)
3. दन्तहर्ष (Hypersensitive teeth)
4. हनुस्तम्भ (Lock Jaw)

1. स्पृष्टे तु कण्डूदाहोषाज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः। नखरोमच्युतिः शोफः..... (अ.हृ.सू. 7/19)
2. ..... सेकाद्या विषनाशनाः। शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्यचन्दनपद्मकैः। ससोमवल्कतालीसपत्रकुष्ठामृतानतै॥ (अ.हृ.सू. 7/20)
3. मुखगे त्वोष्ठचिमचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च। द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः॥ (च.चि. 23/113)

5. मुख में दाह (Burning in oral (mouth) cavity)
6. लाला स्राव (Excessive salivation)
7. गले के अन्य विकार (Disorders of the throat)

चिकित्सा

इस व्याधि में निम्न औषधि द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए[1]—

1. धाय के पुष्प, हरीतकी एवं जम्बू बीज को पीसकर शहद में लिस कर मुख में लेप एवं दांतों तथा मसूड़ों पर दिन में अनेक बार लगाना चाहिए।
2. अंकोल की मूल या सप्तपर्ण की छाल एवं शिरीष के बीज को शहद के साथ मिलाकर मुख, दांत एवं मसूड़ों पर दिन में अनेक बार लगाऐं।

4. आमाशयगत विषाक्त आहार : लक्षण एवं चिकित्सा

सामान्य लक्षण

विषयुक्त अन्न का सेवन करने पर जब वह आमाशय में पहुंचता है तो निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]—

1. स्वेदन (Excessive sweating)
2. मूर्च्छा (Fainting)
3. आध्मान (Tympanitis/Belching)
4. मद (Alcoholism type of confusion)
5. भ्रम (Vertigo)
6. रोमहर्ष (Horripilation)
7. वमन (Vomiting)
8. दाह (Burning)
9. नेत्र स्तब्धता (Fixed eye balls)
10. हृदय स्तब्धता (Cardiac arrest)
11. शरीर पर जल बिन्दु अर्थात् फफोले बनना (Blisters on skin)

आचार्य सुश्रुत ने निम्न प्रकार से आमाशय गत विष के लक्षणों का उल्लेख किया है—

1. अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः। सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्तव्यं प्रतिसारणम्॥ अथवाऽङ्कोठमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा। शिरीषमाषका वाऽपि सक्षौद्राः प्रतिसारणम्॥ (सु.क. 1/49-50)
2. आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाऽध्मानमदभ्रमाः। रोमहर्षो वमिर्दाहश्चक्षुर्हृदयरोधनम्॥ बिन्दुभिश्चाचयोऽङ्गानां..... ॥ (अ.हृ.सू. 7/22)
3. मूर्च्छाछर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथु। इन्द्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयंगतम्॥ (सु.क. 1/40)

1. मूर्च्छा (Fainting)
2. वमन (Vomiting)
3. अतिसार (Diarrhoea)
4. आध्मान (Tympanitis/Belching)
5. दाह (Buring)
6. कम्पन (Tremors)
7. इन्द्रिय विकार (Disturbances in Sensory perceptions)

चिकित्सा

1. मदनफल, कटुतुम्बी, कड़वी तरोई के फलों से वमन अथवा दही के पानी, तक्र या चावल के पानी से वमन कराऐं[1]।
2. हल्दी, दारुहल्दी, शिरीष, गुड़, निर्गुण्डी, सेम, हिंगुपत्री, वचा, चौलाई, बाकुची से नस्य, अंजन एवं पान कराना चाहिए।
3. अंडे का सेवन कराऐं।

5. पक्वाशयगत विषाक्त आहार : लक्षण एवं चिकित्सा

सामान्य लक्षण

खाद्यान्न में मिश्रित विष जब पक्वाशय में पहुंचता है तो निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[2]—

1. पक्वाशय में दाह (Burning in lower part of G.I.T)
2. मूर्च्छा (Fainting)
3. अतिसार (Diarrhoea)
4. अति तृष्णा (Excessive thirst)
5. इन्द्रिय विकार (Disturbances in sensory perception)
6. आटोप (Tympanitis/Belching)
7. पाण्डुता (Pallor)
8. कृशता या दौर्बल्य (Weakenss)

1. तत्राशु मदनालाबूबिम्बीकोशातकीफलैः।
छर्दनं दध्युदश्विद्धयामथवा तण्डुलाम्बुना॥ (सु.क. 1/41)
2. दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रिय वैकृतम्।
आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम्॥ (सु.क. 1/42)

चिकित्सा

पक्वाशय गत विषाक्ता में निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए[1]—

1. नीलिनी फलचूर्ण को 6 ग्राम घृत के साथ चटाकर विरेचन कराऐं।
2. इच्छाभेदी रस या नाराच रस से भी विरेचन कराया जा सकता है।
3. दूषीविषादि अगद का प्रयोग (छोटी एला, हुरहुर, स्वर्ण गैरीक समभाग चूर्ण बनाकर 4-4 ग्राम की मात्रा में 3-3 घंटे पर शहद से दें।

6. विषमिश्रित द्रव पदार्थ : लक्षण एवं चिकित्सा

सामान्य लक्षण

यदि पेय पदार्थ जैसे क्षीर, मद्य, जल इत्यादि में विष मिश्रित कर दिया जाये तो निम्न लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं[2]—

1. द्रव्य में अनेक प्रकार की रेखाऐं (Appearance of different coloured lines)
2. द्रव द्रव्यों में फेन की उत्पत्ति (Formation of Bubbles in liquids)
3. किसी प्रकार का प्रतिबिंब दिखायी नहीं देता है (No visible shadows)
4. यदि प्रतिबिम्ब दिखाई भी देता है तो युग्मित, छिद्रान्वित अथवा विकृत आकार प्रकार का होता है।

उपरोक्त वर्णन को इस प्रकार समझा जा सकता है कि दुग्ध को यदि ताम्र पात्र में रखें तो वह नीला हो जाता है अथवा दुग्ध में ताम्र यौगिक का विष मिला देने से वह नीला हो सकता है। इसी प्रकार दही में ताम्र युक्त विष से हरे रंग की रेखाऐं बन जाती हैं। इस प्रकार विषाक्तता की पहचान की जा सकती है।

चिकित्सा

1. विष युक्त द्रव्य पहचान कर उनका सेवन न करना
2. विषघ्न औषधि द्रव्यों जैसे शिरीष, वचा, निर्गुण्डी, सेम इत्यादि का क्वाथ बना कर पान करना
3. मदनफल अथवा कटुतुम्बी, वचा, शहद से वमन कराना इत्यादि।

1. विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम्।
दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः॥ (सु.क. 1/43)
2. द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु।
भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा॥ (सु.क. 1/44-45)

7. सविष अन्न, शाक, मांस के लक्षण

खाने योग्य शाक, दाल, अन्न, मांस इत्यादि में विष मिश्रित होने पर निम्न लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं[1]—

1. **भोज्य पदार्थ क्लिन्न एवं स्वाद रहित हो जाते हैं (Tastelessness)**
2. **ताजा निर्मित होने पर भी विरस (बासी) हो जाते हैं (Feeling of tastelessness in the food)**
3. **गंध, वर्ण एवं रस से रहित हो जाते हैं (Loss of odour, colour and taste from edibles)**
4. **पके फल शीघ्र ही सड़ जाते हैं (Early decomposition of ripe fruits)**
5. **कच्चे फल शीघ्र पक जाते है (Early ripening of unripe fruits)**

खाद्यान्न विषाक्तता के प्रमुख कारण

खाद्यान्न विषाक्तता अनेक प्रकार से उत्पन्न हो सकती है इनके कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. ग्रीष्म ऋतु में अधिक समय तक रखे हुए आहार द्रव्य संक्रमित होकर विषाक्त हो जाते हैं।
2. डिब्बा बंद खाद्य पदार्थों में यदि उचित मात्रा में परिरक्षक पदार्थ (Preservatives) नहीं मिलाया गया हो अथवा निर्धारित समय के बाद में उपयोग से उसमें विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है।
3. विवाह भोज, भोजनालय, अस्पताल, सिनेमा हाल के पास एवं अत्यधिक घनत्व वाली आबादी के बीच भोजन विषाक्तता अधिक होती है।
4. किसी पात्र में यदि पहले विषाक्त द्रव्य रखा गया हो तथा उसके खाली होने पर उसमें खाद्यान्न रखने से वह भी विषाक्त हो सकता है।
5. किसी भोज्य पदार्थ के प्रति अनूर्जता (Allergy) के कारण भी खाद्यान्न विषाक्तता होती है।
6. कुछ विशेष पात्रों की धातु किसी विशेष द्रव्य के लिए विषाक्त हो सकती है जैसे घर में बनी सुरा (Alcohol) को शीशे के पात्र में रखने से वह विषाक्त हो जाती है।
7. टिन के डिब्बों में रखा मत्स्य, परिरक्षक पदार्थ (Preservatives) मिला होने पर भी विषाक्त हो जाती है।

1. शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च।
सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च॥
गन्धवर्णरसैर्हीना: सर्वे भक्ष्या: फलानि च।
पक्वान्याशु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च॥ (सु.क. 1/46-47)

8. खट्टे पदार्थों को जस्ते के पात्र में रखने से उसकी सतह छूटकर उस पदार्थ से मिलकर उसे विषाक्त बना देती है।

खाद्यान्न विषाक्तता के सामान्य लक्षण

किसी भी खाद्यान्न की विषाक्तता के लक्षण उसमें मिश्रित विष के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं। परंतु कुछ लक्षण प्राय: अधिकांश खाद्यान्न विषाक्तता में दृष्टिगोचर होते हैं। खाद्यान्न विषाक्तता में निम्न लक्षण प्राय: प्रकट होते हैं—

1. सामूहिक भोज इत्यादि की विषाक्तता में अधिकतर व्यक्ति एक ही साथ पीड़ित होते हैं।
2. एकाएक लक्षण प्रकट होकर किसी विशेष विष के लक्षण के अनुसार बढ़ने लगते हैं। लक्षणों की तीव्रता तेजी से उत्पन्न होती है। रोगी की शीघ्र मृत्यु हो जाती है अथवा वह शीघ्र ठीक हो जाता है।
3. अफीम के विष में प्राय: एक बार लक्षण शांत होकर पुन: प्रकट होने लगते हैं क्योंकि आन्त्र में उत्सर्जित अफीम पुन: अवशोषित होने लगती है।
4. अनेक रोग जैसे वमन, लालास्राव, विसूचिका, अतिसार, आन्त्रशूल, आन्त्रशोथ, अग्न्याशय शोथ एवं आन्त्रविदार (Perforation of G.I.T.) आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। विसूचिका एवं संखिया विषाक्तता के लक्षण एक दूसरे से मिलते जुलते हैं।
5. जीवाणुजन्य विषाक्तता (Bacterial poisoning) में वमन, विबंध, पिपासा, लालास्राव, श्वासकष्ट एवं वाणी नाश आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
6. रोग की अधिक गम्भीरता में अतिस्वेदन (Excessive sweating), जलाल्पता (Dehydration) एवं मूर्च्छा उत्पन्न हो सकती है।
7. सुषुम्ना प्रभावी विष खाद्यान्न के माध्यम से देने पर धनुर्वात (Tetanus), एवं मष्तिष्कावरण शोथ (Encephalitis) के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।
8. लक्षणों की गम्भीरता विष की मात्रा पर निर्भर करती है।

खाद्यान्न विषाक्तता के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत एवं चिकित्सा

विषाक्त पुरुष की विषाक्तता को नष्ट करना ही विष चिकित्सा का प्रधान उद्देश्य होता है। इसके लिए निम्नलिखित चिकित्सा सिद्धांत अपनाते हैं—

1. अशोषित विष जो अभी आमाशय में अवस्थित हो सकता है, उसे शरीर से बाहर निकालना।
2. प्रतिविषों (Antidots) का प्रयोग करके विष को अवशोषित होने से रोकना।
3. शरीर में अवशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना।
4. विष के लक्षणों की युक्ति पूर्वक चिकित्सा।

1. अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना

शरीर में विष का प्रवेश मुख्यत: मुखमार्ग के द्वारा होता है। इसे बाहर निकालने के उद्देश्य से निम्न उपाय करने चाहिऐं—

(i) आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash)

(ii) वमन कराना (To induce vomiting-emesis)

(i) आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash)

आमाशय का प्रक्षालन करने के लिए आमाशय नलिका (Stomach tube) का प्रयोग किया जाता है। यह नलिका $^1/_2$ इंच व्यास की 5 फुट लंबी होती है। इसे मुख मार्ग से डालकर आमाशय में पहुंचने की निश्चित जांच करके अतिशीघ्र आमाशय का प्रक्षालन करना चाहिए जिससे विष को आमाशय से अवशोषित होने से रोका जा सके।

(ii) वमन कराना (To induce vomiting-emesis)

यदि रोगी संज्ञाहीन नहीं हो एवं तीव्र दाहक विष की आशंका नहीं हो तो अशोषित विष निष्कासन के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं / वामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए—

1. अंगुली अथवा पत्ते के डण्ठल से गले को उत्तेजित कर वमन कराऐं।
2. 30 ग्राम सैन्धव लवण को एक लीटर जल में घोलकर पिलाकर वमन कराऐं।
3. राई चूर्ण 30 ग्राम एक लीटर जल में घोल पर पिलाऐं।
4. दो ग्राम जिंक सल्फेट एक लीटर पानी में घोलकर रोगी को पिलाकर वमन कराऐं।
5. कापर सल्फेट (तुत्थ) एक ग्राम एक लीटर जल में घोलकर फास्फोरस की विषाक्तता में रोगी को पिलाना चाहिए।
6. मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकू, धामार्गव, वत्सक, कृतवेधन, नीम, इन्द्रायण मूर्वा, विडंग, चित्रक मूल, अरिष्टक, लवण, राई एवं करञ्ज आदि वामक औषधियों का भी युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

2. प्रतिविषों (प्रति कारकों) का प्रयोग (Use of Antidots)

प्रतिविषों (प्रति कारकों) का प्रयोग करके विष को शरीर में अवशोषित होने से रोका जा सकता है। प्रतिकारक तीन प्रकार के होते हैं—

(i) यान्त्रिक अथवा भौतिक प्रतिकारक (Mechanical Antidots)

(ii) रासायनिक प्रतिकारक (Chemical Antidots)

(iii) क्रिया विरुद्ध प्रतिकारक (Physiological Antidots)

(i) यान्त्रिक या भौतिक प्रतिकारक

जो पदार्थ अपनी भौतिक क्रिया द्वारा विषों को निष्क्रिय बनाने में सक्षम होते हैं उन्हें भौतिक प्रतिकारक कहते हैं। इन्हें तीन भागों में बांट सकते हैं—

(अ) सूक्ष्म पिसा हुआ कोयले का चूर्ण

यह विशेषकर कार्बनिक विषों एवं कुछ मात्रा में खनिज विषों को अवशोषित कर लेता है। एक ग्राम कोयले का चूर्ण 500 मि.ग्रा. स्ट्रिक्नीन का अवशोषण कर सकता है।

(ब) वसा, तैल, अण्डे की जर्दी, चिकनायी युक्त पदार्थ

यह पदार्थ आमाशय की श्लैष्मिक कला पर एक चिकना आवरण बना देते हैं जिससे विष का अवशोषण नहीं हो पाता एवं तीक्ष्ण पदार्थों जैसे मणि, कांच के चूर्ण आदि से क्षत भी नहीं होता।

(स) भोजन की अधिक मात्रा

यह भी पिसे कांच इत्यादि के लिए प्रतिकारक का कार्य करती है तथा आन्त्र की दीवारों की सुरक्षा भी करती है।

(ii) रासायनिक प्रतिकारक

रासायनिक प्रतिकारक विषों के सम्पर्क में आकर हानिरहित या अघुलनशील यौगिक बनाते हैं जिसके परिणामस्वरूप विषाक्त पदार्थ शरीर में हानि कारक प्रभाव पैदा नहीं कर पाते। कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) क्षारीय विष में अम्ल का प्रयोग एवं अम्लीय विष में क्षार का प्रयोग करना चाहिए।

(ब) खनिज अम्लों के लिए मैग्निशिया या कार्बोनेट्स देना चाहिए।

(स) चूने का प्रयोग आक्जैलिक अम्ल को निष्क्रिय करता है।

(द) नाग एवं टैनिन विष के लिए सोडियम सल्फेट का प्रयोग करना लाभकारी रहता है।

(य) रस कर्पूर के लिए एल्बुमिन का प्रयोग करना हितकारी है।

(र) दाहक क्षारीय विषों के लिए नींबू के रस अथवा सिरका का प्रयोग उपयोगी है।

(च) पिसा हुआ कोयला या जला हुआ टोस्ट- 2 भाग, टैनिक अम्ल या तेज चाय-1 भाग, मैग्निशियम आक्साइड या मैग्निशियम दूध-1 भाग को सार्वभौमिक प्रतिकारक के रूप में प्रयोग करना चाहिए। तीन ग्राम सम्मिलित चूर्ण 250 मि.लि. जल में घोलकर पिलाना चाहिए।

(iii) शरीर क्रियात्मक प्रतिकारक

शरीर क्रियात्मक प्रतिकारक के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्न हैं—

(अ) एट्रोपिन के लिए मार्फिया का प्रयोग

(ब) क्लोरोफार्म के लिए एमिल नाइट्रेट का प्रयोग

(स) बार्बीट्यूरिक अम्ल के लवणों की विषाक्तता में पिक्रोटाक्सिन और बेमिग्रिड प्रतिकारक हैं।

(द) डिजिटैलिस के लिए वत्सनाभ का प्रयोग।

(य) बी.ए.एल. (British Anti Levesite-BAL)
यह अनेक धात्विक विषों, विशेषकर संखिया एवं पारद के लिए प्रतिकारक का कार्य करता है। यह शरीर कोशिकाओं से विष को अलग कर उसे मूत्र के माध्यम से बाहर निकालता है।

3. शरीर में अवशोषित विषों को शरीर से बाहर निकालना

(i) शरीर में अवशोषित विष बाहर निकालने के लिए मुख्यतः स्वेदल, मूत्रल एवं विरेचक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(ii) उष्ण जल, उष्ण वस्त्र, उष्ण वायु एवं आतप आदि से स्वेदन क्रिया सम्पादित होती है।

(iii) अर्कमूल, चित्रकमूल, सहिजन छाल, कुटकी, अनन्तमूल, अतिविषा, पुनर्नवा एवं कर्पूर आदि स्वेदल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

(iv) मूत्रल औषधियों में गोक्षुर, पुनर्नवा, श्वेत पर्पटी, अपामार्ग, कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु, नारियल जल, कमलगट्टा, खीरा, अनन्त मूल, सहिजन, यवक्षार, दुग्ध, शर्बत एवं शिकंजी आदि का प्रयोग करने से भी लाभ होता है।

(v) विरेचनार्थ- निशोथ, अमलतास, स्नुही, सत्यानाशी मूल, हरीतकी चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, मुनक्का, गम्भारी एवं फालसा आदि का प्रयोग उत्तम है।

(vi) नाराच रस एवं इच्छा भेदी रस भी अत्यंत लाभदायक विरेचक औषधियां हैं।

4. विष के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करना

विष सेवन से उत्पन्न प्रमुख लक्षण एवं उनकी चिकित्सा निम्न प्रकार है—

(i) वेदना

वेदना शमन के लिए रुजाहर एवं स्निग्ध औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे उदरशूल में अविपत्तिकर चूर्ण, पित्तान्तक चूर्ण, शंख भस्म एवं सूतशेखर रस इत्यादि का प्रयोग। सर्वांग वेदना में गुग्गुलु के योग प्रयुक्त करने चाहिऐं।

(ii) वमन एवं अतिसार

प्रारम्भ में वमन एवं अतिसार को नहीं रोकना चाहिए। विष निकल जाने पर वमन एवं अतिसार नाशक औषधियों का प्रयोग करें।

(iii) कोष्ठबद्धता

यह लक्षण मुख्यतः शीशक विष में होता है। इसमें त्रिफला चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, नाराच रस एवं इच्छाभेदी रस देना चाहिए।

(iv) मूत्रावरोध

मूत्रावरोध में अधिक जलपान, शिकंजी, नींबू पानी तथा मूत्रल औषधियों जैसे

पुनर्नवा, गोक्षुर, यवक्षार एवं श्वेत पर्पटी आदि का प्रयोग लाभकारी रहता है।

(v) तापमान

वृद्धि में शीतल चिकित्सा करें।

(vi) तापक्रम

कम होने पर उष्ण कमरे में कम्बल में लपेट कर रोगी को रखना चाहिए। रोगी को चाय एवं काफी पिलाना हितकारी रहता है।

(vii) रक्तदाब

कम होने पर रोगी का शिर नीचे एवं पैर की तरफ का हिस्सा कुछ उठाकर रखना चाहिए। अग्नितुण्डी वटी, अकीक पिष्टी, कहरवा पिष्टी, प्रवाल पंचामृत का प्रयोग करना विशेष लाभकारी है।

(viii) प्रलाप, आक्षेप, अनिद्रा

इन अवस्थाओं में निद्राकर औषधियों जैसे सर्पगंधा चूर्ण, सारस्वत चूर्ण, सारस्वतारिष्ट, शंखपुष्पी, जटामांसी एवं ब्रह्मी वटी आदि का प्रयोग करें।

(ix) श्वासावरोध में प्राणवायु (Oxygen Therapy) की व्यवस्था करें।

(x) हृदयावरोध की अवस्था में हृदय उत्तेजक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

भारी धातुओं से उत्पन्न विषाक्तता

(Heavy Metals Poisoning)

सामान्य परिचय

भारी धातुओं से उत्पन्न विषाक्तता अत्यन्त घातक होती है। आर्सेनिक, पारद, नाग, ताम्र इत्यादि अत्यन्त घातक स्वरूप के धातु विष होते हैं। विभिन्न स्वरूप में निर्मित विष शरीर के विभिन्न मार्गों से प्रयुक्त किये जा सकते हैं। जैसे खाद्य द्रव्य अथवा पेय पदार्थ के रूप में विष का प्रयोग मुख मार्ग से किया जा सकता है, धूल, धुआं, नस्य रूप में श्वसन मार्ग से, आलेप, उबटन, लेप के रूप में त्वचा द्वारा, सूची वेध द्वारा अथवा शरीर के प्राकृतिक स्रोत जैसे कर्ण, नासा, योनि, गुदा इत्यादि के द्वारा भी विषों का अंतः प्रवेश किया जा सकता है। शरीर में विष के प्रभाव के पश्चात उनका उत्सर्जन, मल, मूत्र, लालास्राव, स्वेद इत्यादि द्वारा होता है।

शरीर पर विष का प्रभाव अनेक तथ्यों पर निर्भर करता है जैसे विष की मात्रा, विष की प्रभावी शक्ति या वीर्य, विष प्रयोग की विधि एवं विष ग्रहण करने वाले व्यक्ति की आयु, स्वास्थ्य, मनोबल, प्रकृति इत्यादि के अनुसार शरीर पर विष का प्रभाव होता है।

विषाक्तता का निदान रोगी के परिजनों, मित्रों के माध्यम से रोगी की प्रकृति इत्यादि का पता लगाकर किया जा सकता है अथवा रोगी के कमरे का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसके पास अथवा कमरे में उपलब्ध-खाद्य पदार्थ अथवा विषाक्त द्रव्यों की बची मात्रा या शीशी इत्यादि के द्वारा विषाक्तता का आसानी से निदान किया जा सकता है।

विष से ग्रस्त रोगी की प्रत्यक्ष परीक्षा करनी चाहिए तत्पश्चात विशेष लक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि कुछ विशेष विषों के सेवन से उनके लक्षण भी सामान्य से अलग प्रकार के होते हैं। कुछ विष जैसे संखिया, कार्बन मोनो आक्साइड, हाइड्रोसायनिक अम्ल तत्काल मारक होते हैं। इसी प्रकार अफीम, मद्य, कर्पूर आदि मूर्च्छाकारक होते हैं। धतूरा, भांग, खुरासानी अजवायन के सेवन से रोगी प्रलाप करता है एवं नेत्र की पुतलियों का प्रसार हो जाता है। फेनाश्म, नीलाञ्जन, वत्सनाभ आदि विष द्रव्य वमन लक्षण उत्पन्न करते हैं।

विषाक्तता की सामान्य चिकित्सा के अंतर्गत सर्व प्रथम आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए अथवा रोगी को वामक द्रव्य पिला कर वमन कराना चाहिए। पक्वाशयगत विष में विरेचन उत्तम होता है। शरीर में अवशोषित हो चुके विष को नष्ट करने के लिए उस विष का प्रतिविष (Antidots) सूचिका द्वारा अथवा आमाशय नलिका द्वारा प्रयोग करना चाहिए। विष की तीव्रता को कम करने के समस्त उपाय करते हुए रोगी में उत्पन्न विषाक्त लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

2. पारद विषाक्तता

(Mercury Poisoning)

परिचय

रसशास्त्र के दृष्टिकोण से पारद अत्यन्त महत्वपूर्ण धातु है जिसके साथ गंधक का संयोग करके अनेक प्रकार की प्रभावी औषधि द्रव्यों का निर्माण होता है। पारद एक ऐसी धातु है जो द्रव स्वरूप में होती है। पारद का स्वरूप पिघली हुई चांदी के समान होता है। यह अत्यन्त विषाक्त धातु है।

पर्याय

रस, रसेन्द्र, सूत, पारद, रसराज, शिव, मिश्रक, सिद्ध धातु, हरबीज, शिवबीज, त्रिनेत्र, त्रिलोचन इत्यादि।

पारद के प्रमुख यौगिक

पारद के प्रमुख यौगिक निम्नलिखित हैं—

1. मरक्यूरिक क्लोराइड ($HgCl_2$)
2. मरक्यूरस क्लोराइड (Hg_2Cl_2)

3. येलो मरक्यूरिक आक्साइड (HgO)
4. रेड मरक्यूरिक आयोडाइड (HgI_2)
5. अमोनिएटेड मरकरी (NH_2HgCl)
6. मरक्यूरस आक्साइड (Hg_2O)
7. मरक्यूरिक सल्फाइड (HgS)
8. मरक्यूरिक सल्फेट ($HgSO_4$)

पारद विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

पारद के कारखानों में लापरवाही पूर्वक कार्यरत व्यक्तियों अथवा किन्हीं कारणों से विषाक्त पारद सेवन से व्यक्ति में विषाक्तता का लक्षण उत्पन्न होने में लगभग एक से डेढ़ घंटे का समय लगता है। पारद विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं-

1. मुख में धातवीय स्वाद (Metalic taste in mouth)
2. मुख, गला, आमाशय में तीव्र दाह युक्त पीड़ा (Burning pain in oral cavity, throat and stomach)
3. स्वरभेद (Hoarseness of voice)
4. लालास्राव (Salivation)
5. मसूड़ों में शोथ (Swelling in gums)
6. मसूड़ों से पूययुक्त रक्तस्राव (Bloody pus discharge from gums)
7. श्वास कृच्छ्रता (Breathlessness)
8. वमन (Vomiting)
9. अतिसार (Diarrhoea)
10. मूत्र की मात्रा में क्रमशः कमी (Progressive oliguria)
11. मूत्राघात (Retention of urine)
12. नाड़ी गति तीव्र, दुर्बल एवं अनियमित (Fast, weak and irregular pulse)
13. हृदयावसाद (Cardiac Depression)
14. शीतल स्वेद (Cold Perspiration)
15. आक्षेप (Convulsions)
16. तन्द्रा (Drowsiness)
17. मूर्च्छा (Fainting)
18. मृत्यु (Death)

घातक मात्रा

200 मि.ली. से 300 मि.ली. तक

घातक काल

एक से पांच दिन—कम से कम आधा घंटा।

चिकित्सा

पारद विषाक्तता में निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए—

1. सर्वप्रथम अण्डे की सफेदी, दूध आदि एल्बुमिन युक्त पदार्थ रोगी को पिलाना चाहिऐ। इससे अघुलनशील यौगिक एल्बुमिन में घुल जाते हैं।
2. आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash)
3. कोयले का बारीक चूर्ण एवं मैग्निशियम सल्फेट को पानी में घोलकर बार-बार पिलाऐं।
4. सोडियम थायोसल्फेट एवं "BAL" का प्रयोग अतिशीघ्र प्रारम्भ करें।
5. यव का पानी या आटे को पानी में घोलकर पिलावें।
6. शरीर की उष्णता को बनाऐ रखें।
7. अन्य उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा करें।
8. वेदनाशामक एवं हृदयोत्तेजक औषधि द्रव्यों का प्रयोग करें।

पारद की जीर्ण विषाक्तता

(Chronic Poisoning of Mercury)

निदान

पारद के सम्पर्क में अधिक समय तक रहने से जीर्ण पारद विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। पारद युक्त औषधि अधिक समय तक सेवन करने से भी जीर्ण पारद विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है। पारद के कारखानें में अधिक समय तक कार्यरत व्यक्तियों में पारद के जीर्ण विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रमुख लक्षण

पारद की जीर्ण विषाक्तता में निम्न लक्षण व्यक्त हो सकते हैं-

1. उदर शूल (Pain Abdomen)
2. हल्लास एवं वमन (Nausea/Vomiting)
3. मसूड़ों में शोथ (Swelling in gums)
4. अत्यधिक लालास्राव (Excessive salivation)
5. दांतों में कृमि (Dental caries)
6. दौर्बल्य (Weakness)
7. पाण्डुता (Pallor)
8. त्वचा में पीड़िकाओं की उत्पत्ति (Blisters/Rashes over skin)
9. हाथ एवं पैरों में कम्पन (Tremors in extremities)
10. शाखाओं में पक्षाघात (Paralysis in extremities)
11. मानस रोगों की उत्पत्ति (Precipitation of Mental Disorders)

12. रक्त मिश्रित कास (Cough with haemoptysis)
13. फुफ्फुस, वृक्क एवं नाड़ी संस्थान की विकृति (Disorders of lungs, kidneys and nervous system)

चिकित्सा

1. निदान परिवर्जन
2. मुखगत एवं दंतगत विकारों की चिकित्सा हेतु हाइड्रोजन पराक्साइड से कवल अथवा आयुर्वेदीय कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण का प्रयोग करें।
3. विरेचनार्थ पंचसकार चूर्ण, नाराच रस, जयपाल, त्रिफला चूर्ण, हरीतकी चूर्ण का प्रयोग।
4. बार-बार कोष्ण जल से स्नान।
5. पानार्थ पर्याप्त मात्रा में दुग्ध का प्रयोग।
6. अतिशीघ्र BAL या सोडियम थायोसल्फेट का प्रयोग प्रारम्भ करें।
7. पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा में प्रयोग।
8. अन्य लाक्षणिक चिकित्सा।

3. संखिया अथवा फेनाश्म विषाक्तता

(Arsenic Poisoning)

परिचय

संखिया का सर्वप्रथम वर्णन आचार्य सुश्रुत ने फेनाश्म के नाम से धातु विष के रूप में किया है[1]। संखिया में रासायनिक दृष्टि से आर्सेनिक एवं आक्सीजन तत्व पाये गये हैं। देखने में यह स्फटिक के समान पारदर्शक तथा शुभ्र रंग का होता है। संखिया निम्न दो प्रकार का होता है—

1. श्वेत संखिया - कृत्रिम
2. रक्ताभ संखिया - खनिज

संखिया में किसी प्रकार का गंध अथवा स्वाद नहीं होता है। प्राचीन काल से ही चिकित्सा में संखिया की अत्यल्प मात्रा का प्रयोग होता रहा है।

पर्याय[2]

शंख विष, शंखमूष, गौरीपाषाण, दारुमूष, दारुमोच, मल्ल, मल्लक, फेनाश्म, आखुपाषाण, सम्बूलखार, विकट एवं हतचूर्णक इत्यादि।

1. फेनाश्म हरितालं च द्वे धातु विषे (सु.क. 2/5)
2. शंखमृषं शंखविषं गौरीपाषाणकम् तथा। दारुमूषं दारुमूषा दारुमोचश्च मल्लकः।
   फेनाश्म भष्म संज्ञश्च सोमलः सम्बलं तथा। आखुपाषाणकं चैव रसैज्ञै परिकीर्तितः॥
   (र.त. 11/130-131)

प्रमुख यौगिक

संखिया के प्रमुख यौगिक निम्न प्रकार हैं—

1. आर्सेनियस आक्साइड (Arsenious Oxide)—(As_4O_6) इसे श्वेत संखिया या फेनाश्म कहते हैं। यह गंधहीन, स्वादहीन एवं जल में अविलेय है परंतु अम्ल तथा क्षार में विलेय है। चूहे इत्यादि मारने के लिये इससे औषधि निर्माण किया जाता है।
2. सोडियम आर्सेनेट एवं पोटैशियम आर्सेनेट (Na_3AsO_4), (K_3AsO_4) : यह यौगिक हत्या एवं पशु हत्या में प्रयोग किया जाता है।
3. आर्सेनिक सल्फाइड : इसमें हरताल (As_2S_3) एव मनःशिला (As_2S_2) सम्मिलित हैं। इनका उपयोग रक्त धातु विकृति एवं त्वक् रोगों में अधिक किया जाता है।
4. आर्सेनिक डाई क्लोराइड ($AsCl_2$)-यह रंगहीन तथा अत्यन्त विषाक्त द्रव्य है।
5. आर्सेनियम आयोडाइड (AsI_3)-यह नारंगी रंग का स्फटिक के समान होता है तथा अधिकांशतः त्वक् रोगों में प्रयुक्त होता है।

संखिया विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

संखिया अत्यन्त तीव्र विष होता है तथा इसका सेवन करने के लगभग एक घंटे में ही रोगी के शरीर में लक्षण प्रारंभ हो जाते हैं। संखिया विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. सिर चकराना (Vertigo)
2. थकावट (Fatigue)
3. हल्लास अथवा वमन (Nausea/Vomiting)
4. दाह (Burning)
5. अतितृष्णा (Excessive thirst)
6. गले एवं आमाशय में तीव्र दाह एवं पीड़ा (Intense Burning and pain in throat and abdomen)
7. प्रथम वमन में आमाशयिक पदार्थ और बाद में रसयुक्त श्लेष्मा निकलता है।
8. वमन द्रव्य का रंग हरा, नीला, गहरा काला या पीला भी हो सकता है। यह रंग संखिया के यौगिक पर निर्भर करता है।
9. रक्त युक्त अतिसार (Bloody Diarrhoea)
10. प्रथम मल भूरे या काले रंग का तथा अत्यन्त दुर्गन्धित होता है (Brown or black colour of stool with foul smell)
11. पैरों में ऐंठन (Cramps in legs)
12. श्वास कृच्छ्रता (Breathlessness)
13. क्रमशः मूत्र त्याग में कमी (Oliguria) एवं दाह के साथ मूत्र त्याग (Burning micturition)

14. शीत युक्त स्वेद (Cold sweating)
15. मुख नीला, पीला हो जाता है (Cyanosed face)
16. नाड़ी तीव्र, दुर्बल तथा अनियमित होती है (Fast, weak and irregular pulse)
17. तन्द्रा (Drowsiness)
18. मूर्च्छा (Fainting)
19. आक्षेप (Convulsions)
20. मृत्यु (Death)

अत्यधिक विष भक्षण की स्थिति में प्रारम्भ में अवसाद की अवस्था उत्पन्न होकर रोगी की तत्काल मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी वमन, विरेचन न होकर अकस्मात तन्द्रा, प्रलाप, मूर्च्छा, पक्षाघात अथवा श्वासावरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

घातक मात्रा (Fatal Dose); 125-200 मि.ग्रा.

घातक काल (Fatal Period) 12-24 घंटे

सापेक्ष निदान

संखिया विषाक्तता के कुछ लक्षण आमाशयान्त्रकला शोथ (Gastritis) एवं क्षुद्रान्त्र कला शोथ (Enteritis) से मिलते हैं। परंतु विसूचिका (Cholera) के लक्षणों के साथ इसके लक्षणों में अत्यधिक समानता है। अतः संखिया विषाक्तता का विसूचिका से सापेक्ष निदान करना आवश्यक है जो निम्न सारणी में स्पष्ट किया गया है

क्र.सं.	संखिया विषाक्तता	विसूचिका
1.	केवल विष खाने वाला व्यक्ति ही प्रभावित होता है।	1. प्रायः महामारी (Epidemic) के रूप में होती है।
2.	रोगी को पहले वमन, बाद में अतिसार होता है।	2. रोगी को प्रथम अतिसार तत्पश्चात वमन होता है।
3.	रक्त मिश्रित वमन होता है।	3. पानी की तरह पतला वमन होता है।
4.	पहले रोगी के गले में पीड़ा होती है तब वमन होता है।	4. प्रायः गले में पीड़ा नहीं होती है।
5.	पानी की तरह पतला मलत्याग होता है जो रक्त या पित्त मिश्रित होता है एवं तीव्र उदर शूल भी होता है।	5. चावल के माण्ड के समान मल त्याग, कभी-कभी रक्त भी मल त्याग के साथ आता है।
6.	रोगी के कण्ठ एवं स्वर अप्रभावित रहते हैं।	6. रोगी के कण्ठ एवं स्वर भारी हो जाते हैं।
7.	वमन पदार्थ एवं मल के रासायनिक परीक्षण में संखिया मिलता है।	7. मल के कल्चर में विसूचिका के जीवाणु मिलते हैं।

चिकित्सा

संखिया विषाक्तता में निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए—

1. वमन नहीं होने पर सर्वप्रथम वमन करायें। इसके लिए राई चूर्ण, मदनफल चूर्ण या जिंक सल्फेट का प्रयोग उपयोगी है।
2. संखिया विषाक्तता के निदान के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र क्षार एवं जल मिलाकर आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए। आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash) के पश्चात हाइड्रेटेड फेरिक आक्साइड का घोल आमाशय में डालें। यह एक महत्वपूर्ण प्रतिविष है।
3. कैल्सियम, मैगनीशिया तथा कोयले का चूर्ण मिलाकर प्रतिविष के रूप में प्रयुक्त करना लाभकारी रहता है
4. खाने के सोडा ($NaH CO_3$) से भी आमाशयिक प्रक्षालन किया जा सकता है।
5. विरेचन नहीं होने पर एरण्ड तैल पिलाना चाहिए।
6. अण्डे की सफेदी, दुग्ध, घृत आदि स्निग्ध औषधियां देना लाभकारी हैं।
7. शरीर तापक्रम को सामान्य बनाये रखना आवश्यक है।
8. अत्यधिक शूल में वेदनाशामक औषधि जैसे मार्फीन का इन्जेक्शन दिया जा सकता है।
9. शरीर को उत्तेजित करने का प्रयास करना चाहिए।
10. शरीर में जलाल्पता की स्थिति में अंत: सूचिका जल भरण (Intravenous fluid therapy) करना चाहिए।
11. संखिया विषाक्तता निदान के पश्चात (BAL) का प्रयोग करना चाहिए। इसका आविष्कार इंग्लैंड में हुआ इसलिए इसको ब्रिटिश एण्टी लेविसाइड (British Anti Lewisite- BAL) कहते हैं। (BAL) को डीमर्कैप्राल (Demercapral) भी कहते हैं। यह संखिया का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिविष है। (BAL) का पेशीगात इन्जेक्सन आवश्यकतानुसार बार-बार देना चाहिए।

औषधि मात्रा

BAL की औषधिय मात्रा 3 मि.ग्रा./कि.ग्रा. शारीरिक भार के हिसाब से देनी चाहिऐ।

- प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय दिन प्रति चार घंटे पर एक इन्जेक्शन देना चाहिए।
- चौथे दिन से स्वस्थ होने तक 12 घंटे के अंतराल से सूचिका वेध करना चाहिऐ।

BAL के विपरीत प्रभाव (Side Effects of BAL)

प्राय: सूचीवेध करते ही हल्लास, वमन, शिर:शूल, अंगमर्द, दाह आदि उपद्रव

उत्पन्न होते हैं जो आधे घंटे में ठीक हो जाते हैं। अन्यथा ठीक नहीं होने पर निद्राकर औषधि बार्बीच्यूरेट्स (Barbiturates) का प्रयोग करना चाहिए।

संखिया की जीर्ण विषाक्तता

(Chronic Toxicity of Arsenic)

दीर्घकाल तक अल्प मात्रा में संखिया का सेवन करने से अथवा जिन कारखानों में किसी भी रूप में संखिया का प्रयोग किया जाता हो, ऐसे कारखानों में काम करने से भी संखिया विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रमुख लक्षण

संखिया की जीर्ण विषाक्तता में उत्पन्न होने वाले लक्षणों को निम्नलिखित चार अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं-

1. पाचन संस्थानगत लक्षण (प्रथम अवस्था)

इसके अंतर्गत अग्निमांद्य, अरुचि, मसूड़ों में शोथ, उदर शूल, विबंध, कभी-कभी वमन, अतिसार एवं ज्वर भी उत्पन्न हो जाता है।

2. श्वसन संस्थानगत लक्षण (द्वितीय अवस्था)

इसमें स्वरयंत्र, श्वास नलिका (Trachea) में शोथ, कास (Cough) एवं त्वचा में पिड़िकाएं (Rashes) उत्पन्न होती हैं। नासा से बार-बार जलस्राव तथा नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते हैं। तत्पश्चात नख एवं रोम गिरने लगते हैं और नाड़ी संस्थान (Nervous System) के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

3. नाड़ी संस्थानगत लक्षण (तृतीय अवस्था)

नाड़ी संस्थान के लक्षणों के अंतर्गत शिर:शूल, त्वचा में सुन्नता, मांसपेशियों में वेदना, तथा नपुंसकता उत्पन्न होने लगती है। कभी-कभी अत्यधिक स्वेदन भी होने लगता है।

4. चतुर्थ अवस्था

इस अवस्था में रोगी को पक्षाघात हो जाता है। मांस पेशियों में क्षय एवं शोष होने लगता है। रोगी चलने में असमर्थ होने लगता है। अन्तत: हृदय पेशी दुर्बलता होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

1. निदान परिवर्जन
2. औषधि के रूप में पोटैशियम आयोडाइड का प्रयोग करना चाहिऐ।
3. निदान हो जाने पर BAL का प्रयोग करना विशेष लाभकारी होता है।
4. सोडियम या कैल्सियम थायोसल्फेट के सूची वेध का प्रयोग करना चाहिऐ।

4. नीलाञ्जन विषाक्तता

(Antimony Poisoning)

परिचय

आयुर्वेद में रसशास्त्र के अंतर्गत नीलाञ्जन का वर्णन अञ्जनों के प्रकार में किया गया है। यह रंगहीन एवं स्फटिक अथवा चूर्ण के रूप में प्राप्त होता है।

पर्याय

शक्र भूमिज, वारिसम्भव, सुवर्णघ्न, लौहमार्दवकर आदि।

प्रमुख यौगिक

1. **एण्टीमनी टार्टरेटम (Antimony Tartaratum)**-इसमें लगभग 35% धातवीय अंजन पाया जाता है। स्वाद में अम्लीय एवं जल में घुलनशील होता है। पशुचिकित्सा में भी इसका प्रयोग करते हैं। औषधीय मात्रा के रूप में 2-4 मि.ग्रा. की मात्रा में इसका प्रयोग किया जाता है एवं वमन के लिए इसे 30-60 मि.ग्रा. की मात्रा में प्रयुक्त करते हैं।
2. **एण्टीमनी ट्राई आक्साइड (Antimony Trioxide-Sb_2O_3)**
3. **एण्टीमनी ट्राई क्लोराइड (Antimony Trichloride - Sb_2Cl_3)**
4. **एण्टीमनी ट्राई सल्फाइड (Antimony Trisulphide - Sb_2S_3)**-यह बाजार में काले सुरमें के रूप में मिलता है।

विष के रूप में मुख्यत: एण्टीमनी टार्टरेटम का विशेष महत्व है जिसे विष के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

एण्टीमनी विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

एण्टीमनी विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. मुख में धातु के समान स्वाद मिलना (Metalic Taste in mouth)
2. हल्लास एवं वमन (Nausea and Vomiting)
3. आमाशय में दाह युक्त पीड़ा (Burning Pain in Abdomen)
4. अतिसार (Diarrhoea)
5. नाड़ी गति कम हो जाती है (Decreased Pulse Rate)
6. त्वचा शीतल हो जाती है (Cold skin)
7. अति स्वेदन (Excessive Perspiration)
8. श्वासकृच्छ्रता (Breathlessness)
9. मूर्च्छा (Fainting)
10. हृदयावसाद (Cardiac Depression)
11. मृत्यु (Death)

घातक मात्रा	घातक काल
600 मि.ग्रा. से 1200 मि.ग्रा.	10-60 घंटा

चिकित्सा

1. निदान परिवर्जन।
2. दुग्ध, अंडे की सफेदी, जैतून तैल तथा अन्य स्निग्ध एवं शामक औषधियों का प्रयोग।
3. वमन नहीं होने पर वमनोपग एवं वमनकारक औषधियों का प्रयोग।
4. प्रतिविष के रूप में तीक्ष्ण चाय या कॉफी की अधिक मात्रा या टैनिक अम्ल 2-4 ग्राम तक की मात्रा में देना चाहिऐ।
5. अतिवेदना में वेदनाशामक उपाय एवं मार्फीन के सूची वेधन का प्रयोग करना लाभकारी रहता है।
6. उत्तेजक एवं बल्य औषधियों का प्रयोग करना हितकारी है।

5. नाग विषाक्तता

(Lead Poisoning)

परिचय

नाग अथवा सीसा नील-कपिल वर्ण का, अपारदर्शक, गंध रहित, स्वाद रहित, मृदु एवं ठोस पदार्थ है। यह जल में अविलेय एवं कागज पर कृष्ण निशान छोड़ता है। यह औषधि रूप में भी प्रयुक्त होता है।

पर्याय

सीसा, व्रघन, योगेष्ट, सांप, कुरंग, कुवङ्ग इत्यादि।

नाग के प्रमुख यौगिक

1. **प्लम्बाई एसिटास (Plumbi Acetas)**

यह श्वेत वर्ण का स्फटकीय द्रव्य है। स्वाद में मधुर एवं सिरके के गंध वाला होता है। यह जल में अल्प एवं मद्य में अधिक घुलनशील है। इससे Suppositorium Plumbi योग तैयार करते हैं।

2. **लिक्वर प्लम्बाई सब एसिटेसिस फोर्टिस (Liquor Plumbi subacetasis Fortis)**

यह स्वच्छ क्षारीय एवं रंगहीन द्रव स्वरूप में होता है। स्वाद में मधुर एवं क्षारीय होता है। इससे Liquor Plumbi Subacetasis dilutus योग तैयार किया जाता है।

3. **प्लम्बाई मोनोक्साइडम (Plumbi Monoxidum)**

इसे Litharge या मृद्वारशृंग या मुर्दासंख भी कहते हैं। यह पीतवर्ण या ईंट के वर्ण

का अथवा पीत और नारंगी की तरह लाल रंग का चूर्ण होता है। यह जल में अविलेय एवं सिरके में घुलनशील होता है। इससे अनेक योग बनाये जाते हैं। आयुर्वेद में भी इस योग से अनेक औषधि द्रव्य तैयार किये जाते हैं।

नाग विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

नाग विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. मुख में धातवीय स्वाद (Metalic taste in mouth)
2. कण्ठ शोथ (Swelling in glottis)
3. तीव्रतृष्णा (Excessive thirst)
4. रक्त या श्लेष्म मिश्रित वमन (Blood or Mucous mixed vomiting)
5. रुक-रुक कर तीव्र उदर शूल (Intermittent intense colicky pain)
6. तीव्र विबंध (Severe constipation)
7. उदर में स्पर्शासह्यता (Tenderness in Abdomen)
8. कृष्ण वर्ण एवं अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त मल प्रवृत्ति (Black coloured stool with soul smell)
9. क्रमशः मूत्र की मात्रा में कमी (Progressive oligureaa)
10. जिह्वा शुष्क एवं मलावृत्त (Dry and coated tongue)
11. दुर्गन्ध युक्त श्वास (Foul smelling breathing)
12. अत्यधिक दौर्बल्य (Severe weakness)
13. त्वचा पर शीतल स्वेद (Cold perspiration)
14. नाड़ी गति तीव्र एवं दुर्बल (Fast and weak pulse)
15. निद्रानाश (Insomnia)
16. शिरः शूल (Headache)
17. तन्द्रा (Drowsiness)
18. चक्कर (Vertigo)
19. पेशियों में आकस्मिक संकोच (Contractions in muscles)
20. आक्षेप (Convulsions)
21. पक्षाघात (Paralysis)
22. नाड़ी संस्थान की विकृति (Disorders of Nervous system)
23. मृत्यु (Death)

घातक मात्रा

20 ग्राम से 30 ग्राम

घातक काल

एक से तीन दिन तक

चिकित्सा

1. सर्वप्रथम रोगी को मैग्निशियम सल्फेट या सोडियम सल्फेट का घोल पिलाना चाहिए जो लेड सल्फेट नामक अघुलनशील यौगिक बनाता है।
2. साधारणतया आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए अथवा पानी में मिश्रित गंधकाम्ल (Dilute sulphuric acid) को मिलाकर आमाशय प्रक्षालन करने से भी लेड सल्फेट नामक अघुलनशील यौगिक बनता है।
3. रोगी को वमन करायें।
4. दुग्ध, यव का पानी, अंडे की सफेदी आदि स्निग्ध एवं शामक औषधियों का प्रयोग करावें।
5. वेदना शमन के लिए मार्फीन का सूची वेध करना चाहिए।
6. अन्य लाक्षणिक चिकित्सा लगभग सात दिन तक करनी चाहिए।

नाग की जीर्ण विषाक्तता
(Chronic Toxicity of Lead)

निदान

1. सीसे के कारखानें में कार्य करना।
2. चित्रकारी, पानी के नल बैठाने वाले, पेंटर्स एवं बिजली के कारखानें में यथोचित सुरक्षा कवच के बिना कार्य करना।
3. सीसे के बर्तन में रखा पानी पीना, बालों के रंगने के पदार्थ।
4. कलई किये बर्तनों में खट्टे पदार्थ रखने से या कलईदार बर्तन में भोजन पकाने एवं खाने से।
5. स्त्रियों द्वारा अधिक मात्रा में सिन्दूर का प्रयोग करने से नाग की जीर्ण विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है।

प्रमुख लक्षण

नाग की जीर्ण विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. मसूड़ों पर कृष्ण वर्ण की रेखा होना (Black lining on gums)
2. क्रमशः पाण्डु वर्णता एवं दौर्बल्य (Progressive pallor and weakness)
3. आध्मान (Tympanitis/Belching)
4. अग्निमांद्य (Poor Appetite)
5. अजीर्ण (Indigestion)
6. विबंध (Constipation)
7. रक्तदाब में वृद्धि (High Blood Pressure)

8. धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis)
9. वृक्क शोथ (Renal Oedema)
10. मूत्र में एल्बुमिन स्राव (Albuminureaa)
11. स्त्रियों में मासिक धर्म में विकृति (Irregularities amd disturbances in menstrual cycle in females)
12. स्त्रियों में बन्ध्यत्व (Sterility)
13. गर्भपात (Abortion)
14. पुरुषों में नपुंसकता (Impotency)

प्रमुख उपद्रव

1. उदर शूल
2. अग्निमांद्य
3. बड़े जोड़ों में तीव्र शूल एवं अस्थियों में वेदना
4. शिर:शूल
5. दृष्टिमांद्यता
6. प्रलाप, आक्षेप, उन्माद, मूर्च्छा
7. स्त्रियों के योनिमार्ग में आकस्मिक संकोच
8. गर्भिणी में गर्भपात
9. पुरुषों में नपुंसकता
10. प्रथम हाथ में पक्षाघात तत्पश्चात पैरों में भी पक्षाघात हो जाता है
11. मांसपेशी क्षय

चिकित्सा

1. निदान परिवर्जन
2. प्रतिदिन 500 मि.ग्रा. सोडियम बाई कार्बोनेट दिन में चार बार देना चाहिए। यह धातुगत सीसे का घुलनशील यौगिक बनाता है। तत्पश्चात सोडियम सल्फेट अथवा मैग्निशियम सल्फेट का संतृप्त घोल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए।
3. पोटैशियम आयोडाइड का उचित मात्रा में प्रयोग करावें।
4. पेशियों की दुर्बलता में वातनाशक तैलों से अभ्यंग, स्वेदन, पत्रपिण्ड स्वेदन एवं शालिषष्टिक स्वेदन करना अत्यन्त लाभदायक होता है।
5. रोगी को शुद्ध, पौष्टिक एवं दुग्ध से निर्मित आहार द्रव्यों का सेवन कराना हितकारी है।
6. कारखानें में कार्यरत व्यक्तियों की कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिए एवं नियमित विरेचक औषधियों जैसे त्रिफला चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, तरुणी कुसुमाकर चूर्ण एवं नाराच रस इत्यादि का सेवन करते रहना उपयोगी है।

6. ताम्र विषाक्तता

(Copper Poisoning)

परिचय

ताम्र प्राचीन काल से ही अत्यन्त प्रसिद्ध धातु है तथा इसकी विषाक्तता का ज्ञान भी अत्यन्त प्राचीन है। आचार्य चरक का एक कथन है कि ताम्र का क्वाथ पीकर मर जाना अच्छा है परंतु मूर्ख वैद्य से चिकित्सा कराना ठीक नहीं है[1]। ताम्र वर्ण में रक्ताभ एवं चमकीली धातु होती है।

पर्याय

शुल्ब, रक्त, म्लेच्छ, वक्त्र, नेपालीय, त्र्यम्बक, सूर्य लोह, भानुलोह, उदुम्बर, अरविन्द, इत्यादि।

ताम्र के प्रमुख यौगिक

1. कापर सल्फेट ($CuSo_4$)
   यह ताम्र का सर्वाधिक उपयोगी यौगिक है। यह 15 मि.ग्रा. से 125 मि.ग्रा. तक की मात्रा में चिकित्सा में प्रयुक्त होता है। कापर सल्फेट से दद्रु नाशक मलहर भी बनाया जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में कापर के योग मुख्यत: त्वक् विकार, नेत्र विकार एवं दंत रोगों में बहुश: प्रयुक्त होते हैं।
2. क्यूप्रिक आक्साइड (CuO)
3. क्यूप्रस आक्साइड (Cu_2O)
4. क्यूप्रिक क्लोराइड ($CuCl_2$)
5. क्यूप्रस क्लोराइड (Cu_2Cl_2)

ताम्र विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

1. मुख में धातवीय स्वाद (Metalic taste in mouth)
2. आमाशय में दाहयुक्त शूल (Burning pain in abdomen)
3. अत्यधिक तृषा (Excessive thirst)
4. नीले हरे रंग का वमन (Blue green vomitings)
5. मूत्राल्पता अथवा मूत्राघात (Oliguria or Anuria)
6. कभी-कभी रक्तमिश्रित मूत्र त्याग (Haematuria)
7. भूरे रंग का मल त्याग (Brown coloured stools)
8. त्वचा का पीत वर्ण होना (Yellow colouration of skin)
9. शीतल स्वेदन (Cold Perspiration)
10. हृदयावसाद (Cardiac Arrest)
11. पक्षाघात (Paralysis)

---

1. विषं क्वथितं ताम्रमेव वा। (च.सू. 1/132)

12. मूर्च्छा (Fainting)
13. मृत्यु (Death)

ताम्र की जीर्ण विषाक्तता के लक्षण

ताम्र के सम्पर्क में रहने एवं ताम्र के कारखाने में कार्य करने से निरंतर ताम्र के सूक्ष्म कण श्वास मार्ग से शरीर में पहुंचते रहते हैं तथा निम्न लक्षण उत्पन्न करते हैं—

1. मुख का धातवीय स्वाद (Metalic taste in mouth)
2. मसूड़ें पर हरे रंग की रेखा उत्पन्न हो सकती है (Green lining on the gums)
3. अरुचि (Anorexia)
4. शिर:शूल (Headache)
5. चक्कर (Vertigo)
6. दौर्बल्य (Weakness)
7. कभी-कभी उदर शूल एवं विरेचन (Some times pain in abdomen and purgation)
8. पाण्डुता (Pallor)
9. पक्षाघात (Paralysis)
10. त्वचा कामला रोगी के समान पीत वर्ण (Yellow coloured skin)
11. हरिताभ मूत्र त्याग (Greenish coloured Urination)

घातक मात्रा

तुत्थ की घातक मात्रा 25 ग्राम तक होती है।

घातक काल

चार घंटे से तीन दिन तक

चिकित्सा

ताम्र की विषाक्तता में निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिऐ—

1. पांच प्रतिशत पोटैशियम फेरो सायनाइड के घोल से आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash) करें। यह क्यूप्रिक फेरो सायनाइड नामक अघुलनशील यौगिक बनाता है।
2. वामक औषधि प्रयोग नहीं करनी चाहिए क्योंकि तुत्थ स्वत: वामक होता है।
3. दुग्ध एवं अंडे की सफेदी को प्रतिविष के रूप में प्रयोग करें।
4. विरेचनार्थ एरण्ड तैल, त्रिफला चूर्ण, पंचसकार चूर्ण अथवा हरीतकी चूर्ण का प्रयोग करें।
5. मूत्रल औषधियों जैसे श्वेतपर्पटी, गोक्षुर, पुर्ननवा, खीरा, पुनर्नवारिष्ट, गोक्षुरादि क्वाथ एवं चन्द्रप्रभा वटी इत्यादि का प्रयोग किया जा सकता है।
6. रोगी को शुद्ध हवा एवं खुले वातावरण में रखना आवश्यक है।

7. पौष्टिक एवं संतुलित आहार सेवन।
8. पथ्यापथ्य पालन
9. लाक्षणिक चिकित्सा
10. जीर्ण विषाक्तता में निदान परिवर्जन अत्यंत आवश्यक है।
11. ताम्र के कलईदार बर्तनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

7. यशद विषाक्तता

(Zinc Poisoning)

परिचय

यशद को खर्पर भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—

1. पत्रयुक्त-इसे दर्दुर कहते हैं।
2. कारवेल्लक-इसमें पत्र नहीं होता है।

यशद श्वेत वर्ण की स्फटकीय धातु होती है। खान में यह कैलेमाइन, जिंक कार्बोनेट, जिंक आक्साइड अथवा जिंक सल्फाइड के रूप में पाया जाता है। यह 42°C ताप पर पिघल जाता है।

यशद के प्रमुख यौगिक

1. **जिंक आक्साइड (Zinc Oxide-ZnO)**

यह श्वेताभ चूर्ण स्वरूप में पाया जाता है तथा स्वादहीन होता है एवं गर्म करने पर पीत वर्ण का हो जाता है। औषधीय रूप में यह 250 से 500 मि.ग्रा. की मात्रा में प्रयोग किया जाता है। इसकी वाष्प अत्यधिक विषाक्त होती है। इससे मलहर एवं पेस्ट भी बनाये जाते हैं।

2. **जिंक सल्फेट (White Vitriol-$ZnSO_4$)**

यह वर्ण रहित एवं पारदर्शक होता है तथा गंधहीन एवं जल में विलेय है। औषधि के रूप में 65 मि.ग्रा. से 125 मि.ग्रा. तक की मात्रा में प्रयुक्त होता है।

3. **जिंक क्लोराइड (Zinc Chloride-$ZnCl_2$)**

यह एक ठोस पदार्थ होता है। अन्य योगों में जिंक कार्बोनेट एवं जिंक नाइट्रेट इत्यादि भी यशद के यौगिक हैं।

यशद विषाक्तता के प्रमुख लक्षण

यशद विषाक्तता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. मुख में धातवीय स्वाद (Metalic taste in mouth)
2. अत्यधिक लालास्राव (Excessive salivation)

3. वमन (Vomiting)
4. उदर में तीव्र शूल (Severe pain in abdomen)
5. विरेचन (Purgation)
6. हृदयावसाद (Cardiac Failure)
7. मृत्यु (Death)

घातक मात्रा — **घातक काल**

15 ग्राम — दो घंटे से लेकर पांच दिन तक

चिकित्सा

यशद विषाक्तता में निम्नलिखित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए—

1. खाने वाले सोडे (Sodium Bicarbonate) को जल में घोलकर उससे आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash) करना चाहिए। परंतु जिंक क्लोराइड की विषाक्तता में आमाशय प्रक्षालन का निषेध है।
2. वमन हो रहा हो तो उसे न रोकें। वमन नहीं होने पर मदनफल, जीमूतक, मधुयष्ठि, वचा के फाण्ट से वमन कराना लाभदायक होता है।
3. दुग्ध, अंडे की सफेदी, उष्ण चाय या काफी, टैनिक अम्ल को प्रतिविष के रूप में प्रयोग करें।
4. अत्यधिक वेदना में वेदनाशामक औषधियों जैसे मार्फीन का सूची वेध प्रयोग करें।
5. अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करें।

अध्याय-6

दंशजनित विकार एवं उनकी चिकित्सा

परिचय

दंश जन्य विकार अनेक प्रकार के होते हैं। दंश शब्द से प्राय: सर्प अथवा बिच्छू से हुआ दंश ही समझा जाता है। परंतु अनेक प्रकार के अन्य दंश भी होते हैं जैसे-मच्छर द्वारा दंश से विषम ज्वर या मलेरिया उत्पन्न होता है। सैंड फ्लाई अथवा बालुका मक्षिका द्वारा दंश करने से कालाजार नामक घातक बीमारी उत्पन्न होती है जिसका कारण लीशमान डोनोवान बाडी (Leishman donovan Body) नामक जन्तु है जो कि बालुका मक्षिका द्वारा फैलाया जाता है। श्लीपद अथवा Filaria का रोगाणु भी एक विशेष प्रकार की मक्षिका क्यूलेक्स फटिगन्स (Culex Fatigans) नामक मच्छर के दंश से ही उत्पन्न होता है। अलर्क विष पागल कुत्ते के दंश से उत्पन्न होता है तो ग्रंथिक ज्वर अथवा प्लेग (Plague) महामारी के रूप में, पिस्सू जो स्वयं Bacillus Pastis नामक जीवाणु से ग्रस्त रहते हैं, उनके द्वारा चूहों के माध्यम से मनुष्यों में फैलता है। इस प्रकार से अनेक विकार होते हैं जो विभिन्न प्रकार के जीवों के दंश से फैलते हैं। परंतु प्रस्तुत अध्याय में कुछ अति विशिष्ट दंश विकारों का ही वर्णन किया जायेगा।

प्रमुख दंश विकार

कुछ अत्यंत प्रमुख दंश विकार निम्नलिखित हैं-

1. सर्पदंश जन्य विकार
2. वृश्चिक दंश जन्य विकार
3. अलर्क विष अथवा रैबीज
4. लूता दंश
5. कीट दंश
6. मूषक दंश
7. कृकलास (गिरगिट) दंश
8. गृहगोधिका (छिपकली) दंश
9. शतपदी दंश
10. मक्षिका दंश
11. विषाक्त जन्तु दंश
12. शंका विष

यहां उपरोक्त प्रत्येक दंश जन्य विकारों का स्वतंत्र रूप से विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

1. सर्प दंश

(Snake Bite)

परिचय

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में सर्पदंश का सविस्तार वर्णन किया गया है। विष को दो वर्गों में विभक्त किया गया है-

1. स्थावर विष 2. जाङ्गम विष

जीवधारियों के दंश से उत्पन्न विष को जंगम विष कहते हैं। जंगम विष में सर्प विष सर्वाधिक घातक तथा प्राण नाशक होता है। सर्प के दांतों में विष की उपस्थिति के कारण इसे 'दंष्ट्रा विष' भी कहते हैं। वस्तुत: सर्प के दांतों में विष नहीं रहता है। विष दांतों के पीछे बनी एक विशेष प्रकार की थैली में संग्रहीत रहता है तथा सर्प के मुख के ऊपरी भाग में स्थित दो दांतों से यह थैलियां जुड़ी रहती हैं। सर्प जब दंश करने के पश्चात दांतों को बाहर निकालता है उसी समय उन विषयुक्त थैलियों के संकुचन से विष दांतों से होते हुए दंश स्थान में पहुंच जाता है। सर्प के विषधारी दंत लंबे, वक्र एवं तीक्ष्ण होते हैं तथा सामान्य अवस्था में एक कोर द्वारा दोहरे होकर मुड़े रहते हैं। जब दंश हेतु सर्प मुख खोलता है तो विष दंत सीधे होकर बाहर निकल आते हैं तथा दांत पुन: निकालते समय दंश स्थान विष से भर जाता है।

प्रमुख सदंर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता चिकित्सा स्थान - अध्याय 23
2. सुश्रुत संहिता कल्प स्थान - अध्याय 4,5
3. अष्टांग हृदय उत्तर स्थान - अध्याय 36
4. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड - अध्याय 66, 67
5. माधव निदान - अध्याय 69

सर्पदंश के कारण

सर्पदंश के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. भोजन को पकड़ने के लिए
2. भय के कारण
3. पैरों से स्पर्श होने पर
4. अति विष के प्रकोप से
5. क्रोध उत्पन्न होने पर
6. पाप वृत्ति होने से
7. बैर से अर्थात शत्रुता के कारण
8. देवता, ऋषि अथवा यमराज की प्रेरणा से

1. आहारार्थे भयात् पादस्पर्शादतिविषात् क्रुधः।
पापवृत्तितया वैराद् देवर्षियमचोदनात्॥
दशन्ति सर्पास्तेषूक्तं विषाधिक्यं यथोत्तरम्। (अ.हृ.उ. 36/8-9)

आचार्य सुश्रुत ने भी सर्प दंश के उपरोक्त कारणों का ही उल्लेख किया है[1]।

सर्प के भेद

आयुर्वेद संहिता ग्रंथों में सर्पों के दो प्रधान भेद बताए गये हैं—

(i) दिव्य सर्प जैसे- वासुकि, तक्षक आदि[2]

(ii) भौम सर्प

पुन: भौम सर्पों के पांच प्रमुख भेद वर्णित किये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. दर्वीकर
2. मण्डली
3. राजिमान
4. निर्विष
5. वैकरञ्ज

उपरोक्त पांच प्रकार के सर्पों के पुन: भेद बताये गये हैं। इनमें से दर्वीकर के 26, मण्डली के 22, राजिमान के 10, निर्विष के 12 एवं वैकरञ्ज के 3 प्रकार होते हैं[3]।

सर्पों की पहचान अथवा लक्षण (Physical Appearance of Snakes)

1. **दर्वीकर सर्प :** दर्वीकर सर्प चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक और अंकुश का चिन्ह धारण करने वाले फण युक्त एवं शीघ्रगामी होते हैं[4]।

2. **मण्डली सर्प :** यह अनेक प्रकार के मण्डलों से चित्रित, चपटे, मंद गति वाले तथा अग्नि एवं सूर्य के समान कान्ति वाले होते हैं[5]।

3. **राजिमान सर्प :** यह चिकने, नाना वर्णों वाले तिरक्षी एवं उर्ध्वगामी रेखाओं से युक्त और चित्रित होते हैं[6]।

4. **निर्विष सर्प:** ये विष रहित होते है।

1. पादाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा।
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शना:॥ (सु.क. 4/13)
2. असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादय:। (सु.क. 4/5)
3. तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशति: षट् च पन्नगा:।
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश॥
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा।
वैकरञ्जोद्भवा: सप्त चित्रा मण्डलिराजिला:॥
(सु.क. 4/11-12)
4. रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिण:।
ज्ञेया दर्वीकरा: सर्पा: फणिन: शीघ्रगामिन:॥
(सु.क. 4/22)
5. मण्डलैर्विविधैश्चित्रा: पृथवो मन्दगामिन:।
ज्ञेया मण्डलिन: सर्पा ज्वलनार्कसम प्रभा:॥ (सु.क. 4/23)
6. स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभि:।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृता:॥ (सु.क. 4/24)

5. वैकरञ्ज सर्प: वैकरञ्ज सर्प दंश की चिकित्सा मिश्रित रूप से की जाती है।

उपरोक्त वर्णन में दर्वीकर, मण्डली एवं राजिमान सर्प ही विशेष महत्व के हैं क्योंकि इनका ही विष प्रकोप सर्वाधिक होता है।

सर्पों का विचरण काल[1]

1. दर्वीकर सर्प : दिन के समय विचरण करते हैं।
2. मंडली सर्प : रात्रि के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रहर में विचरण करते हैं।
3. राजिमान सर्प : रात्रि के अंतिम प्रहर में विचरण करते हैं।

सर्प विष की विशेषता[2]

1. दर्वीकर सर्प का विष रुक्ष गुण एवं कटु रस युक्त तथा वात प्रकोपक होता है।
2. मंडली सर्प विष उष्ण गुण एवं अम्ल रस युक्त तथा पित्त प्रकोपक होता है।
3. राजिमान सर्प का विष शीत गुण एवं मधुर रस युक्त होता है तथा कफ का प्रकोपक होता है।

सर्प की आयु एवं विष का सम्बंध[3]

1. दर्वीकर सर्प- तरुणावस्था में
2. मण्डली सर्प- वृद्धावस्था में
3. राजिमान सर्प- मध्य वय में अत्यधिक विषाक्त होते हैं।

सर्पों का वर्गीकरण

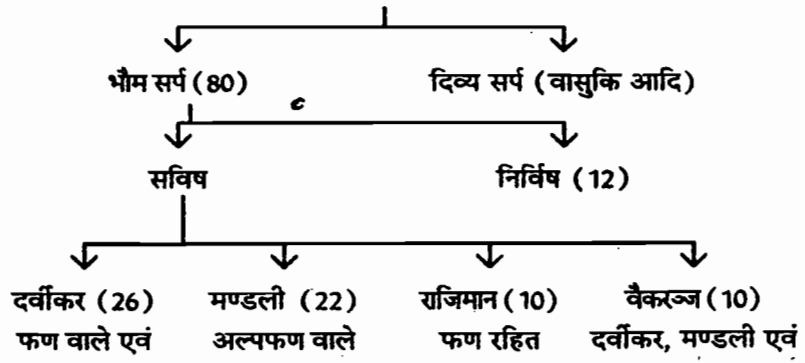

1. रजन्या: पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राक्षरन्ति हि।
   शेषेषूक्ता मंडलिनो दिवा दर्वीकरा: स्मृता: ॥ (सु.क. 4/31)
2. विशेषाद् रुक्षकटुकम्लोष्णं स्वादु शीतलम्।
   विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादिकोपनम् ॥ (च.चि. 23/126)
3. दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा।
   राजिमन्तो वयोमध्या जायन्ते मृत्युहेतव: ॥ (सु.क. 4/32)

शीघ्र गामी	एवं मंद गामी	चित्रित	राजिमान की संकर संतान
↓	↓	↓	↓
वात प्रकोपक	पित्त प्रकोपक	कफ प्रकोपक	द्विदोष प्रकोपक
↓	↓	↓	↓
दिवाचारी	रात्रि के प्रथम, द्वितीय तृतीय प्रहर में विचरण	रात्रि के अंतिम प्रहर में विचरण	विविध प्रभाव
↓	↓	↓	
तरुणावस्था में घातक	वृद्धावस्था में घातक	मध्यम आयु में घातक	

सर्पदंश के प्रकार

आचार्य सुश्रुत ने सर्पदंश के निम्न तीन भेद वर्णित किये हैं[1]—

1. सर्पित 2. रदित 3. निर्विष

कुछ विद्वान सर्पाङ्गाभिहत को चतुर्थ प्रकार का दंश मानते हैं। उपरोक्त प्रकारों में सर्पित प्रकार का दंश अत्यधिक गहराई वाला तथा सर्वाधिक घातक होता है। रदित प्रकार के दंश में त्वचा पर केवल नीली, पीली अथवा श्वेत रेखायें बनती हैं तथा यह कम घातक होता है।

सर्प दंश के सामान्य लक्षण

सर्पदंश के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]—

1. कण्डू (Itching) 2. शोथ (Oedema) 3. वेदना (Pain)
4. जलता हुआ प्रतीत होना (Burning sensation at the site of bite)
5. ग्रंथि (गांठ) बन जाना (Glandular swelling)

यदि उपरोक्त लक्षण सर्पदंश में नहीं मिलते हों तो सर्प को निर्विष समझना चाहिऐ।

आचार्य सुश्रुत ने सर्प विष को तीक्ष्ण तलवार की भांति, बिजली, अग्नि के तुल्य तथा शीघ्र ही व्यापक स्वरूप में प्रकट होने वाला बताया है।

1. दर्वीकर सर्प विष के लक्षण

दर्वीकर सर्प द्वारा दंश किये जाने पर निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[3]—

1. सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम्।
   सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विद: ॥ (सु.क. 4/14)
2. तुद्यते सविषो दंश: कण्डुशोफ रुजान्वित:।
   दह्यते ग्रथित: किञ्चिद्विपरीतस्तु निर्विष: ॥ (अ.ह.उ. 36/18)
3. तत्र दर्वीकरविशेष त्वङनयन नखदशनवदन मूत्र-
   ..... स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति। (सु.क. 4/37)

(i) त्वचा, नख, नेत्र, दंत, मुख, मल, मूत्र एवं दंश स्थान में कृष्ण वर्णता (Black colouration of skin, nails, eyes, teeth, mouth, stool, urine and place of bite)
(ii) रुक्षता (Roughness)
(iii) शिर में भारीपन (Heaviness in head)
(iv) संधियों में वेदना (Joints pain)
(v) कटि, पृष्ठ, ग्रीवा में दुर्बलता (Weakness in waist, back and neck)
(vi) तन्द्रा (Drowsiness)
(vii) कम्पन (Tremors)
(viii) स्वर भ्रंश (Hoarseness of voice)
(ix) शुष्क उद्‌गार (Dry erructations)
(x) कास, श्वास, हिक्का (Cough, Dyspnoea, Hiccough)
(xi) वायु का उदर प्रदेश में उपर की ओर उठना (Belching)
(xii) तीव्र उदर शूल (Acute abdomen)
(xiii) ऐंठन (Cramps)
(xiv) तृष्णा (Excessive Thirst)
(xv) अति लालास्राव (Excessive salivation)
(xvi) मुख से फेन आना (Froath from mouth)
(xvii) वात जन्य अनेक प्रकार की वेदनायें (Various types of Neurological pains)
(xviii) स्रोतस का बंद हो जाना (Obstructions of microcirculatory channels)

2. मण्डली सर्प विष के लक्षण

मंडली प्रकार के सर्प दंश से शरीर में निम्न लक्षण प्रकट होते हैं[1]—

(i) त्वचा, नख, मल, मूत्र आदि का वर्ण पीत हो जाना (Yellow colouration of skin, nails, stool and urine)
(ii) शीत पदार्थों की इच्छा करना (Desire for cold things)
(iii) सर्वांग में संताप (Increased body temperature)
(iv) दाह (Burning all over body)

1. मण्डलिविशेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाष:
..... पीतरुपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति,
(सु.क. 4/37)

(v) तृष्णा (Excessive Thirst)
(vi) मद (Confusion)
(vii) मूर्च्छा (Fainting)
(viii) ज्वर (Fever)
(ix) रक्त की उर्ध्व एवं अधो मार्ग से प्रवृत्ति (Bleeding from mouth, nose, eyes, anus and urethra etc.)
(x) मांस का विदीर्ण होना (Ulceration of muscles)
(xi) शोथ (Oedema)
(xii) दंश स्थान का सड़ना (Putrification at the place of bite)
(xiii) पीले रूपों को देखना (To see all the subjects yellowish)
(xiv) विष का शीघ्र कुपित होना (Early spreed of poison)
(xv) पित्त जन्य अनेक प्रकार की वेदनाऐं (Disorders of Pitta Dosha)

3. राजिमान सर्प विष के लक्षण

राजिमान सर्प के दंश से रोगी में निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं[1]—

(i) त्वचा, नख आदि श्वेत वर्ण के हो जाते हैं (Whitish colour of skin, nails etc.)
(ii) शीत के साथ ज्वर (Fever with rigors)
(iii) रोमहर्ष (Horripilation)
(iv) अंगों में स्तब्धता (Stiffness in body parts)
(v) दंश स्थान के चारों ओर शोथ (Oedema around the site of bite)
(vi) गाढ़े कफ का मुख से स्राव (Secretion of mucoid sputum from mouth)
(vii) बार-बार वमन होना (Frequent vomiting)
(viii) नेत्र कण्डू (Itching in eyes)
(ix) गले में शोथ (Swelling in throat)
(x) गले में घरघराहट होना (Gargling sound in throat)
(xi) श्वासावरोध (Breathlessness)
(xii) नेत्रों के सामने अंधेरा छा जाना (Black out)
(xiii) विविध प्रकार की कफ जन्य वेदनायें (Different types of Kaphaja pains)

1. राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो
...../ ..... प्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥ (सु.क. 4/37)

सर्पदंश के लिङ्ग भेद एवं अन्य अवस्थाओं के लक्षण

विभिन्न प्रकार के स्त्री, पुरुष, गर्भिणी, बालक इत्यादि प्रकार के सर्पदंश से उत्पन्न लक्षण निम्न प्रकार प्रकट होते हैं[1]—

1. पुरुष सर्प से दंश में व्यक्ति ऊपर की ओर देखता है।
2. स्त्री सर्प दंशित व्यक्ति नीचे की ओर देखता है एवं उसके माथे पर शिराऐं उभर आती हैं।
3. नपुंसक सर्प से दंश में रोगी तिरक्षा देखता है।
4. गर्भवती सर्पिणी के दंश में मनुष्य के मुख का वर्ण पाण्डुवर्ण एवं शोथ युक्त होता है।
5. प्रसूता सर्पिणी से दंश में तीव्र उदर शूल एवं रक्तमिश्रित मूत्र प्रवृत्ति तथा उपजिह्विका रोग हो जाता है।
6. भूखे सर्प दंश में मनुष्य को अन्न की इच्छा होती है।
7. वृद्ध सर्प दंश में विष धीरे-धीरे तथा मंद वेग वाला होता है।
8. बालक सर्प से दंश में विष तेजी से चढ़ता है परंतु मंद वेग वाला होता है।
9. निर्विष सर्प दंश से कोई विकार नहीं होता है।
10. अंधे सर्प के दंश से मनुष्य अंधा हो जाता है।

सर्प विष के विविध वेगानुसार लक्षण[2]

वेग		दर्वीकर सर्प (वात प्रकोपक)	मण्डली सर्प (पित्त प्रकोपक)	राजिमान सर्प (कफ प्रकोपक)
प्रथम वेग	1.	रक्त विकार	शोणित विकृति	रक्त विकार
	2.	कृष्ण वर्णता एवं शरीर पर चींटी रेगने का आभास	शरीर में पीलापन एवं शीत ज्वर	पाण्डुवर्णता रोम हर्ष
द्वितीय वेग	1.	विष का मांस में प्रवेश	विष का मांस में प्रवेश	मांस शैथिल्य
	2.	अति कृष्णता	अतिशय पीलापन	शिर में शोथ
	3.	शोथ एवं गांठो का निकलना	दाह एवं दंश स्थान में शोथ	जड़ता होना

1. पुरुषाभिदष्ट उर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया, ...:..... अंधाहिकेनान्धत्वमित्येके, (सु.क. 4/38)
2. तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति। तत्र दर्वी - ..... षष्ठसप्तम्योः पूर्ववदिति॥ (सु.क. 4/39)

तृतीय वेग	1.	मेदो दुष्टि	विष का मेद में प्रवेश	मेदो दुष्टि
	2.	दंश स्थान से स्राव	दंश स्थान से स्राव	दंश स्थान से स्राव
	3.	शिरोगौरव	तृष्णा	तन्द्रा
	4.	स्वेदागमन	स्वेदागमन	नासा, नेत्र से स्राव
	5.	आंखों का झपकना	आंखों का झपकना	स्वेदागमन
चतुर्थ वेग	1.	विष का कोष्ठ में प्रवेश	कोष्ठ में विष का प्रवेश	विष का कोष्ठ में प्रवेश
	2.	कफ दोषों की दुष्टि	ज्वर की अति तीव्रता	शिर में भारीपन
	3.	आलस्य		मन्यास्तम्भ
	4.	संधि विश्लेष		
पंचम वेग	1.	विष का अस्थि में प्रवेश	शरीर में ज्वाला के समान प्रतीती होना	बोलने में असमर्थता
	2.	अग्निदुष्टि		शीत ज्वर की उत्पत्ति
	3.	हिक्का, दाह, पर्वभेद		
षष्ठम वेग	1.	विष का मज्जा में प्रवेश	दर्वीकर के समान लक्षण	दर्वीकर के समान लक्षण
	2.	ग्रहणी की दुष्टि		
	3.	मूर्च्छा, गौरव, अतिसार, हृच्छूल		

वेग		दर्वीकर सर्प (वात प्रकोपक)	मण्डली सर्प (पित्त प्रकोपक)	राजिमान सर्प (कफ प्रकोपक)
सप्तम वेग	1.	विष का शुक्रधातु में प्रवेश	दर्वीकर के समान लक्षण	दर्वीकर के समान
	2.	व्यान वायु का प्रकोप		
	3.	सूक्ष्म शिराओं से कफ का स्राव		
	4.	कटि एवं पृष्ठ भंग		
	5.	अति लाला स्राव		
	6.	स्वेद की अति प्रवृत्ति		
	7.	श्वासावरोध होना		

सर्प दंश की साध्यासाध्यता

आचार्य माधवकर ने निम्नलिखित अवस्थाओं में सर्पदंश को असाध्य कहा है[1]—

1. **अजीर्ण, पित्त एवं धूप से पीड़ित व्यक्तियों में।**
2. **बालक, वृद्ध एवं भूखे व्यक्तियों में।**
3. **क्षतक्षीण, प्रमेह एवं कुष्ठ पीड़ित व्यक्ति में।**
4. **रुक्ष शरीर वाले एवं निर्बल व्यक्ति में।**
5. **गर्भवती स्त्रियों में सर्पदंश असाध्य होता है।**
6. **शस्त्र से क्षत होने पर भी यदि रक्त नहीं निकलता हो।**
7. **लता या रस्सी से बांधने पर भी शरीर पर रेखाऐं नहीं उभरती हों।**
8. **ठंडे जल से सिंचन करने पर भी रोम हर्ष नहीं होना।**
9. **जिसका मुख टेढ़ा हो गया हो।**
10. **जिसके केश गिरने लगे हों।**
11. **नासा भंग एवं स्वरभंग हो गया हो।**
12. **दंश स्थान पर रक्तिमायुक्त कृष्ण वर्ण का शोथ हो।**
13. **हनुस्तम्भ हो गया हो।**
14. **मुख से मोटी बत्ती के समान लालास्राव होता हो।**
15. **उर्ध्व एवं अधो मार्ग से रक्त स्राव।**
16. **दंश स्थान पर चारों दंष्ट्राओं के निशान हों।**
17. **रोगी अत्यन्त उन्मत्त हो।**
18. **अत्यधिक उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर।**
19. **स्वर हीनता एवं वाणी में विकृति उत्पन्न हो गयी हो।**
20. **सभी अरिष्ट लक्षण व्यक्त हो जाने पर।**
21. **मलमूत्र प्रवृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार के गमन में रोगी असमर्थ हो गया हो, वह सर्पदंश युक्त व्यक्ति असाध्य होता है अर्थात् उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।**

सर्पदंश चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य चरक ने सर्पदंश हेतु 24 प्रकार से आवश्यकता अनुसार चिकित्सा करने का निर्देश किया है जो निम्न प्रकार से हैं[2]—

1. अजीर्णपित्तातपपीडितेषु.....।
   ..... च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात्॥ (मा.नि. 69/20-24)
2. मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः।
   अवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि॥
   हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनानि.

1. **मन्त्र :** देवता, बह्मर्षियों द्वारा कहे गये सत्य एवं तपोमय मंत्र सर्प चिकित्सा में लाभदायक हो सकते है परंतु यह कार्य सिद्ध पुरुषों द्वारा ही होना चाहिए।

2. **अरिष्टा बंधन :** हस्त, पैर प्रभृति शाखाओं में दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर रस्सी से कसकर बांध देना चाहिए जिससे विष का संचार ऊपर नहीं हो पाता है।

3. **उत्कर्तन :** दंश स्थान को तेज चाकू अथवा ब्लेड से काट देना चाहिए जिससे विषयुक्त कुछ रक्त बाहर निकल जाये।

4. **निष्पीड़न :** दंश स्थान काटने के पश्चात दबाकर रक्त निकालने कि प्रक्रिया निष्पीड़न है।

5. **चूषण :** दंश स्थान पर श्रृंग लगाकर वहां के सविष रक्त को चूसकर निकालना चाहिऐ। परंतु विष युक्त रक्त मुख में नहीं जाना चाहिऐ।

6. **अग्नि से दहन :** दंश स्थल को काटने के पश्चात अग्नि से दहन करना चाहिये। वर्तमान में पोटैशियम परमैंगनेट या सिल्वर नाइट्रेट से दहन करते हैं। मण्डलि सप दंश में दहन का निषेध है क्योंकि यह पित्तप्रधान होता है। दाह त्वचा एवं मांसगत विष की अवस्था में करना चाहिऐ।

7. **परिसेचन :** दंश स्थान पर विषघ्न तैलों को धारा के रूप में सिंचन करना परिसेचन है।

8. **अवगाहन :** रोगी के शरीर से विष को नष्ट करने हेतु विषघ्न औषधि द्रव्यों से निर्मित क्वाथ, तैल, उष्णोदक इत्यादि को टब में भरकर उसमें रोगी को लिटाना चाहिए।

9. **रक्त मोक्षण :** सर्प के दोषानुसार, श्रृंग, जलौका, अलाबू इत्यादि से रक्तमोक्षण करके रक्त से विष निकालना चाहिए।

10. **वमन :** सर्पदंश के कोष्ठ गत लक्षण उत्पन्न होने पर रोगी को वामक द्रव्यों का पान कराकर वमन कराना चाहिए।

11. **विरेचन :** यदि विष अधो आमाशय अथवा वृहदान्त्र तक पहुंच गये हों तो ऐसे रोगी को तत्काल विरेचन कराना चाहिए

12. **उपधान :** उपधान का तात्पर्य है सिर के ऊपर त्वचा को काटकर औषधि का प्रयोग करना। यह विधि आधुनिक सूची वेध चिकित्सा से साम्यता रखती है। इस चिकित्सा का तात्पर्य है शीघ्रातिशीघ्र रोगी के रक्त में विषघ्न औषधि का प्रवेश कराना जिससे सर्प विष को नष्ट किया जा सके।

13. **हृदयावरण (हृद्य औषधि प्रयोग) :** हृदय को प्रधान मर्म स्थान माना गया

प्रतिसारण प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः॥
मृतसंजीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः।
स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र च योज्याः शृणु तथा तान्। (च.चि. 23/35-37)

है अत: सर्पदंश की अवस्था में हृद्य औषधियों का प्रयोग, हृदय की रक्षा के निमित्त अवश्य करना चाहिऐ।

14. अंजन : यदि केवल विष के प्रभाव से नेत्र से दिखाई न पड़ता हो तो देवदारु, त्रिकटु, हरिद्रा इत्यादि को अजा मूत्र से पीसकर अंजन लगाना चाहिऐ।

15. नस्य : यदि विष के प्रभाव से नासा, नेत्र, कर्ण, जिह्वा एवं कण्ठ का अवरोध हो रहा हो तो बृहती, बिजौरा नींबू, ज्योतिष्मती तैल इत्यादि का नस्य देना चाहिऐ।

16. धूम : मोर की पंख, बगुले की अस्थियां, पीली सर्षप, चंदन के चूर्ण में घृत मिलाकर धूप करने से गृह, शयन, आसन, वस्त्र आदि का विष नष्ट हो जाता है।

17. अवलेह : विभिन्न प्रकार की विषनाशक औषधि द्रव्यों को अवलेह के रूप में निर्मित कर रोगी को सेवन कराना चाहिए।

18. औषधि प्रयोग : अनेक प्रकार की विषहर औषधि द्रव्यों का वाह्य एवं आभ्यान्तर स्वरूप में प्रयोग करना।

19. प्रशमन : प्रशमन का तात्पर्य विष के उपशमन से है अर्थात विभिन्न प्रकार के शामक उपायों द्वारा शारीरिक विष को नष्ट करना।

20. प्रतिसारण : प्रतिसारण का अर्थ है छिड़काव करना। विष के स्थानीय प्रभाव को नष्ट करने के लिए देवदारु, हरिद्रा, शिरीष इत्यादि अथवा विशेष प्रकार के अगद का स्थानीय प्रतिसारण करना चाहिए।

21. प्रतिविष का प्रयोग : प्रतिविष का तात्पर्य है शरीर में पहुंचे हुए विष को तत्काल नष्ट करने वाली औषधि। वर्तमान काल में अधिकांश विषों के प्रतिविष तैयार किये जा चुके हैं जिनका विष चिकित्सा में सरलता से प्रयोग किया जाता है।

22. संज्ञास्थापन : विष ग्रस्त रोगी यदि मूर्च्छित हो गया हो तो उसे पुन: होश में लाने हेतु संज्ञास्थापक औषधियों जैसे जटामांसी इत्यादि का प्रयोग नस्य, धूम आदि के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

23. लेप : लेप का स्थानीय प्रयोग किया जाता है।

24. मृत संजीवन का प्रयोग : चरक संहिता में वर्णित यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अगद है। यह सभी प्रकार के विष विकारों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है। मृत संजीवन अगद को अमृत के समान लाभकारी बताया गया है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित 24 प्रकार की चिकित्सा सर्पदंश ही नहीं अपितु सभी प्रकार के विषों की चिकित्सा में अतीव लाभकारी हैं और इसका युक्ति पूर्वक प्रयोग करना चाहिऐ।

सर्पदंश चिकित्सा

सर्पदंश चिकित्सा को निम्न दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं-

I. आत्यायिक चिकित्सा[1]

1. सर्प के दंश करते ही सम्भव हो तो उसी सर्प को काट लेना चाहिए अथवा मिट्टी के ढेले या पृथ्वी को दांतों से काटकर कान की मैल या थूक से दंश स्थान पर लेप करें।
2. दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर रस्सी इत्यादि से अरिष्टाबंधन करना चाहिए।
3. मर्म एवं सन्धि स्थान छोड़कर अन्य स्थान पर चीरे लगाकर दबा-दबा कर रक्त को निकाल दें।
4. मण्डली सर्पदंश के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सर्प दंश में दंश स्थान का अग्निकर्म करें। मंडली में पित्त की प्रधानता होती है अत: अग्नि कर्म का निषेध है।
5. विष को आचूषण करके निकालना चाहिए उसके लिए रबर ट्यूब, श्रृंग आदि या मुख में घृत लगाकर रूई रखकर आचूषण करना चाहिए। मुख में घाव या व्रण होने पर आचूषण नहीं करें।
6. विष के सर्वशरीर में फैल जाने पर रक्तमोक्षण करना चाहिऐं।
7. रक्तमोक्षण के बाद शरीर में बचे शेष विष की शांति के लिए बार-बार शीतल लेप और सेक करें।
8. हृदय की रक्षा करने के लिए घृतपान अथवा घृत एवं मधु या घृत से द्रवीभूत अगद का पान कराऐं।
9. हृदय में भारीपन, उत्क्लेश एवं ह्रास होने पर रोगी को कांजी, कुलत्थ, तैल, मद्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से वमन कराऐं।

उपरोक्त वर्णित सभी चिकित्सा सर्पदंश की तात्कालिक या आकस्मिक चिकित्सा (Emergency treatment) है। सर्पदंश सद्य: मृत्युकारक होता है अत: आकस्मिक चिकित्सा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

II. सर्पदंश की विशेष चिकित्सा

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में आचार्यों ने दर्वीकर आदि सर्पदंश की अलग-अलग चिकित्सा का भी वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

1. दर्वीकर सर्पविष की चिकित्सा

(i) सिन्दुवार की मूल, वचा एवं अपराजिता को जल में पीसकर पिलावे[2]।

(ii) कुष्ठ का मधु के साथ नस्य देवें[2]।

---

1. लोष्टं महीं वा दशनैश्छित्वा चानु.....।
   ..... सम्यगालोच्य विशिष्टां चाचरेत्क्रियाम्॥ (अ.हृ.उ. 36/41-56)
2. सिन्दुवारितमूलानि श्वेता च गिरिकर्णिका।
   पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं मधु सपाकलम्॥ (अ.हृ.उ. 36/57)

दंश स्थान पर चारटी एवं नाकुली (सर्पगंधा) का लेप करें[1]।

(iv) वत्सनाभ को पीसकर दंश स्थान पर लेप करें[1]।

(v) रोगी को मधु, मंजिष्ठा एवं गृहधूम में घृत मिलाकर पान करावें[1]।

2. मण्डली सर्पविष की चिकित्सा

(i) सुगंधा, मृद्विका, गजकर्णिका समभाग को तुलसीपत्र, कैंथ, बिल्व एवं अनारदाना आधा भाग लेकर चूर्ण कर मधु से चटाऐं[2]। इसे नाकुल्यादि अगद कहते हैं।

(ii) हिमवान अगद (पञ्चवल्कल, त्रिफला, मधुयष्ठि, नागकेशर) के चूर्ण को मधु के साथ दें[3]।

(iii) गम्भारी, वटशुङ्ग, जीवक, ऋषभक, मिश्रि, मजिष्ठा और मधुयष्ठि के क्वाथ का पान कराऐं[4]।

3. राजिमान सर्पविष की चिकित्सा

(i) बांस की छाल एवं बीज, कुटकी, पाटली बीज, शुण्ठी, शिरीष के बीज, अतिविषा, गवेधुक का मूल गोमूत्र में पीसकर पिलाऐं[5]।

(ii) कुटकी, अतिविषा, कुष्ठ, गृहधूम, हरेणु, त्रिकटु, तगर, को मधु के साथ पिलाऐं[6]।

(iii) मेघनाद अगद (चौलाई, गम्भारी, अपामार्ग, अपराजिता, बिजौरा नींबू, शर्करा, श्लेष्मातक) का पान, नस्य एवं अंजन अत्यन्त हितकारी हैं[7]।

---

1. कृष्णसर्पेण दष्टस्य लिम्पेद् दंशं हतेऽसृजि।
   चारटीनाकुलीभ्याम वा तीक्ष्णमूलविषेण वा॥
   पानं च क्षौद्रमञ्जिष्टागृहधूमयुतं घृतम्। (अ.हृ.उ. 36/58-59)
2. सप्ता: सुगन्थामृद्वीकाश्वेताख्यागजदन्तिका:।
   अर्धांशं सौरसं पत्रं कपित्थं बिल्वदाडिमम्॥
   सक्षौद्रो मण्डलिविषे विशेषादगदो हित:। (अ.हृ.उ. 36/61-62)
3. पञ्चवल्कवरायष्टीनागपुष्पैलबालुकम्।
   जीवकर्षभकौ शीतं सिता पद्मकमुत्पलम्॥
   सक्षौद्रो हिमवान्नाम हन्ति मण्डलिनां विषम्॥ (अ.हृ.उ. 36/63-64)
4. काश्मर्यं वटशुङ्गानि जीवकर्षभकौ सिता।
   मञ्जिष्ठा मधुकं चेति दष्टो मण्डलिना पिबेत्॥ (अ.हृ.उ. 36/65)
5. वंशत्वगबीजकटुकापाटलीबीजनागरम्।
   शिरीषबीजातिविषे मूलं गावेधुकं वचा॥
   पिष्टो गोवारिणाऽष्टाङ्गो हन्ति गोनसजं विषम्॥ (अ.हृ.उ. 36/66)
6. कटुकातिविषाकुष्ठगृहधूमहरेणुका:।
   सक्षौद्रव्योषतगरा घ्नन्ति राजीमतां विषं॥ (अ.हृ.उ. 36/67)
7. तण्डुलीयककाश्मर्यकिणिहीगिरिकर्णिका:।
   मातुलुङ्गी सिता शेलु: पाननस्याञ्जनैर्हित:॥
   अगदै: फणिनां घोरे विषे राजीमतामपि। (अ.हृ.उ. 36/60)

सर्पदंश की वेगानुसार चिकित्सा

वेग संख्या		दर्वीकर सर्प[1]	मण्डली सर्प[2]	राजिमान सर्प[3]
प्रथम वेग	1.	रक्तमोक्षण कराऐं	रक्त मोक्षण	तुम्बी (अलाबू) से रक्तमोक्षण
	2.	—	—	मधु एवं घृत मिश्रित अगद पान कराऐं
द्वितीय वेग	1.	मधु एवं घृत से अगद का पान कराऐं	मधु एवं घृत से अगद पान	वमन कराने के बाद विषनाशक अगद पान
	2.	—	विषघ्न यवागू पान	—
तृतीय वेग	1.	विषनाशक नस्य	तीक्ष्ण विरेचन	दर्वीकर समान चिकित्सा
	2.	अञ्जन का प्रयोग	विषघ्न यवागू पान	—
चतुर्थ वेग	1.	वमन कराकर विष-नाशक यवागू पान	दर्वीकर समान चिकित्सा	दर्वीकर समान चिकित्सा
पंचम वेग	1.	शीतल उपचार	दर्वीकर समान चिकित्सा	दर्वीकर समान चिकित्सा
	2.	तीक्ष्ण विरेचन तत्पश्चात विषघ्न यवागूपान		
षष्ठम वेग	1.	पंचम वेग के समान चिकित्सा	काकोल्यादि गण की औषधियों का पान या अगद पान	तीक्ष्ण अंजन
सप्तम वेग	1.	तीक्ष्ण अवपीड़ नस्य	विषनाशक अगद का पान कराऐं।	अवपीड़ नस्य का प्रयोग करें।
	2.	तीक्ष्ण अंजन	अवपीड. नस्य देना चाहिए	
	3.	तीक्ष्ण शस्त्र से सिर पर काकपद (+) निशान बनाकर उस पर रक्तमिश्रित मांस या ताजा चर्म रखना चाहिऐ		

---

1. फणिनां विषवेगे तु प्रथमे..... ।
   ..... काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्॥ (सु.क. 5/20-23)
2. पूर्वे मण्डलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत।
   .....त्वगद: सप्तमें विषनाशन:॥ (सु.क. 5/24-27)
3. पूर्वे राजिमतां वेगेऽलाबुभि: शोणितं हरेत्।
   ..... तीक्ष्णतममवपीडश्च सप्तमें॥ (सु.क. 5/28-29)

सर्पविष में प्रयुक्त प्रमुख शमन योग

1. रस/भस्म

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: शीतल जल, दुग्ध या घृत
(i) भीम रुद्र रस	: पारद, गंधक, अभ्रक, कांत लौह भस्म
(ii) विषवज्रपात रस	: हरिद्रा, टंकण, जावित्रि, तुत्थ
मात्रा	: 1 ग्राम
अनुपान	: नर मूत्र
(iii) भीम रुद्र रस द्वितीय	: मन:शिला, हरताल, संखिया, हिंगुल
(iv) सूचिका भरण रस	: वत्सनाभ, पारद
(v) तुत्थ भस्म	: तुत्थ

2. वटी

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: शहद, दुग्ध
(i) कूलकादि वटी	: कालिया कड़ा की मूल, सप्तपर्ण, संखिया
मात्रा	: 125 मि.ग्रा.
अनुपान	: दुग्ध
(ii) मृत संजीवनी वटी	: विडंग, शुण्ठी, पिप्पली, भल्लातक, विष
मात्रा	: 400 मि.ग्रा.
अनुपान	: आर्द्रक स्वरस

3. चूर्ण

मात्रा	: 2-4 ग्राम
अनुपान	: शहद, दुग्ध, जल
(i) अजितागद चूर्ण	: वायविडंग, पाठा, त्रिफला
(ii) दशांङ्गागद चूर्ण	: वचा, हिगु, विडंग, सैन्धव, पाठा

4. आसव/अरिष्ट

मात्रा	: 20 मि.लि.
अनुपान	: जल
(i) शिरीषारिष्ट	: शिरीष छाल, पिप्पली, प्रियंगु, शुण्ठी, एला

5. घृत/तैल

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: दुग्ध
(i) तण्डुलीयक घृत	: गोघृत, अजा घृत, चौलाई मूल, गृहधूम

(ii) मृत्युपाशच्छेदी घृत	: गोघृत, हरीतकी, कुष्ठ, अर्क
(iii) शिखरी घृत	: गोघृत, अपामार्ग, अनार, एला

6. अञ्जन

मात्रा	: आवश्यकतानुसार
(i) गरुणाञ्जन	: पाताल गरुणी

7. एकल औषधियाँ

(i) द्रोण पुष्पी	(ii) पाताल गरुणी
(iii) श्वेत करवीर मूल	(iv) मयूर पिच्छ
(v) टंकण	(vi) जयपाल
(vii) रीठा	(viii) उशीर
(ix) गोघृत	(x) अर्कपूल
(xi) चौलाई	(xii) निम्ब
(xiii) मोरनी का अंडा	(xiv) तुत्थ
(xv) जहरमोहरा	(xvi) अपामार्ग
(xvii) पिप्पली	(vviii) श्वेत पुनर्नवा
(xix) बाकुची	(xx) निर्गुण्डी
(xxi) वरुण इत्यादि।	

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. तत्काल अरिष्टाबंधन, रक्तमोक्षण, अग्निकर्म, परिषेक, अवगाह इत्यादि।
2. पाताल गरुणी मूल : 6 ग्राम
   काली मिर्च : 3 दाना
   पीसकर 20 मि.ली. जल से 1 × 8 मात्रा
3. संजीवनी वटी : 500 मि.ग्रा.
   शुद्ध टंकण : 250 मि. ग्रा.
   तुत्थ भस्म : 60 मि.ग्रा.
   घृत से 1 × 4 मात्रा
4. शिरीषारिष्ट : 20 मि.लि.
   समभाग जल से 1 × 3 मात्रा
5. तण्डुलीयक घृत : 10 मि.लि.
   दुग्ध से 1 × 3 मात्रा
6. हर्षण, आश्वासन एवं सत्वावजय चिकित्सा
7. पथ्यापथ्य पालन

सर्प विष से मुक्ति के लक्षण

किसी भी प्रकार के विष से मुक्ति के लक्षण शास्त्रों में निम्नलिखित बतलाऐ गये हैं[1]—

1. प्रकुपित दोष की शांति।
2. धातुऐं प्रकृतिस्थ हो गयी हों।
3. रोगी अन्न सेवन की इच्छा रखता हो।
4. रोगी में मल मूत्र की प्रवृत्ति उचित रूप से हो रही हो।
5. वर्ण, इन्द्रिय, मन एवं शरीर चेष्टाऐं सामान्य हो गयी हों।

सर्प दंश से बचाव के उपाय

दिन में छाता एवं रात्रि में झर्झर (फटा हुआ डंडा) लेकर चलना चाहिऐ। दिन में छाता की छाया एवं रात्रि में झर्झर की आवाज सुनकर सर्प भाग जाते हैं[2]।

Latest Developments
Snake Bite
(Common Poisonous Snakes)

1. **Elapids :** Indian cobra, Cobra, Comman Karait.
2. **Vipers :** Russel's Viper and Saw Scaled Vipers

Venoms

Most venoms are complex mixture of many different toxins.

1. Proteinases act as cytotoxins causing local swelling and damage at the site of bite.
2. Neurotoxins : Interferes with neuromuscular transmissions. Some phospholipase A2 toxins also damage myocytes directly.
3. Some venoms contain haemorrhagins which cause bleeding.
4. Coagulopathies may be caused by action of venom components.

Sings and Symptoms

It depends on the type of snake venom.

1. Elapids

(i) Local effects

Bites of Karaits produce little pain and neglegible local changes. But Cobras cause immediate pain and rapid swelling with enlargement

1. प्रशांतदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकांमं सममूत्रविट्कम्।
   प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेद्विषं मनुष्यम्॥ (मा.नि. 69/65)
2. छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ विशेषतः।
   तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्ति भुजङ्गमाः॥ (अ.ह.उ. 36/93)

of reginal lymph nodes. Local blistering occur within a few hours and necrosis develops within a few days.

(ii) Vomiting

Vomiting may begin within 30 minutes and it is an early evidence of systemic poisoning.

(iii) Neurotoxicity

Preparalytic Symptoms

* Blurred vision
* Parasthesia around mouth and gums
* Hypersalivation
* Congestion of conjunctiva
* Drowsiness

Sings

* Ptosis, Paralysis of upward gaze, total external ophthalmoplegia, inability to open mouth, speak and swallow.
* Respiratory paralysis.

2. Vipers

(i) Local effects

a) Pain, local swelling and bruising within 1-2 hours.
b) Tender enlargement of regional lymph nodes.
c) It may spread to whole limbs and adjacent trunk over next 2 to 3 days.

(ii) Haemostatic Abnormality

a) Spontaneous bleeding from gums, nose, GIT, skin etc.
b) Intracranial, retroperitoneal and G.I. Haemorrhage may prove to be fatal.
c) Defibrination causing incoagulable blood, may be found within one hour of the bite.

(iii) Shock

a) Shock and Hypotension due to hypovolamia.
b) Conjunctival, facial, pulmonary oedema.
c) Angio oedema, abdominal colic, diarrhoea.
d) Cardiac arrhythmias.

(iv) Acute renal failure

Very common after bite of Russell Vipers.

(v) Destruction of skeletal muscles

It leads to painful myopathy and paralysis.

(vi) Neurological Effetcs

Some vipers produce neurotoxic symptoms with myoglobinuria

Management : Principles

1. Local Management

(i) Measures to prevent absorption of poison-

(a) Application of pressure bandage two inch proximal to site of bite.

(b) Incisions and sucktions of blood. It can remove 50% of the poison.

(ii) If patient comes to late, the swelling and inflammation should be treated and give antibiotics.

(iii) Surgical debridment and skin grafting at a later stage in case of extensive necrosis

2. Antivenom

(i) Sensitivity should be tested by giving in intradernal test dose.

(ii) 20ml of serum is given intravenous as first dose slowly over 20 minutes.

(iii) Second dose can be repeated after 2 hours if symptoms persists.

Indications for Antivenom

Hypotension, shock, CVS toxicity, ptosis, systemic bleeding, dark urine, tender stiff muscles. acidosis, elevated serum enzymes.

3. General treatment

(i) Tetanus toxoid 1ml. intramuscular.

(ii) Antihistaminics

(iii) Analgesics for pain

(iv) Corticosteroids- I.V. Hydrocortisone 100mg 6 hourly in case of severe shock

4. Management of complications

(i) Manage respiratory paralysis- Oxygen therapy

(ii) Acute renal failure - I.V. fluids, Mannitol.

(iii) Shock : Plasma volume expanders, Blood Transfusion.

(iv) Symptomatic management.

2. वृश्चिक दंश

(Scorpion Sting)

परिचय

वृश्चिक एक अत्यन्त विषैला कीट होता है। यह ईंट, पत्थर, कूड़े के ढेर, उपलों के ढेर, चूहों इत्यादि के बिलों में पाया जाता है। सामान्य भाषा में इसे बिच्छू भी कहते हैं। वृश्चिक प्राय: रात्रि में ही अपने स्थान से शिकार की तलाश में निकलते हैं तथा पैरों से दबने, या स्पर्श होने पर डंक मारते हैं। वृश्चिक प्राय: काले भूरे रंग के, दो तीन इंच तक लंबे होते हैं। इसके शरीर में लगभग पांच खंड होते हैं तथा एक पुच्छ होती है। पुच्छ के अंन्तिम भाग में तुण्ड होता है। इसी से वृश्चिक डंक मारते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	-	अध्याय 23
2.	सुश्रुत संहिता कल्प स्थान	-	अध्याय 8
3.	अष्टांग हृदय उत्तर तंत्र	-	अध्याय 37
4.	माधव निदान	-	अध्याय 69

वृश्चिक की उत्पत्ति, भेद एवं संख्या[1, 2]

आचार्य सुश्रुत ने लक्षणों के आधार पर वृश्चिक के तीन भेद माने हैं एवं कुल 30 प्रकार के वृश्चिक बतायें हैं—

1. मंद विष वाले वृश्चिक - 12 प्रकार
2. मध्य विष वाले वृश्चिक - 03 प्रकार
3. तीव्र, उग्र या महाविष वाले वृश्चिक - 15 प्रकार

वृश्चिक की उत्पत्ति[3]

1. गाय, भैंस के गोबर के सड़ने से मंद विष वाले वृश्चिक की उत्पत्ति होती है।
2. काष्ठ के सड़ने एवं ईंटों से मध्यम विष वाले वृश्चिक की उत्पत्ति होती है।
3. मृत सर्प, उसके सड़े अण्डों एवं विष से मृत प्राणियों के सड़ने से तीव्र विष वाले वृश्चिक की उत्पत्ति होती है।

वस्तुत: संहिताओं में वर्णित वृश्चिक उत्पत्ति के वर्णन से भ्रम उत्पन्न होता है एवं आधुनिक मत से यह पूर्णत: असत्य प्रतीत होता है। अत: वृश्चिक उत्पत्ति से हमें यह

---

1. त्रिविधा वृश्चिका: प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषा: ॥ (सु.क. 8/56)
2. मन्दा द्वादस मध्यास्तु त्रय: पञ्चदशोत्तमा:।
   दंश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिता: ॥ (सु.क. 8/58)
3. गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्या: काष्ठेष्टिकोद्भवा:।
   सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसम्भवा: ॥ (सु.क. 8/57)

समझना चाहिए कि संहिताओं में वर्णित वृश्चिक उत्पत्ति के स्थलों पर तत्-तत् विष की तीव्रता वाले वृश्चिक बहुतायत से पाये जाते हैं।

वृश्चिक दंश के प्रमुख लक्षण

सामान्यत: वृश्चिक दंश में निम्न लक्षण प्रकट होते हैं[1]—

1. वृश्चिक विष अत्यन्त तीक्ष्ण होता है (Scorpion poison is very fast acting)
2. प्रारम्भ में अग्नि की तरह दाह करता है (Burning like fire)
3. विष प्रारम्भ में ऊपर की ओर जाता है तथा पुन: दंशस्थान पर आ जाता है (Recurrent upward movement of poison of scorpion)
4. दंश स्थान में अत्यन्त वेदना होती है (Intense pain at the site of scorpion sting)
5. दंश स्थान श्याव वर्ण का हो जाता है (Bluish / Blackish colouration of sting region)
6. दंश स्थान पर फटने के समान वेदना होती है (Tearing type of pain at the site of sting)

वृश्चिक दंश की साध्यासाध्यता[2]

1. वृश्चिक दंश मनुष्य के हृदय, नासिका एवं जिह्वा में होने पर असाध्य हो जाता है।
2. दंश स्थान से मांस कटकर गिरने लगने पर असाध्य होता है।
3. अत्यन्त तीव्र वेदना होने पर भी असाध्य होता है।

वृश्चिक विष की घातक मात्रा एवं घातक काल

1. वृश्चिक विष की घातक मात्रा एवं घातक काल दोनों ही अनिश्चित होते हैं।
2. वृश्चिक दंश से वयस्क व्यक्तियों की मृत्यु प्राय: नहीं होती है।
3. शिशु में वृश्चिक दंश से कई बार फुफ्फुशीय शोथ के कारण मृत्यु हो जाती है। अत: शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए।

---

1. वृश्चिकस्य विषं तीक्ष्णमादौ दहति वन्हिवत्।
   उर्ध्वमारोहति क्षिप्रं दंशे पश्चातु तिष्ठति॥
   दंश: सद्योऽतिरुक् श्यावस्तुद्यते स्फुटतीव च॥ (अ.हृ.उ. 37/6)
2. दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नर:।
   मांसै: पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून (मा.नि. 69/48)

वृश्चिक दंश चिकित्सा[1]

1. डंक के स्थान से 3-4 इंच ऊपर रबर या रस्सी या कपड़ा कसकर बांध दें और विद्ध स्थान पर चीरा लगाकर रक्त विष दबा कर बाहर निकालें।
2. विद्ध स्थान पर व्रण शोधक (Antiseptic solution) द्रव लगायें।
3. दंश स्थान पर स्वेदन करना चाहिऐ।
4. स्वेदन के बाद सैंधव लवण एवं घृत से अभ्यंग करें।
5. उष्ण औषधि एवं जल से परिषेक, अवगाहन एवं स्नान कराना चाहिऐ।
6. रोगी की पाचन शक्ति के अनुसार उसे घृत पान कराऐं।

आचार्य सुश्रुत ने उग्र विष वाले एवं मंद विष वाले वृश्चिक दंश की अलग-अलग चिकित्सा बतायी है जो निम्न प्रकार है—

उग्र एवं मध्य विष वाले वृश्चिक दंश की चिकित्सा[2]

1. सर्पदंश के समान चिकित्सा करनी चाहिऐ।
2. दंश के चारों तरफ स्वेदन करके, स्वच्छ कर हरिद्रा, सैन्धव, त्रिकटु, शिरीष पुष्प एवं फल चूर्ण का प्रतिसारण।
3. तुलसी पत्र को बिजौरा नींबू के रस तथा गोमूत्र में पीस कर लेप करें।
4. स्वेदन हेतु शुष्क गोबर से सेक करें।
5. घृत में मधु एवं शर्करा मिश्रित कर पान कराऐं।

मन्द विष वृश्चिक दंश की चिकित्सा[3]

1. कोल्हू के ताजे तैल से परिषेक करें।
2. विदारीगन्धादि गण से सिद्ध तैल से सेक।
3. शिरीषादि विषहर द्रव्य की उत्कारिका से स्वेदन।
4. विषघ्न द्रव्यों से उपनाह।
5. एला, तेजपत्र, नागकेशर से सिद्ध गुड़ का शर्बत पिलाऐं।
6. मोर, मुर्गे का पंख, सैंधव, तैल एवं घृत से धूपन।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. दशं स्थान पर नौसादर एवं चूना समभाग में लेप करें।

---

1. वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च।
   सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिष:॥ (च.चि. 23/173)
2. उग्रमध्यविषैर्दष्टं.....।
   ..... सर्पि: क्षीरं वा बहुशर्करम्॥ (सु.क. 8/67-69)
3. दंशं मन्दविषाणां.....।
   ..... शीघ्रं वृश्चिकजं विषम्॥ (सु.क. 8/70-73)

अथवा

2. हरताल एवं नौसादर को जल में पीसकर लेप करें।
3. श्वेत अपराजिता मूल का चूर्ण अथवा
4. दन्ती (जयपाल) बीज को पीसकर लेप करें
5. प्रात : सायं

संजीवनी वटी	: 500 मिग्रा.
शिलादि वटी	: 500 मिग्रा.
चूषणार्थ	1 × 2 मात्रा

5. सम्यक पथ्यापथ्य का पालन

Latest Developments

Scorpion Sting

The Indian red scorpion is small in size and it is very poisonous. The black scorpion is less poisonous.

Signs and Symptoms

1. Intense pain and mild swelling.
2. Vomiting.
3. Diarrhoea.
4. Hypersalivation.
5. Due to release of catacholamines develop hypertension, toxic myocarditis, and pulmonary oedema.
6. Fasciculations, muscle spasms.
7. Respiratory paralysis, acute pancreatitis and haemostatic abnormalities.

Management : Principles

1. Local infiltration with 1% Lignocaine for pain.
2. Antivenom 5-10ml over 10-30 minutes.
3. In hypertension, 5mg sublingual Nefedipine.
4. In Pulmonary oedema, I.V frusemide, oxygen, aminophylline and oral parazosin.
5. Other symptomatic management.

3. अलर्क विष

(Rabies or Hydrophobia)

परिचय

आयुर्वेद के प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों में अलर्क विष की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। वस्तुत: अलर्क विष रोग कुत्ता, बंदर, गीदड़, लोमड़ी, शृंगाल आदि के दंश से फैलता है। मनुष्यों में प्राय: पागल कुत्ते या शृंगाल के काटने से ही अलर्क विष उत्पत्ति अधिकतर पायी जाती है। सामान्यत: सभी कुत्तों का दंश विषाक्त नहीं होता है। जो कुत्ते इस विष से ग्रस्त रहते है उन्हीं के काटने से अलर्क विष की उत्पत्ति होती है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	-	अध्याय 23
2.	सुश्रुत संहिता कल्प स्थान	-	अध्याय 7
3.	अष्टांग हृदय उत्तर स्थान	-	अध्याय 38
4.	माधव निदान	-	अध्याय 69
5.	भाव प्रकाश मध्यम खण्ड	-	अध्याय 68
6.	भैषज्य रत्नावली	-	अध्याय 72

परिभाषा

कुत्ता, शृंगाल इत्यादि के स्वत: विष ग्रस्त होने के उपरान्त उनके द्वारा मनुष्य को दंश करने से उत्पन्न विष जन्य रोग को अलर्क विष कहते हैं।

पर्याय

अलर्क विष, जल संत्रास, श्वान विष, रेबीज, हाइड्रोफोबिया इत्यादि।

निदान

विष से पागल हुआ कुत्ता, शृंगाल, रीछ, व्याघ्र इत्यादि द्वारा मनुष्य को दंश करने से अलर्क विष की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति

कुत्ता इत्यादि के दंश के पश्चात क्षत स्थान से विषाणु संज्ञावाही स्रोतस के द्वारा मस्तिष्क में पहुंच कर शोथ उत्पन्न करते हैं। तत्पश्चात सुषुम्ना काण्ड, लालाग्रंथि और सम्पूर्ण अश्रु ग्रंथियों में यह विषाणु अवस्थित होकर अलर्क विष नामक रोग की उत्पत्ति करते हैं।

पागल कुत्ते के लक्षण

पागल कुत्ते के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. कुत्ते के मुख से निरंतर लालास्राव होता रहता है[1]।
2. वह अंधा और बहरा बनकर बिना प्रयोजन दौड़ता रहता है[1]।
3. कुत्ते की पूंछ, हनु और कंधे झुके रहते हैं, मुख नीचे की ओर रहता है एवं शिर में वेदना होती है[1]।
4. कुत्ते के अतिरिक्त शृंगाल, बिल्ली आदि हिंसक प्राणियों के काटने से ज्वर, शरीर में जकड़ाहट, पिपासा, मूर्च्छा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार सर्वप्रथम पागल कुत्ते के व्यवहार में परिवर्तन होता है। उसमें अत्यधिक क्षोभ एवं क्रोधोन्माद की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। क्रोध के आवेग में वह इधर-उधर भागता है तथा जो भी वस्तु, प्राणी, मनुष्य रास्ते में आता है उसे काट लेता है। बाद में कुत्ते को निगलने में कठिनाई होने लगती है, लालास्राव होता है, भौंकने का स्वर बदल जाता है, नीचे का जबड़ा लटक जाता है और वह सामान्य पक्षाघात से ग्रस्त हो जाता है। पागल कुत्ते की औसतन 2-10 दिन में मृत्यु हो जाती है।

अलर्क विष के प्रमुख लक्षण

अलर्क विष से ग्रस्त मनुष्य में निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[3]—

1. दंश स्थान अचेतन होता है (Loss of sensation at the site of bite)
2. दंश स्थान से कृष्ण वर्ण का स्राव (Oozing of black coloured blood from site of bite)
3. हृच्छूल (Angina / Cardiac Pain)
4. शिर:शूल (Headache)
5. ज्वर (Fever)
6. स्तम्भ (Stiffness)
7. तृष्णा (Excessive thirst)
8. मूर्च्छा (Fainting)
9. कण्डू (Itching)

---

1. लालावानन्धबधिर: सर्वत: सोऽभिधावति।
   स्रस्तपुच्छहनुस्कन्ध: शिरोदु:खी नतानन: ॥ (अ.हृ.उ. 38/9)
2. अन्येऽप्येवंविधा व्याला: कफवातप्रकोपणा:।
   हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मता: ॥ (च.चि. 23/176)
3. दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्त: कृष्णं क्षरत्यसृक्।
   हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृष्णामूर्च्छोद्भवोऽनु च ॥
   अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिण:।
   शृंगालाश्वतराश्वर्क्षद्वीपिव्याघ्रवृकादय: ॥
   कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमा: ॥
   विदाहरागरुक्पाकशोफग्रंथिविकुञ्चनम्।
   दंशावदरणं स्फोटा: कर्णिका मण्डलानि च ॥
   सर्वत्र सविषे लिङ्गं, विपरीतं तु निर्विषे ॥
   (अ.हृ.उ. 38/10-13)

10. निस्तोद (Pricking type of pain)
11. विवर्णता (Discolouration)
12. भ्रम (Vertigo/Confusion)
13. विदाह (Burning at the site of bite)
14. राग (लालिमा) (Inflammation)
15. शूल (Pain)
16. पाक (Sepsis)
17. शोफ (Inflammation)
18. ग्रंथि (Glandular swelling)
19. स्फोट (Blisters)
20. मांसांकुर (Glandular swelling at the site of bite)
21. मण्डल (Reddish patches)

सापेक्ष निदान

अलर्क विष में प्राय: सापेक्ष निदान की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि कुत्ते के काटने का इतिहास मिलता है। फिर भी कभी-कभी धनुर्वात (Tetanus) एवं मष्तिष्क ज्वर आदि के लक्षणों के साथ भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निम्न तालिका के आधार पर अलर्क विष और धनुर्वात में अंतर किया जा सकता है।

क्र.सं.	अलर्क विष (Rabies)	धनुर्वात (Tetanus)
1.	कुत्ते के काटने का इतिहास मिलता है।	1. लौह इत्यादि से आघात का इतिहास मिलता हैं।
2.	रोगी जल से दूर भागता है।	2. ऐसा नहीं होता है।
3.	रोगी अत्यधिक भय ग्रस्त एवं संत्रस्त दिखाई देता है।	3. रोगी में बार-बार आक्षेप आते हैं।
4.	Blood culture में Rabies Virus मिलता है	4. Blood culture करने पर Bacillus Tetanus के जीवाणु मिलते हैं।

असाध्य लक्षण

अलर्क विष के असाध्य लक्षण निम्नलिखित हैं[1]—

1. पुरुष को जिस पशु ने काटा है उसी के समान जब वह चेष्टा एवं शब्द करता है तब असाध्य होता है।
2. व्यक्ति यदि उसी पशु को दर्पण, जल इत्यादि में अचानक देखता है तो वह असाध्य है।

जल सन्त्रास के लक्षण[2]

यह एक विशिष्ट स्थिति है। आचार्य वाग्भट ने स्पष्ट किया है कि जो पुरुष कुत्ते

---

1. दष्टो येन तु तच्चेष्टारुतं कुर्वन् विनश्यति।
   पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिशु ॥ (अ.हृ.उ. 38/14)
2. योऽद्भयस्तस्येददष्टोऽपि शब्दसंस्पर्शदर्शनै:।
   जलसन्त्रासमाप्नोति दष्टं तमपि वर्जयेत् ॥ (अ.हृ.उ. 38/15)

इत्यादि के न काटने पर भी जल के शब्द, संस्पर्श या दर्शन से डर जाता है और उसे रोमाञ्च एवं सन्त्रास होता है उसे जल सन्त्रास कहते हैं और यह एक घातक लक्षण है। उस जल से डरते हुए मनुष्य को असाध्य समझना चाहिए।

चिकित्सा

अलर्क विष में निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए—

1. निदान परिवर्जन

(i) विषाक्त जन्तुओं से बचाव करना चाहिए।

(ii) यदि पागल कुत्ते का पहले से ही पता चल जाये तो उसे कैद करके रखें अथवा मार देना चाहिए।

2. शोधन चिकित्सा[1]

(i) तीक्ष्ण वमन (ii) तीक्ष्ण विरेचन

3. शमन चिकित्सा

अलर्क विष में निम्नलिखित शमन चिकित्सा करनी चाहिऐ—

(i) स्थानीय चिकित्सा[2]

1. दंश स्थान को दबाकर उसका दूषित रक्त निकाल देना चाहिऐ।
2. रक्त निकालने के पश्चात दंश स्थान का गर्म घृत से दहन करना चाहिऐ।
3. दहन के बाद दंश स्थान पर विभिन्न प्रकार के अगद का लेप करना चाहिऐ।
4. काटे हुए स्थान को कार्बोलिक साबुन से अच्छी तरह धो दें, फिर हाइड्रोजन पराक्साइड डालकर व्रण को प्रक्षालित करें या पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से साफ करें और पश्चात विसंक्रामक द्रव (Antiseptic solution) से व्रण को साफ करें।

(ii) प्रमुख लेप

1. शिरीष के बीज को स्नुही क्षीर के साथ पीसकर लेप करें[3]।
2. अपामार्ग स्वरस का लेप।
3. अर्क क्षीर का लेप
4. प्याज के रस को मधु में मिलाकर लेप करें।

---

1. दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः।
   अशुद्धस्य सुरुढ़ेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम्॥ (सु.क. 7/62)
2. दंशं विस्राव्य तैर्दष्टे सर्पिषा परिदाहितम्।
   प्रदिह्यादगदैः सर्पिः पुराणं पाययेत च॥ (सु.क. 7/50)
3. शिरीषस्यतु बीजं वै स्नुहीक्षीरेणघर्षितः।
   तल्लेपेन महादेवि तक्ष्येन कुक्कुरजं विषम्॥ (भै.र. 72/35)

(iii) प्रमुख आभ्यान्तर योग

1. धतूरे के साथ श्वेत अपराजिता एवं पुनर्नवा का सेवन[1]।
2. तिल कल्क, तिल तैल, अर्कक्षीर तथा गुड़ का सेवन[2]।
3. अपामार्ग मूल के चूर्ण को शहद के साथ दें।
4. धतूरे की पत्ती एवं गूलर 6-6 ग्राम को तण्डुलोदक में पीसकर पिलाऐं[3]।
5. धतूरे की पत्ती का स्वरस, गोघृत, पुराण घृत एवं गोदुग्ध समभाग में लेकर एक साथ घोंटकर 40 मिलिलीटर की मात्रा में दो बार दें[3]।
6. चावल को पीसकर उसके पिण्ड के बीच मेष (मेढ़ा) के लोम रखकर निगल लें। इससे अलर्क विष शांत होता है[4]।
7. अंकोठ मूल के क्वाथ में घृत मिलाकर पान कराऐं[5]।

अलर्क विष में विशेष प्रयोग[6]

आचार्य सुश्रुत ने अलर्क विष में प्रयोग के लिए इसे अत्यन्त लाभकारी बताया है। शरपुंखा मूल 10 ग्राम, धतूरा 5 ग्राम तथा चावल 5 ग्राम लेकर, पीसकर, पिटठी की तरह धतूर पत्र में भरकर, कचौरी की तरह पका लें तथा अलर्क विष पीड़ित रोगी को खिलावें। औषधि के पचने पर व्यक्ति पागल के समान चेष्टा करता है तब उसे जल रहित शीतल गृह में रखें। विकार शांति के बाद शाठी चावल दुग्ध के साथ देना चाहिऐ। तीसरे एवं पांचवे दिन पुनः यही प्रयोग औषधि की आधी मात्रा में करना चाहिऐ। यहां पर आचार्य सुश्रुत का कथन है कि अलर्क विष स्वयं प्रकुपित होने पर ठीक नहीं होता है। अतः उसे चिकित्सक को स्वयं प्रकुपित करके शरीर से बाहर निकाल देना चाहिऐ।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन
3. विषघ्न अगद का स्थानीय लेप
4. विषनाशक अगद का घृत पान
5. शरपुंखा 10 ग्राम, धतूरा 5 ग्राम, चावल 5 ग्राम की कचौरी का प्रयोग

---

1. पिबेत्सधतूरफलां श्वेतां वाऽपि पुनर्नवाम्॥ (अ.हृ.उ. 38/37)
2. ऐकध्यं पललं तैलं रुपिकायाः पयोगुडः।
   भिनति विषमालर्कं घनवृन्दमिवानिलः॥ (अ.हृ.उ. 38/38)
3. कनकोदुम्बर फलमिव तण्डुलजलपिष्टं पीतमपहरति।
   कनकदल द्रवघृतगुडदुग्धपलैकं शुनो गरलम्॥ (भै.र. 72/37)
4. पिष्टतण्डुलमध्यस्थं भक्षितम् मेषलोमम्॥ (भै.र. 72/36)
5. अङ्कोल्लोत्तर मूलाम्बू त्रिपलं सह विपलम्॥ (अ.हृ.उ. 38/36)
6. निहन्ति विषमालर्कं मेघवृन्दमिवानिलः।
   ..... प्रकोपयेदाशु स्वयं यावत् प्रकुप्यति॥ (सु.क. 7/53-58)

6. संजीवनी वटी : 500 मि.ग्रा.
   भीमरुद्र रस : 250 मि.ग्रा.
   जल से 1 × 4 मात्रा
7. सम्यक् पथ्यापथ्य का पालन

Latest Developments
Rabies

Introduction

Rabies is a viral encephalomyelitis transmitted in the saliva of infected animals. Rabies is most prevalent in dogs, foxes, wolves and jackals.

Transmission

1. When the virus is introduced into bite wounds or open cuts in the skin on to membranes.
2. Individuals exposed to aerosolized rabies virus in laboratory.
3. Recipients of infected cornea.

Sings and Symptoms

Incubation Period

Incubation period varies from 9 to 90 days in majority of cases.

Prodromal Symptoms

1. Pain, irritation or discomfort at the site of bite.
2. Fever, anxiety, depression, intolerance of loud sounds.
3. Hoarseness of voice and sense of constriction in throat with difficulty of swallowing.
4. Slight rise of temperature.

Main Symptoms

1. Hydrophobia

(i) A combination of inspiratory muscle spasm with or without painful laryngopharyngeal spasm.

(ii) Terror in response to attempts to drink water.

(iii) Hydrophobic spasm ends in opisthotonos and generalised convulsions and lastly in death.

2. Period of excitement

It is common during which the patient becomes wild and hallucinated alternating with lucid intervals.

3. Other features

(i) Meningism.

(ii) Cranial lesions of IIIrd. VIIth and VIIIth nerves, spasticity.

(iii) Fluctuating body temperature and blood pressure.

(iv) Salivation.

(v) Sweating and tachycardia.

(vi) Death may occur during hydrophobic spasm.

Diagnosis

1. Immunofluorescent testing.
2. Viral detection.
3. Antibody detection.
4. Postmortem diagnosis by observation of negri bodies in the brain.

Management : Principles

1. Active Immunization

(i) Human diploid cell strain vaccine (HDCSV) induces excellent levels and no risk of neuroparalytic complications.

(ii) I.M. injection 1.0 ml on days 0, 3, 7, 14, 30 and 90 should be given.

(iii) Injection must be given into deltoid or anterolateral thigh in infant, not into buttocks (because antibody induction is unreliable)

Side effects

(i) Irritation at site of injection.

(ii) Headache, fever and flu like illness.

2. Passive Immunization

(i) Administration of RIG (Rabies immunoglobulin) 20 IU/Kg human rabies immunoglobulin or 40 IU/Kg heterologos RIG given once, at the begining of antirabies prophylaxis to provide immediate antibodies until patient responds to vaccination by actively producing antibody.

(ii) RIG can be given upto 7 days after administration of patent tissue culture vaccine.

(iii) After 7 days RIG is not indicated because an antibody response to vaccination should have occured.

(iv) RIG should be infiltered around and into the wound even when the lesion has begun to heal.

Cause of Death despite post exposure vaccination

1. Inadequate would cleaning.
2. Delay in starting vaccine.
3. Injection of vaccines into buttock.
4. Lack of passive immunization.
5. Use of corticosteroids.

4. लूता दंश

(Spider Bite)

परिचय

लूता अर्थात् मकड़ी का विष अत्यन्त भयंकर होता है तथा चिकित्सा अत्यन्त कठिन होती है। भारत में अनेक प्रकार की लूताऐं पायी जाती हैं। सामान्यत: घरों में पायी जाने वाली लूताऐं अल्प विष वाली होती हैं। जो लूताऐं जंगलों, उजड़े खण्डहरों, झाड़ी इत्यादि में पायी जाती हैं वे बड़े आकार की होती हैं एवं अत्यन्त विषाक्त होती हैं। आयुर्वेद संहिता ग्रंथों में जिस प्रकार की लूताओं एवं उनके विष जन्य भयंकरता का वर्णन मिलता है वह किसी दूसरी प्रकार की लूता विष का वर्णन प्रतीत होता है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि जिस प्रकार अंकुर को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि वृक्ष किस जाति का है उसी प्रकार लूता विष शरीर में थोड़ी मात्रा में फैला हुआ भी बड़ी कठिनायी से ही जाना जाता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	-	अध्याय 23
2.	सुश्रुत संहिता कल्प स्थान	-	अध्याय 08
3.	अष्टांग हृदय उत्तर स्थान	-	अध्याय 37
4.	माधव निदान	-	अध्याय 69

भेद

1. आचार्य चरक ने लूता के दो भेद बताऐं हैं—

(i) दूषीविष लूता (ii) प्राण हर लूता

2. आचार्य सुश्रुत ने लूता के दो भेद बताऐं हैं एवं प्रत्येक के 8-8 प्रकार के पुन: भेद बताऐं हैं[2]—

(i) कृच्छ्रसाध्य लूता - 8 प्रकार

(ii) असाध्य लूता - 8 प्रकार

अर्थात कुल 16 प्रकार की लूताऐं होती हैं।

उपरोक्त भेद में आचार्य सुश्रुत ने जिन्हें साध्य लूता कहा है उन्हें ही आचार्य चरक ने 'दूषी विष लूता' तथा आचार्य सुश्रुत की असाध्य लूता को आचार्य चरक ने 'प्राणहर लूता' नाम दिया है।

---

1. प्रोद्भिद्यमानन्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्त जाति: प्रविभाति वृक्ष:।
तद्वद्दुरालक्ष्यतमं हि तासां विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम॥ (सु.क. 8/79)
2. कृच्छ्रसाध्यस्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधा: स्मृता:।
तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु॥ (सु.क. 8/94)

आचार्य वाग्भट ने विषाक्तता की दृष्टि से लूता के 3 भेद माने हैं एवं उनकी मारक अवधि का भी वर्णन किया है[1]।

1. तीक्ष्ण विषवाली लूता - 7 दिन में मृत्यु कारक
2. मध्यविष वाली लूता - 10 दिन में मृत्यु कारक
3. हीन विष वाली लूता - 15 दिन में मृत्यु कारक

आचार्य वाग्भट ने दोषानुसार पुन: लूताओं के चार भेद किये हैं—

1. वातज लूता 2. पित्तज लूता
3. कफज लूता 4. सन्निपातज लूता

लूताओं द्वारा विष का प्रसारण

लूता विष का प्रसार निम्न 7 प्रकार से होता है[2]—

1. लाला 2. नख 3. मूत्र
4. दंष्ट्रा 5. रज (आर्तव) 6. पुरीष
7. शुक्र

लूता विष के सामान्य लक्षण

लूता दंश के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं[3]—

1. सभी प्रकार के लूता दंश दद्रु मण्डल के समान होते हैं।
2. दद्रुमण्डल श्वेत, रक्त, कृष्ण, पीत, श्याव वर्ण तथा किनारों पर जालक युक्त पकने वाला एवं शोफ युक्त होता है।
3. अत्यधिक वेदना 4. ज्वर
5. शीघ्र पाक 6. अत्यधिक क्लेद युक्त
7. सड़ने एवं फटने वाला व्रण युक्त होता है

भेदानुसार लक्षण

1. दूषी विष लूता दंश के लक्षण[4]

(i) दंश स्थान कृष्ण श्याव वर्ण का हो जाता है (Black bluish colouration of bite)

---

1. तीक्ष्णमध्यावरत्वेन सा त्रिधा हन्त्युपेक्षिता।
सप्ताहेन दशाहेन पक्षेण च परं क्रमात्॥ (अ.हृ.उ. 37/54)
2. विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारज:पुरीषैरथ चेन्द्रियेण।
सप्त प्रकारं विसृजन्ति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्ययुक्तम्॥ (सु.क. 8/85)
3. लूतादंशश्च सर्वोऽपि दद्रुमण्डल.....।
..... यत्स्पृशत्यङ्गं तत्रापि कुरुते व्रणम्॥ (अ.हृ.उ. 37/55-57)
4. दंशस्य मध्ये यत् कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम्।
दग्धाकृतिभृशं पाकि क्लेदशोथ ज्वरान्वितम्॥
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्॥ (च.चि. 23/144)

(ii) सिराजाल (Congestion, Engorgement of veins)
(iii) अग्निदग्ध समान आकृति (Appearance resembling burn of that part)
(iv) शीघ्र पाक (Early inflammatory changes)
(v) क्लेद (Secretions from boils)
(vi) शोथ (Oedema/Swelling)
(vii) ज्वर (Fever)

2. प्राणहर लूता दंश के लक्षण[1]

(i) दंश स्थान पर शोथ (Oedema at the site of bite)
(ii) ज्वर (Fever)
(iii) श्वेत, कृष्ण, रक्त या पीत रंग की पिड़िकाओं की उत्पत्ति (White, black, red or yellow coloured rashes)
(iv) अत्यन्त तीव्र श्वास (Intense Dyspnoea)
(v) दाह (Burning)
(vi) हिक्का (Hiccough)
(vii) शिरोग्रह (Stiffness in head)

लूता के विभिन्न अंगो द्वारा प्रसारित विष के लक्षण[2]

1. लालास्राव के कारण उत्पन्न विष में कण्डू, कोठ, स्थिरता एवं अल्प आभास होता है।
2. नख से उत्पन्न विष में शोफ, कण्डू, रोमाञ्च, धूमोद्गार की उत्पत्ति होती है।
3. मूत्र से उत्पन्न विष में दंश स्थान बीच में काला, किनारों पर रक्तवर्ण एवं फटा हुआ होता है।
4. दन्त से उत्पन्न विष कठिन, विवर्ण, स्थिर, मण्डल वाला एवं उग्रवीर्य वाला होता है।
5. रज, मल एवं शुक्र से उत्पन्न विष में स्फोट, दंश स्थान पके हुए आंवले के समान या पीलु के समान पाण्डुवर्ण का होता है।

1. सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते।
शोफः श्वेतासिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः॥
प्राणान्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः। (च.चि. 23/145-146)
2. सकण्डूकोठं स्थिरमल्पमूलं लालाकृतं मन्दरुजं वदन्ति।
शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च धूमायनं चैव नखाग्रदंशे॥
दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्।
दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं विवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमंडलं च।
रजः पुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्॥ (सु.क. 8/86-87)

लूताविषों द्वारा सात दिनों में उत्पन्न लक्षण[1]

प्रथम दिन : लूता विष प्रथम दिन अल्प कण्डू वाला, फैलने वाला, कोठ युक्त एवं अव्यक्त वर्ण का होता है।

द्वितीय दिन : किनारों पर शोथ युक्त एवं बीच में दबा हुआ एवं सभी लक्षण स्पष्ट होते हैं।

तृतीय दिन : सभी लक्षण और स्पष्ट हो जाते हैं।

चतुर्थ दिन : विष प्रकुपित होकर सर्वशरीर में फैलने लगता है।

पंचम दिन : विष और फैलते हुए कुपित हो जाता है।

षष्ठम दिन : सर्व शरीर में फैलकर सभी मर्म प्रदेशों को विशेष रूप से कुपित करता है।

सप्तम दिन : सातवें दिन विष बहुत अधिक बढ़कर सर्वशरीर में व्याप्त होकर उस रोगी को शीघ्र ही मार देता है।

असाध्य लूता विष के लक्षण : लूता विष असाध्य हो जाने पर रोगी में निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]—

1. हृदय में मोह (Confusion)
2. श्वास (Breathlessness)
3. हिक्का (Hiccough)
4. शिरोग्रह (Stiffness in head)
5. शोथ युक्त श्वेत, पीत, कृष्ण, रक्त पिड़िकाओं की उत्पत्ति (Origin of oedematous papules of white, yellow, black and red colouration)
6. कम्पन (Tremors)
7. वमन (Vomiting)
8. दाह (Burning)
9. प्यास (Thirst)
10. अन्धता (Blindness or Blurred vision)
11. ओष्ठ, मुख एवं दंत का कृष्ण वर्ण हो जाना (Cyanosis of lips, mouth and black colouration of teeth)
12. पृष्ठ एवं ग्रीवा का भञ्जन (Breaking type of pain in back and neck)
13. नासा का टेढ़ा हो जाना (Deviation of nose)
14. दंश स्थान से पके हुये जामुन के समान रक्त स्राव (Haemorrhage of black coloured blood from the site of bite)

1. ईषत्सकण्डू प्रचलं सकोठ.....।
..... व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम्॥ (सु.क. 8/80-82)
2. असाध्यायां तु ह्रन्मोहश्वास.....।
..... सर्वजा प्रायो व्यपदेशस्तु भूयसा॥ (अ.ह.उ. 37/51-53)

चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य सुश्रुत ने लूता विष की चिकित्सा के लिए निम्न 10 प्रकार के उपक्रमों का वर्णन किया है[1]—

1. नस्य
2. अञ्जन
3. अभ्यंग
4. पान
5. धूम
6. अवपीड़
7. कवल ग्रह
8. तीक्ष्ण वमन
9. तीक्ष्ण विरेचन
10. सिरा मोक्षण

चिकित्सा

1. **निदान परिवर्जन**
2. **शोधन चिकित्सा**[2, 3]
   - (i) तीक्ष्ण वमन कर्म
   - (ii) तीक्ष्ण विरेचन कर्म
   - (iii) नस्य कर्म
   - (iv) रक्त मोक्षण
3. **शमन चिकित्सा**

दंश स्थान को पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से धोना चाहिए। अन्य उपचार निम्न प्रकार हैं—

(i) दंश को निकालकर जम्बौष्ठ आदि से अग्नि कर्म। पित्तज विष में अग्निकर्म का निषेध है[4]।

(ii) अग्नि कर्म के बाद मधु एवं सैंधव मिश्रित अगद का लेप[5]।

(iii) पञ्चक्षीरी वृक्षों के कषाय से परिषेक[5]।

(iv) सभी लूता विष में श्लेष्मातक एवं अक्षीव पिप्पली का प्रयोग पान, लेप आदि के रुप में करना चाहिए[6]।

---

1. नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमं तथा अवपीडंकवलंग्रहं च।
   संशोधनं चोभयतः प्रगाढ़ं कुर्यात्सिरामोक्षणमेव चात्र॥ (सु.क. 8/134)
2. विषघ्नं बहुदोषेषु प्रयुञ्जीत विशोधनम्। (अ.हृ.उ. 37/75)
3. सर्वतोऽपहरेद्रक्तं शृंगाद्यैः सिरयाऽपि वा। (अ.हृ.उ. 37/69)
4. अथाशु लूतादष्टस्य शस्त्रेणादंशमुद्धरेत्।
   दहेच्च जाम्बवौष्ठाद्यैर्न तु पित्तोत्तरं दहेत्॥ (अ.हृ.उ. 37/66)
5. लेपयेद्दग्धमगदैर्मधुसैन्धवसंयुतैः।
   सुशीतैः सेचयेच्चानु कषायः क्षीरवृक्षजैः॥ (अ.हृ.उ. 37/68)
6. सर्वासामेव युञ्जीत विषे श्लेष्मातकत्वचम्।
   भिषक् सर्वप्रकारेण तथा चाक्षीवपिप्पलम्॥ (सु.क. 8/120)

(v) प्रियंगु, हरिद्रा, कुष्ठ, मंजीठ एवं मधुयष्टि का लेप[1]।

(vi) सारिवा, मधुयष्टि, द्राक्षा, विदारी एवं क्षीरमोरट का क्वाथ पान कराऐं[1]।

(vii) विदारी, गोक्षुर, मधु एवं मधुयष्टि का क्वाथ पिलाऐं[1]।

(viii) वात प्रधान लूता विष में बिल्व, चन्दन, तगर, कमल, शुण्ठी, पिप्पली, जलवेतस, अम्लवेतस, कुष्ठ, शुक्ति, जयन्ती शाक, पाटला, भार्गी, निर्गुण्डी, मदनफल एवं दालचीनी का आवश्यकतानुसार पान, लेप, नस्य, अंजन एवं सेक में प्रयोग करें[2]।

(ix) पित्त प्रधान लूता विष में ह्बेर, विकंकत, सारिवा, मुस्तक, शमी, चन्दन, श्योनाक, शैवाल, नीलकमल, तगर, मधुयष्टि, दालचीनी, रास्ना, पद्मक एवं मदनफल का भी पान, नस्य, अञ्जन लेप तथा सेक में प्रयोग करें[2]।

(x) कफ प्रधान लूता विष में हल्दी, मुस्तक, सर्पाक्षी, पिप्पली, शुण्ठी, पिप्पली मूल, चित्रक, वरुण, अगर, बिल्व, पाटला, नीम, कुष्ठ एवं केशर का प्रयोग पान, अंजन, नस्य, लेप तथा सेक के लिए करना चाहिए[2]।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. वमन, विरेचन, नस्य, अंजन एवं लेप का युक्तिपूर्वक प्रयोग
3. श्लेष्मातक की छाल का क्वाथ : 20 मि.लि.
   घृत के साथ 1 × 2 मात्रा
4. संजीवनी वटी : 500 मि.ग्रा.
   चन्दनादि चूर्ण : 2 ग्राम
   जल से 1 × 2 मात्रा
7. पथ्यापथ्य : घृत का अधिक प्रयोग
   : तैल प्रयोग वर्जित है।

Latest Developments

Spider Bite

In spider bites venom is injected through fangs.

Signs and Symptoms

1. Necrotic Araneism

(i) Local burning

---

1. प्रियङ्गुरजनीकुष्ठसमङ्गामधुकैस्तथा।
   सारिवां मधुकं द्राक्षां पयस्यां क्षीरमोरटम्॥
   विदारीगोक्षुरक्षौद्रमधुकं पाययेत वा। (सु.क. 8/131-132)
2. ह्बीबेरवैकङ्कतगोपकन्यामुस्ता..... ।
   ..... वृत्तस्था कुगतीरिव वारयन्त्येते॥ (अ.हृ.उ. 37/82-85)

(ii) Transient fever and erythematous rash.
(iii) Intravascular haemoloysis and development of ischaemic local lesions which form a necrotic black eschar.

Management : Principles

(i) Antivenom
(ii) Dapsone may reduce extent of necrosis.
(iii) Skin grafting after eschar has sloughed

2. Neurotoxic Araneism

(i) Bite is very painful. (ii) Headache.
(iii) Vomiting. (iv) Muscle spasm
(v) Pulmonary oedema (vi) Coma

Management : Principles

(i) Arterial torniquet to prevent absorption of neurotoxins.
(ii) Specific Antivenom.
(iii) Calcium gluconate for muscle spasm.
(iv) Symptomatic Management.

5. कीट दंश

(Bee and Wasp Stings)

कीट की उत्पत्ति

चरक संहिता के अनुसार कीटों की उत्पत्ति सर्प के मल-मूत्र से होती है[1]।

भेद

आचार्य चरक ने कीट के दो भेद बताये हैं—

1. दूषी विष कीट 2. प्राण हर कीट

आचार्य सुश्रुत ने दोषों की उल्लवणता इत्यादि के आधार पर कुल 67 कीटों का निर्देश किया है जो चार वर्गों में विभक्त किये गये हैं—

1. वातोल्लवण 2. पित्तोल्लवण
3. कफोल्लवण 4. सान्निपातिक

1. दूषी विष कीट दंश के प्रमुख लक्षण

दूषी विष कीट दंश के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]—

1. सर्पणामेव विण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसंमताः।
दूषीविषाः प्राणहरा इति सक्षेपतो मताः॥ (च.चि. 23/140)
2. गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्।
सकण्डूदाह वीसर्पपाकि स्यात् कुथितं तथा॥ (च.चि. 23/141)

(i) दंश स्थान रक्त, श्वेत, कृष्ण, श्याव वर्ण का हो जाता है (Redish, white, black, bluish colouration of place of bite)
(ii) दंश स्थान पर अनेक पिड़िकोत्पत्ति (Appearance of numerous rashes at the place of bite)
(iii) कण्डू (Itching)
(iv) दाह (Burning)
(v) विसर्प (Erysepelas)
(vi) पाक (Inflammatory changes)
(vii) कोथ (Gangrene)

2. प्राणहर कीट दंश के लक्षण

प्राणहर कीट दंश के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

(i) सर्पदंश के समान शोथ (Oedema like snake bite)
(ii) दंश स्थान पर रक्त में तीव्र गंध (Foul smelling blood at the place of bite)
(iii) नेत्रों में भारीपन (Heaviness in eyes)
(iv) मूर्च्छा (Fainting)
(v) शरीर में वेदना (Bodyache)
(vi) श्वास कृच्छ्रता (Breathlessness)
(vii) दूषी विष कीट के समस्त लक्षणों की उत्पत्ति
(viii) तृषा (Excessive Thirst)
(ix) अरुचि (Anorexia)

कीट विष की चिकित्सा[2]

1. अन्य जंतुओं के दंश की चिकित्सा के समान ही दंश स्थान का स्थानीय उपचार।
2. वमन, विरेचन, संसर्जन क्रम।
3. पञ्चक्षीरी वृक्ष (वट, पीपल, पाकड़, गूलर, पारस पीपल) की छाल का लेप।
4. मोती को पीसकर लेप लगाने से शोथ, दाह, तोद एवं ज्वर की शांति हो जाती है।

Latest Developments
Bee and Wasp sting

Signs and Symptoms

1. There is excessive local swelling.

1. सर्पदष्टे यथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक्।
दंशोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा च रुगार्तः श्वसित्यपि॥
तृष्णारुचिपरीतस्त्व भवेद् दूषी विषार्दितः॥ (च.चि. 23/142-143)
2. क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः।
मुक्तालेपो: वरः शोथदाहतोदज्वरापहः॥ (च.चि. 23/199)

2. In severe cases generalised urticaria or bronchospasm with or without laryngeal oedema.
3. Anaphylatic reactions may occur.

Management : Principles

1. The sting with its attached venom gland must be removed by scrapping off with knife or blade.
2. Anti histaminics for mild reactions.
3. Adrenaline for severe reactions.
4. Steroids - Single dose of 20-30mg Prednisolone may suffice.
5. Symptomatic management.

6. मूषक दंश

(Rat Bite)

परिचय

प्राचीन संहिताकारों ने मूषक को शुक्र विष वाला माना है। चूहे को मूषक कहते हैं। चूहे के संदर्भ में सबसे अद्‌भुत वर्णन मिलता है कि उसके शुक्र में विष होता है[1]। मनुष्य के शरीर के जिस भाग पर शुक्र गिर जाता है अथवा चूहे के शुक्र लगे स्थान पर नख, दंत लगने से शुक्र कीटों का रक्त से सम्पर्क हो जाता है फलस्वरूप उस व्यक्ति में विष का प्रभाव होने लगता है[2]। अर्थात् मूषक शुक्र का रक्त से सम्पर्क होने पर विष लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। आचार्य डल्हण ने अपनी टीका में आचार्य आलम्बायन का वचन उद्‌धृत करते हुए लिखा है कि चूहे पांच प्रकार से अपने विषों को मनुष्य शरीर में प्रविष्ट कराते हैं- शुक्र, मूत्र, पुरीष, नख एवं दंत के द्वारा[3]। इस टीका के आधार पर चूहे को दंष्ट्रा विष वाला या नख विषवाला माने या आचार्य के अनुसार शुक्र विष वाला कोई भी माना जा सकता है। परंतु यदि यह कहा जाये कि मूषक के शुक्र में विष होता है तथा दंत या नख लगने पर जब शुक्र का संपर्क रक्त से हो जाता है तब विष का प्रभाव शरीर में दिखायी देने लगता है, यह वर्णन अधिक उचित प्रतीत होता है।

1. मूषिका: शुक्रविषा:। (सु.क. 3/5)
2. शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टै: स्पृशन्ति वा।
   नखदंतादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति॥ (सु.क. 7/7)
3. शुक्रेणान्थ पुरीषेण मूत्रेणापि नखैस्तथा।
   दंष्ट्राभिर्वा क्षिपन्तीह मूषिका: पंचधा विषम्॥
   (डल्हण टीका सु. कल्प 7 पर)

पर्याय

मूषक, चूहा, इन्दुर, आखु इत्यादि।

मूषक के भेद

आचार्य चरक ने विषाक्तता के आधार पर मूषक को दो प्रकार का माना है—

1. दूषी विष मूषक दंश 2. प्राण हर या असाध्य मूषक दंश

परंतु आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट ने 18 प्रकार के मूषकों का नामत: उल्लेख किया है एवं सभी को विषयुक्त मानकर विस्तृत वर्णन किया है[1]।

मूषक दंश के प्रमुख लक्षण

मूषक दंश के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं[2]—

1. शुक्रलिप्त स्थान पर रक्त के दूषित होने से वहां पर पाण्डुता, ग्रंथि, शोथ, कोठ, मण्डल इत्यादि की उत्पत्ति हो जाती है (Appearance of glandular oedema, urticaria and pallor at the affected site.)
2. भ्रम (Confusion/Vertigo)
3. अरुचि (Anorexia)
4. शीतज्वर (Fever with rigors)
5. अतिवेदना (Severe pain)
6. शैथिल्य (Lethargy)
7. कम्पन (Tremors)
8. पर्वभेद (Pain in small joints)
9. रोमहर्ष (Horripilation)
10. रक्तस्राव (Bleeding)
11. मूर्च्छा (Fainting)
12. दीर्घकाल तक रोग बने रहना (Chronicity of Disorder)

आचार्य सुश्रुत ने उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त स्थानीय लक्षणों में कर्णिका, मण्डल, पिड़का एवं उग्र रूप में विसर्प, दौर्बल्य, श्वास एवं वमन का भी वर्णन किया है[3]।

भेदानुसार लक्षण

1. दूषीविष आखुदंश के लक्षण

दूषीविष वाले मूषक दंश के लक्षण निम्न प्रकार बताऐ गये हैं[4]—

(i) दंश स्थान से पाण्डुवर्ण का रक्त स्राव (Whitish / Yellowish blood discharge from the place of bite)

(ii) मण्डल (चकत्ते Redish spot/Rashes)

1. दशाष्टौ चेति मूषिका। (अ.हृ.उ. 38/2)
2. शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदिग्धै:.....।
   ..... विषं कृच्छ्रं भूयो भूयश्च कुप्यति॥ (अ.हृ.उ. 38/3-5)
3. पिडकोपचयश्चोग्रो विसर्पा: किटिभानि च।
   ..... अरुचि: श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम्॥ (सु.क. 7/8-9)
4. आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचि।
   लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते॥ (च.चि. 23/147)

(iii) ज्वर (Fever) (iv) अरुचि (Anorexia)
(v) रोमहर्ष (Horripilation) (vi) दाह (Burning)

प्राणहर अथवा असाध्य आखुदंश के लक्षण

प्राणहर आखु दंश के लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

(i) मूर्च्छा (Fainting) (ii) शोथ (Inflammation)
(iii) विवर्णता (Discolouration) (iv) क्लेद (Fluidity)
(v) बाधिर्य (Deafness) (vi) ज्वर (Fever)
(vii) शिरोगौरव (Heaviness in head)
(viii) लालास्राव (Salivation) (ix) वमन (Vomiting)

चिकित्सा

1. संशोधन चिकित्सा[2]

(i) दंश स्थान पर शर या दर्पण से दहन कर्म करें जिससे कर्णिका (मांसांकुर) उत्पन्न नहीं हो।
(ii) दंश स्थान पर शिरीष, हल्दी, तगर, केशर, गुडूची का लेप करें।
(iii) गृहधूम, मंजिष्ठा, हरिद्रा, सैंधव का लेप करें।
(iv) लेप के पश्चात सर्व प्रथम कांजी, या अम्ल से प्रक्षालित कर जल से व्रण को प्रक्षालित कर के निशोथ, अपराजिता, बिल्वमूल, गिलोय या अन्य विषघ्न द्रव्यों से लेप करें।

2. संशोधन चिकित्सा[3]

(i) वमन

* मदनफल, जीमूतक, कोशातकी, श्योनाक को दही के साथ पिलाकर वमन कराऐं अथवा
* वचा, मदनफल, जीमूतक, कुष्ठ को गोमूत्र में पीसकर एवं दही मिलाकर और रोगी को पिलाकर वमन कराऐं।

(ii) विरेचन : नीलिनी, निशोथ, त्रिफला कल्क से विरेचन कराऐं।

(iii) नस्य : शिरीष काष्ठ एवं फल के चूर्ण से नस्य।

(iv) अञ्जन : त्रिकटु चूर्ण को गोबर के रस के साथ अंजन करें।

---

1. मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः।
शिरोगुरुत्वं लालसृक् छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः॥ (च.चि. 23/148)
2. आखुना दष्टमात्रस्य दंशं काण्डेन..... । ..... शोफघ्नैः सिरां वा मोक्षयेद द्रुतम्॥ (अ.हृ.उ. 38/16-20)
3. कोशातक्याः शुकाख्यायाः फलं..... । ..... कपित्थगोमयरसो मधुमानवलेहनम्॥ (अ.हृ.उ. 38/21-24)

3. शमन चिकित्सा

(i) कपित्थ चूर्ण को गोबर के रस एवं मधु से चटाऐं।
(ii) चौलाई से सिद्ध घृत का पान करावें।
(iii) हरिद्रा, दारुहरिद्रा, कटभी, मंजिष्ठा, मधुयष्ठि एवं गुडूची से सिद्ध घृत का पान कराऐं।
(iv) अर्क मूल या कैंथ के पंचांग से सिद्ध घृत का पान कराऐं।
(v) सम्भालू, तगर, सहिजन, बिल्व, पुनर्नवा, वचा, गोक्षुर एवं जीमूतक का क्वाथ मधु से पिलाऐं।
(vi) दही के साथ शालि चावल का भात।
(vii) अंकोल मूल के कल्क को अजा मूत्र के साथ पान एवं आलेप करें।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1.	निदान परिवर्जन		
2.	शोधन चिकित्सा	:	वमन, विरेचन, नस्य, अंजन
3.	व्रण का शोधन	:	त्रिफला क्वाथ, पंचक्षीरी वृक्ष क्वाथ, दशमूल क्वाथ से।
4.	व्रण का रोपण	:	जात्यादि घृत से
5.	मृत्युपाशच्छेदी घृत दुग्ध से	:	20 मि.लि. 1 × 2 मात्रा
6.	पूर्व में वर्णित विविध प्रकार के घृत एवं क्वाथ का प्रयोग		
7.	पथ्यापथ्य का पालन		

Latest Developments
Rat Bite Fever

Etiology

Rat bite fever occurs due to rat bite which is infected by Spirillum minus or Streptobacillus monili formis.

Incubation Period

Incubation Period of Rat bite fever is 14 days.

Signs and Symptoms

1. Sudden onset with rigors, headache, high grade fever, pain in joints and muscles.
2. Rat bite wound with redness, swelling and oedema increased with discharge if not healed.
3. Regional lymphangitis and lymphadenitis.
4. Dark purplish macular or maculopapular eruption over arms legs. trunk and face.
5. High remittent temperature for 4 to 5 days falling to norma

with profuse sweats. Such type of fever may continue for weeks or month if not treated.

6. Arthritis, delirium and coma.

Management : Principles

1. Benzathine Penicillin 1.2 million unit per day IM. or
2. Erythromycin 2gm/ day orally for 7 days. or
3. Tetracycline 2gm/day orally for 7 days.
4. Symptomatic management.

7. कृकलास (गिरगिट) दंश

प्रमुख लक्षण[1]

1. कृकलास (गिरगिट) दंश में शरीर का वर्ण श्याव हो जाता है।
2. शरीर पर अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं।
3. मोह
4. पुरीष भेद (अतिसार) की उत्पत्ति।

गिरगिट के प्रकारों में प्राय: एक विषखोपर नामक गिरगिट भी मिलता है। इसका विष अत्यन्त तीव्र होता है तथा इसके दंश से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

कृकलास दंश में निम्न चिकित्सा करनी चाहिए[2]—

1. स्थानीय व्रण का शोधन एवं रोपण करें।
2. शोधन के लिए त्रिफला क्वाथ का प्रयोग करें।
3. रोपण हेतु जात्यादि घृत का प्रयोग।
4. पञ्चशिरीष अगद (शिरीष के फल, मूल, छाल, पुष्प, पत्र) को पीसकर गो घृत मिलाकर पान कराना तथा स्थानीय लेप करना चाहिए।

1. श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा।
मोह: पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकै: ॥ (च.चि. 23/149)
शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रै: समैर्घृतै:।
श्रेष्ठ: पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥ (च.चि. 23/218)

8. गृहगोधिका (छिपकली) दंश

प्रमुख लक्षण

गृहगोधिका दंश से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[1]—

1. दंश स्थान में दाह, तोद, स्वेद एवं शोथ हो जाता है (Burning sensation, pricking type of pain, sweating and oedema at the site of bite)
2. अत्यधिक स्वेदन (Excessive sweating)

विषाक्त छिपकली के काटने से अनेक घातक लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनमें श्वास कष्ट, आक्षेप, पक्षाघात, एवं हृदय विस्फारित होकर मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा

गृहगोधिका दंश की चिकित्सा निम्न प्रकार करनी चाहिए[2]—

1. विषघ्न लेप एवं विषघ्न औषधि का पान कराना चाहिए।
2. कपित्थ अक्षिपीड़, अर्कबीज, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, करञ्ज, हरिद्रा, दारुहल्दी को पीसकर लेप करना चाहिए।

9. शतपदी (गोजर) दंश

प्रमुख लक्षण

शतपदी लगभग तीन से छ: इंच लंबे शरीर वाले होते हैं। शरीर अनेक खण्डों में विभक्त होता है तथा इसके सैकड़ों जोड़े पैर होते हैं। यह लगभग भूरे लाल रंग का होता है। शतपदी दंश में निम्नलक्षण मिलते हैं[3]—

1. दंश स्थान पर शोथ एवं वेदना (Oedema and Pain at the site of bite)
2. हृदय में दाह (Burning in cardiac region)
3. भ्रम (Confusion)

1. दाहतोदस्वेद शोथकरी तु गृहगोधिका। (च.चि. 23/156)
2. कपित्थमक्षिपीडोचऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा।
करञ्जौ द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं जयेत् ॥ (च.चि. 23/216)
3. ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्चहृदये, श्वेताग्निप्रीा-
भ्यामेत नेत्र दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेत पिड़कोत्पत्तिश्च ॥ (सु.क. 8/30)

4. मूर्च्छा (Syncope)
5. श्वेत पिडिकोत्पत्ति (Origin of white papules)
6. स्वेद आना (Sweating)
7. शिर: शूल (Headache)
8. वमन (Vomiting)

चिकित्सा

1. सज्जीक्षार एवं बकरी की मींगी को जलाकर बनायी क्षार का लेप।
2. तुलसी पत्र, अक्षिपीड़क को समभाग में लेकर मद्य में पीसकर पान, नस्य, लेप, अंजन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।
3. दंश स्थान को त्रिफला क्वाथ से स्वच्छ करना।

10. मक्षिका दंश

प्रमुख लक्षण

विषाक्त मक्षिका दंश से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]—

1. दंश स्थान से स्राव (Secretion from the place of bite)
2. श्याव वर्ण पिड़काओं की उत्पत्ति (Appearance of blackish coloured papules)
3. दाह (Burning) 4. मूर्च्छा (Fainting) 5. ज्वर (Fever)

मक्षिकाओं में एक स्थगिका नामक मक्षिका होती है जिसके दंश से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

1. स्थानीय व्रण को स्वच्छ करें।
2. हरिद्रा एवं प्याज को पीस कर लेप करें।
3. कृष्ण वल्मीक मृत्तिका को गोमूत्र में पीसकर लगावें।
4. शुण्ठी, मरिच, सुगन्धबाला, नागकेशर को गोमूत्र में पीसकर दंश स्थान पर लेप करें।

1. स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षार: सुरसाऽथाक्षिपीडक:।
मदिरामण्डसंयुक्तो हित: शतपदीविषे॥ (च.चि. 23/215)
2. सद्य प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसृहत्॥ (च.चि. 23/158)

11. विषाक्त जंतु दंश

(Poisonous Insect Bite)

प्रमुख लक्षण

विषाक्त जन्तुओं के दंश से मनुष्य में निम्नलिखित प्रमुख लक्षण प्रकट होते हैं[1]—

1. दंश स्थान में कण्डू (Itching)
2. सुई चुभोने समान वेदना (Pricking type of pain)
3. विवर्णता (Discolouration)
4. शून्यता (Loss of sensation)
5. क्लेद (Watery secretions)
6. व्रण का सूखना (Dryness of boils)
7. दाह (Burning)
8. राग (लालिमा) (Redness in boils)
9. वेदना (Pain)
10. पाक (Inflammatory lesions)
11. काटे हुए स्थान का फट जाना (Tearing at the place of bite)
12. शोथ (Oedema)
13. ग्रंथि (Glandular Swelling)
14. अंगसंकोच (Contraction at the site of bite)
15. विस्फोट (Blisters)
16. कर्णिका (Polyps formations)
17. मण्डल (Red Patches)
18. ज्वर (Fever)

1. कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्।
विदाहरागरुक्पाका: शोफो ग्रंथिनिकुञ्जनम्॥
दंशावदरणं ,स्फोटा: कर्णिका मण्डलानि च।
ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे॥
(च.चि. 23/177-178)

चिकित्सा

विषाक्त कीट दंश में निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिऐ[1]—

1. सर्पविष में वर्णित 24 प्रकार की चिकित्सा में से जो आवश्यक एवं उपयोगी प्रतीत हो वही चिकित्सा किसी भी प्रकार के जन्तु से दंश में करनी चाहिऐ।
2. आवश्यकतानुसार तीक्ष्ण वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग करना चाहिऐ तत्पश्चात रोगी को संसर्जन क्रम करावें।
3. विष यदि शिरो भाग में व्याप्त हो तो नस्य का प्रयोग करावें।
4. नेत्र में विष व्याप्ति होने पर पिप्पल्यादि अंजन का प्रयोग करें।
5. अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करें।

12. शंका विष

शंका विष को सर्पाङ्गाभिहत भी कहा जाता है। अंधकार में किसी कांटा इत्यादि चुभ जाने से मनुष्य को किसी विषाक्त जन्तु से दंश की आशंका हो जाती है। मात्र शंका से ही शरीर में विष के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं, जबकि विष का कोई संबंध नहीं होता है।

प्रमुख लक्षण

शंका विष के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]—

1. ज्वर (Fever)
2. मूर्च्छा (Fainting)
3. दाह (Burning)
4. ग्लानि (Depression)
5. मोह (Confusion)
6. अतिसार (Diarrhoea)

1. तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्या: स्युरूपक्रमा:।
   पूर्वोक्ता विधिमन्यं च यथावद् ब्रुवत: शृणु॥
   हृद्विदाहे प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम्।
   यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रम:॥
   (च.चि. 23/179-180)
2. दुरन्धकारे विद्धस्य केनचिद्विषशङ्कया।
   विषोद्वेगाज्जवरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत्॥
   ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम्॥
   (च.चि. 23/221)

चिकित्सा

शंका विष उपस्थित होने पर निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिऐ[1]—

1. रोगी को आश्वासन एवं सत्वावजय चिकित्सा दें।
2. चीनी, शुद्ध गंधक, मुनक्का, क्षीरकाकोली, मधुयष्ठि इनके समभाग चूर्ण को मधु में मिलाकर चटाना चाहिए।
3. अभिमन्त्रित जल का प्रयोग।
4. रोगी को सान्त्वना देनी चाहिए।

सर्व प्रकार के विष में पथ्यापथ्य

पथ्य[2]

आहार जन्य	विहार जन्य
शालि चावल, शाठी चावल, कोदो चावल, प्रियंगु, सैंधव नमक, चौलाई, जीवन्ती, बैंगन, चौपतिया शाक, मण्डूकपर्णी, परवल, आँवला, अनार, अम्ल द्रव्य, मूंग, मसूर, अरहर की दाल, काले हिरण, मोर, साही, लावा पक्षी, तित्तिर, चित्रित हिरण का मांस रस, विषघ्न औषधियों से सिद्ध मांसरस एवं यूष का प्रयोग तथा अविदाही अन्न इत्यादि।	शीतल छाया में निवास, नदी के किनारे टहलना, सुरम्य वातावरण की सैर करना और प्रसन्न रहना इत्यादि

अपथ्य[3]

आहार जन्य	विहार जन्य
विरुद्ध भोजन, अध्यशन, ताम्बूल, सर्वप्रकार के अम्ल, लवण पदार्थ, सर्व प्रकार के अचार, भूखा रहना एवं पर्युषित आहार सेवन इत्यादि।	क्रोध, मैथुन, परिश्रम, तेज हवा, स्वेदन, दिवाशयन, भय एवं धूमपान इत्यादि।

1. चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासयन बुध:।
   सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु॥
   पानं समन्त्रपूताम्बू प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम्॥ (च.चि. 23/222-223)
2. शालय: षष्टिकाश्चैव कोरदूषा:.....।
   ..... चान्नानि विषार्तानां विषजिंतम्॥ (च.चि. 23/224-227)
3. क्रोधं विरुद्धाध्यशनं व्यवायं ताम्बूलमायासमपि प्रवातम्।
   अम्लं च सर्वं लवणं च सर्वं स्वेदं च नानाविधमासुतानि॥
   निद्रां भयं धूमविधिं क्षुधां च विषातुरो नैव भजेत्-कदाचित्॥ (भै.र. 72/84-85)

अध्याय-7

व्याधिक्षमित्व, प्रतिजन एवं प्रतियोगी, लसीका रोग प्रेरित विकार अनूर्जता एवं चिकित्सक

1. व्याधिक्षमित्व

(Immunity)

परिचय

आयुर्वेद के मुख्यत: दो प्रयोजन हैं—

(i) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा

(ii) आतुर में उत्पन्न विकार का प्रशमन करना।

यहां पर सर्वप्रथम स्वास्थ्य रक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया है। स्वास्थ्य के उच्चतम स्तर को बनाऐ रखने के लिए संहिता ग्रंथों में अनेक प्रकार के सिद्धांतों की विस्तृत विवेचना की गयी है जैसे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत का पालन एवं आचार रसायन का पालन करना इत्यादि। इन सभी उपायों का मूलभूत उद्देश्य है शरीर की व्याधि के प्रति प्रतिरोधक क्षमता को दृढ़ करना, अर्थात शरीर में व्याधिक्षमित्व (Immunity) को बनाये रखना। सम्भवत: आचार्यों की यह सोच रही हो कि स्वास्थ्य के समुचित उन्नयन (Health Promotion) पर विशेष ध्यान देने से रोगोत्पत्ति को रोका जा सकता है। शायद इसीलिए संक्रमण आदि के लिए प्रतिरोधक उपायों को कम महत्व दिया गया प्रतीत होता है। क्योंकि प्राचीन समय में संक्रामक रोगों की सम्भावना नगण्य थी। परंतु यह नहीं कहा जा सकता है कि प्राचीन समय के आयुर्वेद के आचार्यों को संक्रमण का ज्ञान नहीं था, यह बात चरक संहिता विमानस्थान में वर्णित जनपदोध्वंस प्रकरण से स्पष्ट है। आचार्य सुश्रुत ने भी संक्रामक रोगों का वर्णन किया है[1]। अत: यह समझा जा सकता है कि आचार्यों ने संक्रमण एवं व्याधिक्षमित्व पर भी पर्याप्त चिन्तन किया था परंतु सम्भवत: उस समय देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार इनकी विस्तृत विवेचना की आवश्यकता प्रतीत

1. प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात्।
सहशय्याऽऽसनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥
(सु.नि. 5/32-33)

नहीं हुई होगी। सम्भवत: इसीलिए संहिता ग्रंथों में व्याधिक्षमित्व का अत्यल्प वर्णन मिलता है।

आधुनिक युग में बदलते परिवेश, पर्यावरण परिवर्तनों, रहन-सहन के तौर-तरीकों इत्यादि के कारण संक्रामक व्याधियों की बाढ़ सी आ गयी है जिसके फलस्वरूप आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा नित नये अनुसंधानों के कारण व्याधिक्षमित्व विज्ञान (Immunology) एवं इससे संबंधित अनेक रहस्यों पर से पर्दा उठ रहा है एवं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की जा रही है। प्रस्तुत अध्याय में व्याधिक्षमित्व (Immunity), प्रतिजन (Antigen), प्रतियोगी (Antibody), लसीका रोग (Serum Disorders) एवं अनूर्जता (Allergy) का आधुनिक एवं आयुर्वेदीय सिद्धांतों के आधार पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

परिभाषा

व्याधिक्षमित्व वह शारीरिक शक्ति है जो शरीर में उत्पन्न होने वाली व्याधि के बल को घटाती है तथा व्याधि की उत्पत्ति को रोकती है[1]।

पर्यावरण में अनेकों प्रकार के जीवाणु, विषाणु, कवक इत्यादि हमेशा विद्यमान रहते हैं। मनुष्य द्वारा श्वास अंदर लेने की प्रक्रिया के दौरान यह हानिकारक जीवाणु शरीर में पहुंचते रहते हैं। इन जीवाणुओं के शरीर में पहुंचते ही शरीर का व्याधिक्षमित्व तंत्र सक्रिय हो जाता है एवं इन विषाणुओं को नष्ट कर देता है। फलस्वरूप हमारा शरीर विभिन्न हानिकारक जीवाणुओं के आक्रमण से बचा रहता है। शरीर की इसी क्षमित्व शक्ति या व्याधि प्रतिरोधक क्षमता को व्याधिक्षमित्व कहा जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार मनुष्य के रक्त में एक विशेष प्रकार की श्वेत रक्त कणिकाएं (Lymphocytes) होती हैं जो बाहर से प्रवेश करने वाले रोगाणुओं को भक्षण क्रिया (Phagocytosis) के द्वारा नष्ट कर देती हैं। जीवाणुओं के भक्षण करने की इस क्रिया के कारण ही मनुष्य शरीर में विभिन्न रोगाणुओं के प्रवेश के बावजूद भी रोगोत्पत्ति नहीं होती है। परंतु शरीर का व्याधिप्रतिरोधक तंत्र यदि दुर्बल हो तो मनुष्य शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। शरीर में अन्य प्रकार के रक्षा तंत्र भी होते हैं जैसे-टी लिम्फोसाइट्स (T-Lymphocytes), बी लिम्फोसाइट्स (B-Lymphocytes) एवं प्राकृतिक मारक कोशिकाऐं (Natural killer cells) इत्यादि।

शरीर में जब कोई जीवाणु (Antigen) लम्बे समय तक उपस्थित रहता है तो उसके प्रतिरोधी भी स्वभावत: शरीर रक्त में निर्मित हो जाते हैं जिन्हें प्रतियोगी (Antibody)

1. व्याधिक्षमित्वं व्याधिबलविरोधित्वम् व्याध्युत्पादप्रतिबंधकत्वमिति यावत्।
(च.सू. 28/16 पर चक्रपाणि)

कहते हैं। यह प्रतियोगी (Antibody) उस जीवाणु (Antigen) के विरुद्ध क्रिया शक्ति हमेशा के लिए अथवा कुछ जीवाणुओं के संदर्भ में अधिक समय तक के लिए प्रतिरोधी (Antibodies) बना देते हैं जो शरीर को विभिन्न जीवाणुओं के आक्रमण से बचाता है। इसी आधार पर आधुनिक टीकाकरण (Immunization) का विकास हुआ है।

व्याधिक्षमित्व के भेद

व्याधिक्षमित्व दो प्रकार का होती है—

1. रोगजक्षमता या अर्जित व्याधिक्षमित्व (Acquired Immunity)
2. कृत्रिम या युक्तिकृत या मसूरीकृत व्याधिक्षमित्व (Artificial immunity)

1. रोगजक्षमता या अर्जित व्याधिक्षमित्व (Acquired Immunity)

व्यक्ति जब किसी व्याधि से ग्रस्त होता है एवं कुछ समय पश्चात उस रोग से जब मुक्त हो जाता है तब उस रोग से बचाव की जो शक्ति उस मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होती है उसे ही रोगज अथवा अर्जित व्याधिक्षमित्व कहा जाता है। उस रोग विशिष्ट से बचाव की यह क्षमता शरीर में दीर्घ काल तक बनी रहती है। कुछ व्याधियों के संदर्भ में मनुष्य शरीर में एक बार व्याधि उत्पन्न हो जाने के पश्चात उस व्याधि के विपरीत आजीवन व्याधिक्षमित्व शक्ति विकसित हो जाती है। जैसे मसूरिका (Chicken Pox), चेचक (Small Pox) इत्यादि का मनुष्य शरीर में एक बार आक्रमण हो जाने पर प्राय: पुन: दोबारा यह रोग उस व्यक्ति विशेष के शरीर में उत्पन्न नहीं होता है। यह रोगज क्षमता या अर्जित व्याधिक्षमित्व मनुष्य शरीर में रोग उत्पन्न होने के परिणाम स्वरूप ही सम्भव हो पाती है।

2. कृत्रिम या युक्तिकृत या मसूरीकृत व्याधिक्षमित्व (Artificial immunity)

यदि स्वत: ही मनुष्य शरीर में व्याधिक्षमित्व की कमी हो अथवा स्वाभाविक रूप से मनुष्य शरीर में व्याधिक्षमित्व नहीं हो तब उस स्थिति में कृत्रिम विधियों के द्वारा भी मनुष्य शरीर में व्याधिक्षमित्व शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। किसी विशिष्ट प्रकार के जीवाणु अथवा विषाणु को निष्क्रिय रूप में अथवा आंशिक सक्रिय रूप में अथवा उसके विष को अल्प मात्रा में सूची वेध (Injection) के द्वारा अथवा मुखमार्ग द्वारा भी मनुष्य शरीर में उचित मात्रा में प्रवेश कराकर उस व्यक्ति को उस व्याधि के प्रति व्याधिक्षम (Immune) बना दिया जाता है। इसे लसीका चिकित्सा (Serum Therapy) कहा जाता है एवं इस पद्धति का नाम टीकाकरण अथवा Vaccination Therapy है। इस प्रकार व्यक्ति में कृत्रिम या युक्तिकृत व्याधिक्षमित्व का विकास किया जाता है। व्याधिक्षमित्व के बारे में नीचे दिये गये रेखाचित्र के माध्यम से विस्तार से समझा जा सकता है।

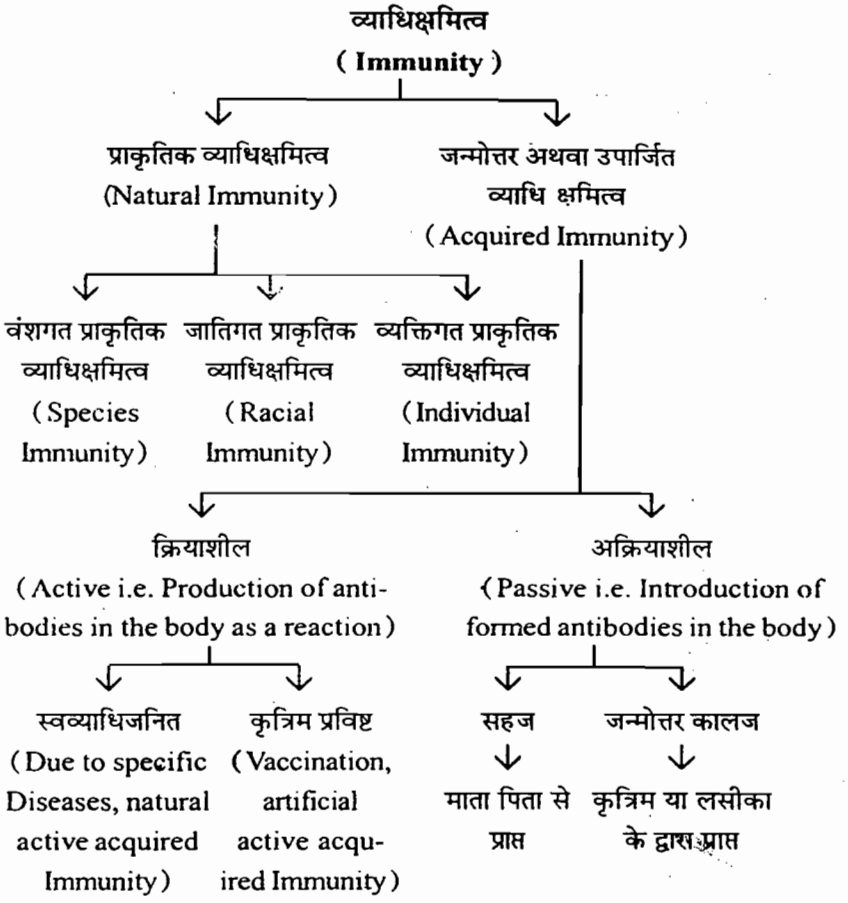

1. प्राकृतिक या सहज व्याधिक्षमता (Natural Immunity)

गर्भावस्था के समय अपरा के द्वारा ही माता के शरीर से रस रक्तादि का संवहन गर्भ के शरीर में होता है। इसी अपरा से ही रोग प्रतिरोधक शक्ति भी भ्रूण में संचरित होती रहती है। अनेक प्रकार की प्रजातियां देखने में आती हैं जिनमें एक विशेष प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता है जबकि शेष अन्य प्रजातियों में यह रोग विशिष्ट उत्पन्न होता है इसे ही प्राकृतिक या सहज व्याधिक्षमता कहते हैं। इस प्रकार की व्याधिक्षमता के अंतर्गत विशिष्ट प्रजातियां रोगविशेष के लिए व्याधिक्षम होती हैं, अर्थात उन प्रजातियों में वह रोग विशेष उत्पन्न न होकर अन्य प्रजातियों में उत्पन्न होता है।

भेद

प्राकृतिक या सहज व्याधिक्षमता तीन प्रकार की होती है—

(i) वंशगत सहज व्याधिक्षमित्व
(ii) जातिगत सहज व्याधिक्षमित्व
(iii) व्यक्तिगत सहज व्याधिक्षमित्व

(i) वंशगत सहज व्याधिक्षमित्व

मानव की अनेक ऐसी उपजातियां मिलती हैं जो समान रूप से एक ही व्याधि से पीड़ित नहीं होती हैं जैसे अश्वेत अफ्रीकी लोगों में पीत ज्वर (Yellow fever) बहुत कम मिलता है एवं राजयक्ष्मा (Tuberculosis) रोग अधिक मात्रा में मिलता है। यहूदी लोगों में राजयक्ष्मा बहुत कम मिलता है तथा नेपालियों में बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। इसे वंशगत सहज व्याधिक्षमित्व कहते हैं। इसके अंतर्गत जन्म से ही अनेक वंशों में रोग विशेष के प्रति व्याधिक्षमता विद्यमान रहती है।

(ii) जातिगत सहज व्याधिक्षमित्व

कुछ संक्रामक व्याधियां केवल मानव जाति में ही पायी जाती हैं जैसे फिरंग, कुष्ठ, विसूचिका, रोहिणी आदि रोग केवल मनुष्य जाति में ही पाए जाते हैं। अजा (बकरी) को राजयक्ष्मा नहीं होता है, पक्षियों में धुनर्वात (Tetanus) नहीं होता है। इसी प्रकार कुछ व्याधियां मनुष्य एवं पशु पक्षियों दोनों में ही समान रूप से पायी जाती हैं जैसे प्लेग, जलसन्त्रास, रिकेट्स इत्यादि। यह जातिगत व्याधिक्षमता जीवन भर स्थायी स्वरूप में रहती है। इसके अंतर्गत विशिष्ट जातियों में रोग विशेष के प्रति स्वाभाविक रूप से व्याधिक्षमता रहती है।

(iii) व्यक्तिगत सहज व्याधिक्षमित्व

व्यक्तिगत व्याधिक्षमित्व अनेक कारकों पर निर्भर करता है। जैसे जो व्यक्ति पोषण युक्त एवं नियमित रूप से संतुलित आहार विहार का पालन करता है, स्वास्थ्य का समुचित ध्यान रखता है वह व्यक्ति किसी भी व्याधि के प्रति अधिक रोग प्रतिरोधक शक्तिवाला होता है। लंबे एवं चपटे (Flat chest) वक्ष वाले व्यक्तियों में राजयक्ष्मा शीघ्र उत्पन्न होता है। निरंतर अभ्यास जैसे योगासन, ध्यान, प्राणायाम, षट्कर्म एवं पंचकर्म इत्यादि का यथावश्यक सेवन करते रहने से अल्प रोग प्रतिरोधक शक्ति वाला व्यक्ति भी अपनी रोग प्रतिरोधक क्षमता को विकसित कर सकता है। शरीर पर त्वचा का वाह्य आवरण भी औपसर्गिक व्याधियों से व्यक्ति की सुरक्षा करता है। मुख, नासा, आमाशय, श्वास पथ (Trachea) की श्लेष्म कला भी व्याधि उत्पत्ति रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कई प्रकार के व्यवसाय ऐसे भी होते हैं जो रोग प्रतिरोधक शक्ति को क्षीण या वृद्ध कर सकते हैं।

प्राकृतिक या सहज व्याधिक्षमित्व में न्यूनता के कारण

मनुष्यों में प्राकृतिक व्याधिक्षमित्व में ह्रास के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. अत्यंत शीत अथवा अत्यंत उष्ण जलवायु में बार-बार परिवर्तन होना। इससे बार-बार शीतता एवं उष्णता में परिवर्तन होकर उपसर्ग (Infection) की संभावना बढ़ जाती है।
2. निरंतर विषम आहार-विहार का सेवन करना।
3. अष्ट आहार विधि विशेषायतन एवं द्वादशासन का समुचित रूप से पालन नहीं करना।
4. अति उपवास करना।
5. दूषित एवं निकृष्ट खाद्य पदार्थों का निरंतर संवन।
6. पर्यावरण प्रदूषण जैसे जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण इत्यादि।
7. अत्यधिक मद्यपान करना।
8. विभिन्न प्रकार की व्याधियां जैसे रक्तक्षय, मधुमेह, एड्स आदि व्याधियों में भी प्राकृतिक व्याधि क्षमित्व अत्यल्प या नष्ट हो जाती है।

जन्मोत्तर अथवा उपार्जित व्याधिक्षमित्व (Acquired Immunity)

अनेक प्रकार के संक्रामक रोगों के आक्रमण अथवा कृत्रिम व्याधिक्षमित्व उत्पादक द्रव्यों के निरंतर प्रयोग से शरीर में व्याधिप्रतिरोधक शक्ति का उद्भव एवं विकास होता है। मृदु स्वरूप में उपसर्ग (Mild infection) से आक्रांत होने पर अथवा धीरे-धीरे अल्प मात्रा में कृत्रिम रूप से औपसर्गिक जीवाणु या उनके विष का शरीर में सूची वेध अथवा मुख मार्ग से प्रवेश कराया जाता है, जिसके फलस्वरूप उस रोग के प्रति शरीर में प्रतियोगी (Antibody) का निर्माण हो जाता हैं परिणामत: बाद में उस रोग का संक्रमण होने पर भी वह व्यक्ति उस व्याधि से प्रभावित नहीं होता है। इसे जन्मोत्तर अथवा उपार्जित व्याधिक्षमित्व कहा जाता है।

जन्मोत्तर अथवा उपार्जित व्याधिक्षमित्व के दो विभाग होते हैं—

(i) क्रियाशील व्याधिक्षमित्व एवं
(ii) अक्रियाशील व्याधिक्षमित्व

(i) क्रियाशील अथवा सक्रिय व्याधिक्षमित्व

विभिन्न प्रकार के इम्यूनोग्लोबुलिन्स (Immunoglobulins) के द्वारा जब शरीर में स्वयं सक्रिय रूप से व्याधिक्षमित्व की उत्पत्ति होती है तो उसे सक्रिय अथवा क्रियाशील व्याधिक्षमित्व कहते हैं। यह व्याधिक्षमित्व स्थायी अथवा अस्थायी दो प्रकार की हो सकती हैं।

(अ) सौम्य संक्रमण जन्य व्याधिक्षमित्व

बाल्यावस्था के समय शरीर में अत्यल्प मात्रा में वातावरण से जीवाणुओं का प्रवेश होता रहता है परंतु वाह्य दृष्टि से बालक में व्याधि व्यक्त नहीं होती है अर्थात वह व्याधि

अत्यंत अल्पस्वरूप वाली होती है किन्तु बालक के शरीर में उस उपसर्गजन्य व्याधि के प्रति रोगप्रतिरोधक क्षमता विकसित हो जाती हैं। संक्रमण के मृदु होने से एवं सहज व्याधिक्षमित्व के कारण कुछ बच्चे रोग से आक्रान्त हो जाते हैं जबकि अन्य नहीं होते हैं। अत: भविष्य के लिए वे बच्चे उस व्याधि विशेष के प्रति व्याधिक्षम हो जाते हैं। सम्भवत: इसी कारण बाल्यावस्था में रोहिणी (Diphtheria), तुण्डीकेरी शोथ (Tonsilitis), कुक्कुर कास (Whooping cough), रोमान्तिका (Measles) आदि रोगों का अधिक प्रकोप होता है। परंतु युवावस्था में इनका प्रकोप प्राय: नहीं होता है।

(ब) प्रत्यक्ष रोग आक्रमणजन्य व्याधिक्षमित्व

बाल्यावस्था में कुछ व्याधियों से पीड़ित होने के पश्चात पुन: उसी व्याधि से पीड़ित होने की सम्भावना अत्यंत कम हो जाती है। कई व्याधियों से मात्र एक बार पीड़ित होने के पश्चात दीर्घ काल तक के लिए शरीर में व्याधिक्षमित्व विकसित हो जाता है। जबकि अनेक व्याधियों में अल्प समय के लिए ही व्याधिक्षमित्व विकसित होता है। मसूरिका, रोमांतिका एवं कर्णमूल शोथ आदि व्याधियों से ग्रस्त होने के उपरान्त ठीक होने पर प्राय: जीवन भर के लिए या दीर्घ काल तक के लिए वह व्यक्ति व्याधिक्षम हो जाता है। आंत्रिक ज्वर (Typhoid) एवं प्लेग (Plague) इत्यादि रोगों से ग्रस्त होने के उपरान्त व्यक्ति में एक-दो वर्ष तक के लिए ही व्याधिक्षमित्व शक्ति विकसित होती है तथा भविष्य में वह व्यक्ति पुन: इन रोगों से ग्रस्त हो सकता है।

(स) क्रियाशील कृत्रिम व्याधिक्षमित्व

संक्रामक जीवाणु या विषाणुओं को निष्क्रिय करके या संस्कारित स्वरूप में निर्मित कर व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कराने पर बिना व्याधि उत्पत्ति के ही उस व्यक्ति का शरीर उस विशिष्ट व्याधि के प्रति व्याधिक्षम हो जाता है। इस प्रकार से रोग प्रतिरोधक शक्ति विकसित करने के तीन उपाय हैं-

1. संस्कारित जीवित जीवाणु जन्य (Live attenuated Bacteria)

इस विधि में जीवाणुओं की संक्रमण करने की शक्ति को नियंत्रित करने के उपरान्त उनका संवर्धन (Culture) करके उनकी रोग उत्पादक शक्ति नष्ट कर दी जाती है जिससे मनुष्य शरीर में उनको प्रविष्ट कराने के उपरांत व्याधि उत्पत्ति नहीं होती परंतु उस व्याधि विशेष के प्रति रोग प्रतिरोधक शक्ति विकसित हो जाती है। अलर्क विष (Rabies), मसूरिका (Chicken Pox) आदि की मसूरी (Vaccine) का प्रयोग इसी सिद्धांत के आधार पर किया जाता है।

2. मृत जीवाणुजन्य कृत्रिम व्याधिक्षमित्व

इस विधि के अंतर्गत जीवाणुओं को 55-60°C तापक्रम पर 30 मिनट तक गर्म करते हैं। तत्पश्चात उन्हें फार्मलीन आदि में सुरक्षित कर लिया जाता है एवं बाद में उनका उपयोग किया जाता है। प्लेग (Plague), विसूचिका (Cholera), आन्त्रिक ज्वर

(Typhoid), कुक्कुर कास (Whooping cough or pertusis) के मसूरी (Vaccine) इसी विधि से तैयार किये जाते हैं। इस विधि के द्वारा उन्हीं जीवाणुओं की मसूरी (Vaccine) तैयार की जाती है जिनका विष उनके शरीर में ही अवस्थित रहता है।

3. जीवाणु विष जन्य लसीका (Toxoids) का निर्माण

इस प्रकार की लसीका (Toxoids) का निर्माण अत्यन्त घातक श्रेणी के विषाणुओं हेतु करते हैं जैसे रोहिणी (Diphtheria), धनुर्वात (Tetanus) इत्यादि। इन रोगों के प्रतिकार के लिए जीवाणु विषों (Toxins) या उनके विषाक्त द्रव्यों (Toxoids) का प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग करने से शरीर में प्रतिविष का निर्माण हो जाता है जिसे उन व्याधियों की चिकित्सा के लिए प्रयोग किया जाता है। इस विधि में घोड़े के शरीर में जीवाणु विषों का धीरे-धीरे प्रयोग कराकर विष उत्पन्न किया जाता है और प्रतिविष युक्त अश्व की लसीका का प्रयोग चिकित्सा कार्य में किया जाता है।

(ii) अक्रियाशील अथवा निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व

किसी संक्रामक व्याधि से ग्रस्त हो जाने के पश्चात सक्रिय क्षमता वाला द्रव्य प्रयुक्त नहीं किया जाता है क्योंकि इससे उस रोग के बढ़ने की संभावना हो जाती है। अतएव ऐसी स्थिति में व्याधिशमन के लिए पहले से निर्मित द्रव्य का प्रयोग किया जाता है क्योंकि इस द्रव्य के निर्माण में शारीरिक कोशिकाऐं भाग नहीं लेती हैं, इसीलिए इसे निष्क्रिय व्याधि क्षमता कहते हैं इसके दो भेद होते हैं-

(अ) सहज व्याधिक्षमित्व

(ब) जन्मोत्तर कालज व्याधिक्षमित्व

(अ) सहज निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व

माता के शरीर में विद्यमान विभिन्न प्रकार की व्याधिक्षमता जैसे रोमांतिका, रोहिणी, आदि रोगों के लिए जो रोग प्रतिरोधक शक्ति होती है वह शिशु में भी उत्पन्न हो जाती है। परंतु इस प्रकार की व्याधिक्षमता लगभग 6 महीने तक ही शिशु के शरीर में रहती है उसके बाद में शिशु में पुन: व्याधिक्षमित्व उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है।

(ब) जन्मोत्तर कालज निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व

इस प्रकार की व्याधिक्षमित्व उत्पन्न करने की विधि में व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट जीवाणुओं के विष को नष्ट करने के लिए सक्षम लसीका (Serum) प्रविष्ट कराकर तत्काल व्यक्ति के शरीर में व्याधि क्षमता उत्पन्न की जाती है अर्थात व्यक्ति की व्याधि से रक्षा की जाती है। इस प्रक्रिया में निम्नलिखित तीन विधियों को प्रयुक्त किया जाता है-

1. प्रतिविष लसीका (Serum Toxoid)

इस प्रकार की लसीका में उन जीवाणुओं के विष नाशक प्रतिविष पहले से ही उपस्थित रहते हैं। अत: यदि रोग का संक्रमण हुआ है तो तत्काल उपचार के लिए इस प्रकार की लसीका का प्रयोग किया जाता है जैसे धनुर्वात (Tetanus) एवं रोहिणी (Diphtheria) जैसे घातक रोगों के शमनार्थ इसी प्रतिविष लसीका (Serum Toxoid) का प्रयोग कराते हैं।

2. जीवाणुरोधी लसीका (Anti Bacterial Serum)

इस प्रकार की लसीका संबंधित जीवाणु को ही नष्ट करती है न कि उनके विष को। जैसे मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Meningitis), श्लेष्मोल्बण सन्निपात ज्वर (Influenza), आंत्रिक ज्वर (Typhoid) एवं प्लेग (Plague) इत्यादि रोगों की चिकित्सा में जीवाणुरोधी लसीका (Antibacterial Serum) का प्रयोग किया जाता है।

3. सन्निवृत्त लसीका (Self Oriented Serum) जन्य व्याधिक्षमित्व

व्याधि ग्रस्त व्यक्ति के शरीर में उस व्याधि को विनष्ट करने में सक्षम लसीका उत्पन्न होने के कारण ही वह व्यक्ति उन रोगों से मुक्त होता है। मुख्यत: विषाणु (Virus) जनित व्याधियों से मुक्त रोगी की लसीका में यह गुण अधिक रहता है। रोमान्तिका (Measles) एवं शैशवीय अंगघात (Poliomylitis) से मुक्त रोगियों की लसीका इन्हीं रोगों से ग्रस्त शिशु में लाभदायक होती हैं।

चिकित्सा की दृष्टि से सक्रिय एवं निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व में अंतर

क्र. सं.	सक्रिय व्याधिक्षमित्व	निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व
1.	सक्रिय व्याधिक्षमित्व में प्रतियोगी (Antibody) उत्पन्न होने की प्रक्रिया उसी व्यक्ति के शरीर में सम्पन्न होती है।	निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व में प्रतियोगी (Antibody) दूसरे प्राणी के शरीर से उस व्यक्ति में रोग शमन हेतु प्रयुक्त होती है।
2.	यह दीर्घकालिक एवं स्थायी स्वरूप की होती है।	यह अल्पकालिक एवं अस्थायी स्वरुप की होती है।
3.	सक्रिय कृत्रिम व्याधिक्षमित्व में मसूरी (Vaccination) प्रयोग के बाद शरीर में प्रत्यक्ष रोग के समान सौम्य स्वरुप के स्थानीय एवं सार्वदैहिक लक्षण प्रकट होते हैं।	निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व में प्रतियोगी (Antibody) बाहर से तैयार करके उन्हें मनुष्य शरीर में प्रविष्ट कराया जाता है अत: मनुष्य शरीर में प्रतिक्रिया जन्य लक्षण उत्पन्न नहीं होते हैं।
4.	सक्रिय व्याधिक्षमित्व की उत्पत्ति मसूरीकरण (Vaccination) के 8-10 दिन बाद धीरे-धीरे उत्पन्न होती है।	निष्क्रिय व्याधिक्षमित्व में सक्षम लसीका मनुष्य शरीर में प्रवेश करने पर उसकी मात्रा के अनुरूप तुरंत व्याधिक्षमता उत्पन्न हो जाती है।
5.	सक्रिय व्याधिक्षमता का प्रयोग दीर्घ कालानुबंधी एवं प्राय: मृदु स्वरूप की व्याधियों की चिकित्सा में किया जाता है।	निष्क्रिय व्याधिक्षमता का प्रयोग उग्र व्याधि के शमनार्थ किया जाता है।

2. प्रतिजन एवं प्रतियोगी

(Antigens and Antibodies)

1. प्रतिजन (Antigen)

प्रतिजन (Antigen) एक विशेष प्रकार के द्रव्य होते है जो कोशिकाओं की सतह (Surface) पर होते हैं। यह विशेष प्रकार की कोशिकाओं की पहचान करते हैं तथा शरीर में प्रतियोगी (Antibody) पदार्थ की उत्पत्ति को प्रेरित करते हैं।

विजातीय द्रव्यों अथवा विजातीय द्रव्यों आदि के प्रयोग करने से शरीर में व्यापक प्रतिक्रिया (Immune Reaction) उत्पन्न होती है एवं प्रचुर मात्रा में प्रतिरोधी पदार्थों (Antibodies) का निर्माण होने लगता है जो उस विशेष विजातीय द्रव्य की क्षमता को समाप्त करने में सक्षम होते हैं। यदि यह प्रतिजन (Antigen) सामान्य हों तो सतत रूप से शरीर में प्रतिरोधी (Antibody) द्रव्य का निर्माण होता रहता है तथा शरीर की प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती रहती है। परंतु विशेष प्रकार के प्रतिजन (Specific types of antigens) होने पर विशेष प्रकार के प्रतियोगी द्रव्यों (Antibodies) का ही निर्माण होता है एवं उस व्याधि विशेष के प्रति ही प्रतिरोधक शक्ति विकसित होती है।

2. प्रतिरोधी या प्रतियोगी (Antibody)

प्रतिरोधी एक विशेष प्रकार के ग्लाइकोप्रोटीन होते हैं जो प्रतिजन द्रव्यों से प्रेरित होकर एक विशेष प्रकार की कोशिका B-Lymphocytes के द्वारा उत्पन्न अथवा निर्मित होते हैं। यह द्रव्य उस प्रतिजन के साथ जुड़कर उसे नष्ट करके शरीर की रक्षा करते हैं।

प्रतियोगी द्रव्य (Antibodies) कई प्रकार से प्रतिजन (Antigens) को नष्ट करते है जैसे प्रतिजन को घुलनशील बनाकर नष्ट करना, उनके द्वारा उत्पन्न विष को नष्ट करना अथवा विशेष प्रकार की कोशिकाओं को भक्षण (Phagocytosis) के लिए प्रेरित करके नष्ट करना अथवा उस प्रतिजन को विशेष कोशिका से जुड़ने नहीं देना (Prevent the antigen from adhering to the host cells) इत्यादि विधियों के द्वारा प्रतिरोधी द्रव्य प्रतिजन द्रव्यों को नष्ट करके शरीर की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

व्याधि क्षमता उत्पादक प्रमुख द्रव्य

अनेक प्रकार के द्रव्य ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग शरीर की व्याधिक्षमित्व शक्ति को बढ़ाने में किया जाता है। कुछ प्रमुख द्रव्य जो शरीर की व्याधिक्षमता उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है को यहां वर्णित किया जा रहा है-

1. प्रोभूजिन वर्ग (Proteins Group)

इस वर्ग के अंतर्गत दुग्ध प्रोटीन (Milk Protein), लसीका प्रोटीन (Serum

Protein), पेप्टोन्स (Peptones), मसूरी (Vaccines) एवं रक्त (Blood) इत्यादि का ग्रहण किया गया है।

2. धातु एवं उपधातु वर्ग (Heavy Metals)

इस वर्ग के अंतर्गत, स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, मैंगनीज, आयोडीन एवं कैल्सियम इत्यादि का समावेश किया जाता है।

3. तैलीय द्रव्य (Oils)

विभिन्न प्रकार के क्षोभक तैल (Different types of irritable oils) जैसे तारपीन तैल, जैतून तैल, तुवरक तैल एवं बाकुची तैल इत्यादि को इस वर्ग में रखा जाता है।

आयुर्वेद एवं व्याधिक्षमित्व

आयुर्वेदीय सिद्धांतों की सामान्य अवधारण है कि दोष वैषम्य होने पर ही रोग की उत्पत्ति होती है। अत: शरीर में दोष, धातु एवं मलों की साम्यावस्था बनाये रखना ही रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास करना है। आचार्य काश्यप ने शिशुओं में रोग प्रतिरोधक शक्ति विकसित करने के लिए लेहन कर्म का विधान किया है। आचार्य काश्यप के अनुसार शिशु का सुख (आरोग्य) एवं दु:ख (रोगावस्था) लेहन पर ही आश्रित है[1]।

आचार्य काश्यप ने लेहन कर्म अर्थात् शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ानें के लिए अनेक द्रव्यों एवं घृत प्रयोगों का वर्णन किया है जिन्हें यहां संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है

प्रमुख लेहन द्रव्य एवं उनकी प्रयोग विधि

1. प्रस्तर पर स्वर्ण को घिसकर उसमें मधु एवं सर्पि मिलाकर चटाने से शिशु की मेधा शक्ति, अग्नि एवं बल वर्धन होता है। यह आयुष्य, मंगल कारक, पुण्यकारक, वृष्य, वर्ण्य एवं ग्रहबाधा नाशक होता है[2]।
2. ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, त्रिफला, चित्रक, वचा, शतपुष्पा, शतावरी, दन्ती, नागबला एवं त्रिवृत्त इत्यादि इनको पृथक-पृथक मधु एवं घृत के साथ प्रयोग करना चाहिए।
3. कल्याणक घृत (विशाला, त्रिफला, देवदारु, एलुआ)
4. पंचगव्य घृत (गोदुग्ध, गोघृत, गोमूत्र, गोदधि एवं गौ के गोबर का रस)

1. सुखं दु:खं हि बालानां दृश्यते लेहनाश्रयम्॥ (का.सू. पृष्ठ 1)
2. आमथ्य मधु सर्पिर्भ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्।
सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्निबलवर्धनम्॥
आयुष्यं मङ्गलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम्॥ (का.सू. पृष्ठ 4-5)

5. ब्राह्मी घृत (ब्राह्मी, सर्षप, वचा, सारिवा, सैंधव, घृत)
6. सम्बर्धन घृत (खदिर, पृश्निपर्णी, बला, क्षीर, घृत, मधु)
7. अष्टांग घृत (वचा, बाकुची, मण्डूकपर्णी, अमृता, ब्राह्मी, घृत)
8. सारस्वत घृत (अभया, त्रिकटु, पाठा, अजाक्षीर, गोघृत)
9. वचादि घृत (वचा, अमृता, शटी, पथ्या)

मात्रा : 5-10 ग्राम
अनुपान : कोष्ण जल, कोष्ण दुग्ध

व्याधिक्षमित्व न्यूनताजनित विकार

जिन व्यक्तियों का शरीर अतिस्थूल अथवा अतिकृश होता है, जिन व्यक्तियों कि रस, रक्त, मांस इत्यादि धातुऐं सुव्यवस्थित एवं संगठित नहीं रहती हैं, जो लोग दुर्बल होते हैं, जिन्हें समुचित पोषण नहीं मिलता है एवं हीन मनोबल तथा स्वल्पाहारी व्यक्तियों के शरीर में पर्याप्त व्याधि क्षमता नहीं होती है एवं वे शीघ्र ही विकार ग्रस्त हो जाते हैं[1]।

आचार्य चरक ने कृश व्यक्ति की गणना अष्टनिन्दित व्यक्तियों में की है। कृश व्यक्तियों में व्याधिक्षमता स्वभाव से कम रहती है एवं उनमें निम्न व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं जिन्हें व्याधि क्षमित्व जनित विकार भी कहा जा सकता है[2]—

1. प्लीहा रोग (Diseases of Spleen)
2. कास (Cough)
3. राजयक्ष्मा (Tuberculosis)
4. श्वास (Breathlessness)
5. गुल्म (Tumors)
6. अर्श (Piles)
7. उदर रोग (Disorders of Abdomen)
8. ग्रहणी रोग (Sprue Syndrome)

मनुष्य के शरीर में व्याधिक्षमित्व की कमी होने के कारण अनेक प्रकार की उपसर्गज व्याधियां भी उत्पन्न हो जाती हैं जैसे-

1. हड्डी तोड़ ज्वर (Scarlet fever)
2. कुक्कुर कास (Whooping cough)
3. रोहिणी (Diphtheria)
4. आन्त्रिक ज्वर (Typhoid)
5. विसर्प (Erysepelas)
6. अतिसार (Diarrhoea)

1. शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि च भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि। (च.सू. 28/6)
2. प्लीहा कास: क्षय: श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगता:॥ (च.सू. 21/4)

7. अमीबिक प्रवाहिका (Amoebic Dysentry)
8. उष्णवात (Gonorrhoea)
9. उपदंश (Syphilis)
10. चेचक (Small Pox)
11. रोमान्तिका (Measles)
12. मसूरिका (Chicken Pox)
13. एड्स (AIDS) इत्यादि।

3. लसीका चिकित्सा

(Serum Therapy)

लसीका या सीरम अत्यन्त शुद्ध एवं सान्द्रित द्रव्य होते हैं जो शरीर को किसी व्याधि से आक्रांत होने के उपरांत उस रोग से बचाव के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। लसीका चिकित्सा उत्पन्न व्याधियों का भी शमन करती है एवं सम्भावित व्याधियों से भी बचाव में सहायक होती है।

लसीका चिकित्सा साध्य प्रमुख रोग

निम्नलिखित व्याधियों के शमन एवं बचाव के लिए लसीका चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है—

1. रोहिणी (Diphtheria)
2. धनुर्वात (Tetanus)
3. वात कर्दम (Gas gangrene)
4. मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (Meningospinal fever)
5. श्लेष्मोल्बवण सन्निपात ज्वर (Influenza)
6. रोमांतिका (Measles)
7. शैशवीय अंगघात (Poliomyelitis)
8. सर्पदंश (Snake Bite)
9. उपसर्गज अतिसार (Infective Diarrhoea / Cholera)
10. रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic Disorders)
11. जलसन्त्रास (Rabies)

लसीका प्रयोग मार्ग

प्राय: लसीका का प्रयोग पेशी मार्ग (Intramuscular injection) से किया जाता है। आवश्यकता होने पर शिरामार्ग (Intravenous Route) से भी लसीका का प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा (Dose)

सीरम की मात्रा का निर्धारण व्याधि की अवस्था एवं तीव्रता के आधार पर करते हैं।

प्रारम्भ में अत्यल्प मात्रा में अधस्त्वक सूची वेध के द्वारा अनूर्जता परीक्षण करते हैं तत्पश्चात पूर्ण मात्रा में औषधि का प्रयोग किया जाता है।

परिणाम

लसीका अथवा सीरम को रोगी के शरीर में प्रविष्ट कराने से तत्काल व्याधिक्षमित्व उत्पन्न हो जाता है जिससे शरीर में संचित दोषों का विनाश होकर रोग का तत्काल शमन हो जाता है। अत: जैसे ही शरीर में लसीका साध्य व्याधि उत्पन्न हो, तत्काल सीरम चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिऐ। यदि व्याधि अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हो तो उसमें सीरम चिकित्सा करने पर व्याधिशमन तो हो जाता है परंतु शरीर में अनेक उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं जिन्हें ठीक होने में समय लगता है। जैसे धनुर्वात (Tetanus) में स्तब्धता जन्य व्रण, रोहिणी में अंगघात इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

सीरम चिकित्सा में सावधानियां

सीरम चिकित्सा करते समय निम्नलिखित सावधानियां रखनी आवश्यक हैं-

1. कुछ अनूर्जता जनित व्याधियों (Allergic Disorders) जैसे शीतपित्त, नासापरिस्राव एवं श्वास इत्यादि में रोगी से सम्बंधित इतिवृत्त (Relavent history) पूछकर ही विभिन्न निर्णय करने चाहिऐं। कुछ औषधियों के प्रति भी व्यक्ति विशेष में अनूर्जता होती है अत: इसका भी ज्ञान रखना आवश्यक है।
2. जिन रोगियों में किसी व्याधि विशेष की शांति के लिए पूर्व में भी लसीका प्रयोग किया गया हो, उनमें पुन: लसीका प्रयोग करने पर सूक्ष्म वेदनता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। अत: इनमें लसीका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिऐ।
3. जिन रोगों में बार-बार लसीका प्रयोग करने की आवश्यकता हो जैसे रोहिणी (Diphtheria) एवं धनुर्वात (Tetanus) इत्यादि रोगों में अधस्त्वक सूचीवेध (Intradermal Injection) के द्वारा उनकी सूक्ष्म वेदनता का परीक्षण अवश्य कर लेना चाहिए।
4. सीरम चिकित्सा में यदि औषधि प्रयोग शीघ्रता पूर्वक शिरा मार्ग से किया जाये तो तीव्र प्रतिक्रिया होने की सम्भावना अधिक रहती है। अत: सावधानी पूर्वक निर्धारित समय में धीरे-धीरे औषधि को शिरा मार्ग से प्रयुक्त करना चाहिए। पेशीगत सूचीवेध से सीरम प्रयुक्त करना अधिक सुरक्षित रहता है।

अधस्त्वक औषधि परीक्षण

सूक्ष्म संवेदना परीक्षण (Sensitivity Test) के लिए एक बूद (One Drop) लसीका को सूची वेध द्वारा त्वचा के नीचे प्रविष्ट करना चाहिऐ। यदि शीतपित्त के समान रक्ताभ चकत्ता उत्पन्न होता हो तो औषधि प्रयोग नहीं करना चाहिऐ। यदि कोई प्रतिक्रिया

नहीं होती हो तब सीरम को आवश्यकता के अनुसार पेशीगत या सिरागत मार्ग से दिया जा सकता है।

अनूर्जता से बचाव के लिए कामदुधा रस या हरिद्रा खण्ड, शिरीषादि चूर्ण अथवा शिरीषादि कषाय इत्यादि का प्रयोग आवश्यकता के अनुसार किया जा सकता है।

4. लसीका रोग

(Serum Sickness)

परिभाषा

लसीका का प्रयोग करते समय उत्पन्न असहनशीलता (Hypersensitivity) के लक्षणों को लसीका रोग (Serum Sickness) कहते हैं। अत्यंत संवेदनशील व्यक्तियों में बिना समुचित सावधानी के लसीका प्रयोग करने पर अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

भेद

लसीका का प्रयोग करने पर कई प्रकार के संवेदनशील लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इन्हें निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1. **सद्यः प्रतिक्रिया (Immediate Reaction)**

वह व्यक्ति जिनमें पूर्व में लसीका का प्रयोग हो चुका है अथवा जो अनूर्जता जन्य रोगों (Allergic Disorders) से पीड़ित रहते हैं उनमें उस सीरम के प्रति पहले से ही असहनशीलता रहती है। ऐसे आतुर में औषधि प्रयोग के दो से तीस मिनट के भीतर ही निम्न स्वरूप के भयंकर लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

(i) श्वास कृच्छ्रता (Breathlessness)
(ii) प्राणावरोध (Hanging of Breath)
(iii) श्यावांगता (Cyanosis)
(iv) श्लेष्म कला शोथ (Inflammations of mucus membranes)
(v) शीतपित्त (Urticaria) (vi) विस्फोट (Blisters)
(vii) आक्षेप (Convulsions) (viii) निपात (Collapse)
(ix) मूर्च्छा (Fainting) (x) सन्यास (Coma)

2. **त्वरित प्रतिक्रिया (Accelerated Reactions)**

सीरम चिकित्सा के बाद यदि प्रतिक्रिया तत्काल उत्पन्न नहीं होकर 24 से 72 घंटे के बीच असहनशीलता के लक्षण उत्पन्न हों एवं पूर्व में वर्णित लक्षण मिलें तो उसे भी लसीका जनित विकार माना जाता है। अतः इस प्रकार के उपद्रवों से बचाव के लिए

लसीका प्रयोग के बाद रोगी को प्रतिषेध के लिए पहले से ही कुछ औषधियां दे देना लाभकारी रहता है।

3. **विलम्बित अथवा सामान्य लसीका रोग (General Serum Sickness)**

यह स्थिति प्रायः सिरामार्ग द्वारा लसीका प्रयोग के 6-14 दिन के भीतर उत्पन्न होती है। पहले से लसीका प्रयुक्त व्यक्तियों में फिर से पुनः लसीका प्रयुक्त करने पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया एवं लक्षण व्यक्त होते हैं उसी प्रकार सहज रूप से सूक्ष्म संवेदी व्यक्तियों (Naturaly allergic persons) में भी एक सप्ताह बाद स्वतः तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है। इसमें प्रायः निम्नलिखित लक्षण व्यक्त होते हैं—

(i) हल्लास (Nausea)
(ii) वमन (Vomiting)
(iii) संधिशोथ (Inflammation of joints)
(iv) शीतपित्त (Urticaria)
(v) ज्वर (Fever)
(vi) लसीका ग्रंथि शोथ (Lymphadenitis)
(vii) मूत्राल्पता (Oligurtra)
(viii) शिरःशूल (Headache)
(ix) संधिशूल (Joint pains)
(x) मस्तिष्क क्षोभ (Meningeal Inritation)
(xi) हृदय गति में अनियमितता (Cardiac Arrythmias)
(xii) रक्त स्राव (Haemorrhage)
(xiii) प्रारम्भ में श्वेत रक्त कणिकाओं की वृद्धि एवं कुछ समय पश्चात उनमें क्षय (Primarily Leucocytosis and latter Leucopenia)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. लसीका चिकित्सा से पूर्व उसकी सम्वेदनशीलता की जांच
3. लाक्षणिक चिकित्सा
4. पथ्यापथ्य का पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. अनूर्जता नाशक औषधियों जैसे हरिद्राखण्ड, शिरीष अवलेह, Chlorpheneramine Maleate, अथवा Cetrizine का प्रयोग
3. Use of corticosteroids

4. Calcium gluconate with vitamin C 10%, 10cc का Intravenous प्रयोग
5. Inj. Adrenaline 0.5 ml IM.

आयुर्वेदीय चिकित्सा

		प्रात : सायं
1.	हरिद्रा खण्ड	: 2 ग्राम
	शिरीषादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	दुग्ध से	1 × 4 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	रस सिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध स्वर्ण गैरीक	: 125 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 4 मात्रा
3.	शिरीषादि क्वाथ	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	जल से	1 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य का पालन	

5. अनूर्जता

(Allergy)

परिभाषा

किसी पदार्थ के द्वारा विशेषत: उसका प्रयोग त्वचा, श्लैष्मिक कला और कभी-कभी मुख द्वारा करने से भी सामान्य व्यक्ति में कोई विपरीत प्रतिक्रिया नहीं हो, परंतु व्यक्ति विशेष में प्रबल, तीव्र अथवा भयंकर प्रतिक्रिया हो तो उस अवस्था अथवा रोग को अनूर्जता (Allergy) कहते हैं।

प्रमुख निदान

अनूर्जता (Allergy) का कोई विशेष निदान नहीं होता अपितु यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करती है। किसी द्रव्य विशेष के प्रति कभी साम्यता तो कभी अनूर्जता भी उत्पन्न

हो सकती है। वातावरण जन्य परिवर्तन, पर्यावरण, ऋतुपरिवर्तन एवं विशेष खाद्य पदार्थ इत्यादि अनूर्जता उत्पन्न करते हैं। निम्नलिखित स्थितियां अनूर्जता कारक अथवा अनूर्जता में वृद्धि कारक हो सकती हैं-

1. कुछ जान्तव द्रव्य जैसे पक्षियों के पर एवं रोम, ऊन इत्यादि, गिलहरी की रोएँदार त्वचा।
2. बिल्ली, कुत्ता, घोड़े एवं अन्य जानवरों का सम्पर्क।
3. बेसन, मैदा, अत्यधिक तला, भुना खाद्य पदार्थ।
4. मानसिक तनाव, मनोद्वेग, विभ्रम, कार्य का अधिक दबाव, कार्यालय में कार्य संस्कृति का अभाव इत्यादि।
5. पारिवारिक कठिनाईयां, दैनिक जीवन में असंतुलन, सहन शक्ति का अभाव इत्यादि।
6. शीत, उष्ण वातावरण जन्य परिवर्तन, ऋतुजन्य परिवर्तन इत्यादि।
7. धूल, धुआं, कारखाना, कोयले की खान, पत्थर कटाई की खान, इत्यादि के द्वारा भी अनूर्जता फैलती है।
8. असात्म्य खाद्य द्रव्यों का प्रयोग जैसे दूषित आहार में विटामिन की कमी, पोषक द्रव्यों का अभाव इत्यादि।
9. मांस, प्रदूषित मत्स्य, केकड़े, अंडा, इत्यादि पदार्थ।
10. विभिन्न प्रकार की औषधियां मुख्यत: पेनिसिलीन एवं सल्फर वर्ग की औषधियां अत्यधिक अनूर्जता कारक होती हैं।
11. अष्टाहार विधि विशेषायतन एवं द्वादशासन के अनुसार आहार ग्रहण नहीं करना भी अनूर्जता कारक हो सकता है।
12. परिवार में किसी व्यक्ति में अनूर्जता का इतिहास उसके सन्तति में भी अनूर्जता उत्पन्न कर सकती है।
13. वस्तुत: अनूर्जता के कारणों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। न ही कोई द्रव्य सदैव अनूर्जता कारक होता है। अत: कोई भी पदार्थ या विषय एक समय अनूर्जता कारक हो सकता है तथा बाद में परिस्थितियां बदल जाने पर वहीं पदार्थ सात्म्य भी हो सकता है।

सम्प्राप्ति

बाहर से प्रयुक्त कोई द्रव्य अथवा परिवेश उस व्यक्ति विशेष के लिए प्रतिजन (Antigen) का कार्य करता है। यह प्रतिजन (Antigen) शरीर के लिए सात्म्य नहीं होता है। फलस्वरूप शरीर की स्वाभाविक प्रतिक्रिया से उस द्रव्य विशेष के प्रतिरोधी (Antibody) बनने लगते हैं लेकिन प्रतिरोधी की मात्रा कम होने एवं प्रतिजन की मात्रा अधिक होने के कारण ऊतकों में उपस्थित मास्ट कोशिकाऐं (Mast cells) अधिक टूटने

लगती हैं। इन Mast cells के टूटने से Histamine, Acetylcholine एवं Heparin आदि द्रव्य अधिक मात्रा में बनकर रक्त में संचरित होने लगते है एवं इनके रक्त में पहुंचते ही शरीर में अनूर्जता (Allergy) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। साधारणत: 2-10 प्रतिशत व्यक्तियों में अनूर्जता का इतिहास मिलता है।

प्रमुख लक्षण

अनूर्जता जनित लक्षणों में बहुत अधिक विभिन्नता मिलती है एवं यह उस द्रव्य विशेष पर निर्भर करती है जिससे शरीर में अनूर्जता उत्पन्न होती है। अनूर्जता जनित कुछ प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. धमनी (Arterties) एवं सूक्ष्म सिराओं (Capillaries) की दीवारों में शिथिलता।
2. त्वचा में लालिमा की उत्पत्ति (Redness in skin)
3. धमनी एवं सिराओं की शिथिलता से शोथ की उत्पत्ति (Oedema)
4. धमनी एवं शिरा शैथिल्य होने से हाथ एवं पैरों का ठंडा हो जाना।
5. ठंडा पसीना आना (Cold Sweating)
6. हृदय गति में तीव्रता (Tachycardia)
7. श्वासकृच्छ्रता (Breathlessness)
8. शिर: शूल (Headache)
9. दृष्टिमन्दता (Blurred vision)
10. आमाशय में अम्लता की वृद्धि (Hyperacidity)
11. स्तब्धता (Shock)
12. मृत्यु (Death)

अनूर्जता जनित प्रमुख व्याधियां

अनूर्जता से निम्नलिखित प्रमुख व्याधियां उत्पन्न होती हैं-

1. श्वास रोग (Allergic Asthma)
2. शीत पित्त (Urticaria)
3. नासा शोथ (Rhinitis)
4. नासा परिस्राव (Running Nose)
5. क्षवथु (Sneezing)
6. नासापाक (Rhinitis Sicca)
7. त्वक् शोथ (Inflammation of skin)
8. फुफ्फुसीय श्वास रोग (Pulmonary Asthma)
9. मसूड़ों में शोथ (Inflammations of gums)
10. ज्वर (Allergic fever)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. समुचित दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन
3. संतुलित एवं पौष्टिक खाद्य पदार्थों का सेवन
4. पथ्यापथ्य का पालन
5. रोगानुसार लाक्षणिक चिकित्सा
6. अनूर्जता कारक द्रव्यों को सात्म्य बनाने का प्रयास

आदर्श चिकित्सा सूत्र

		प्रात :	सायं
1.	आमलकी चूर्ण	: 2 ग्राम	
	हरिद्रा खण्ड	: 2 ग्राम	
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा	
2.	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.	
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.	
	स्वर्ण गैरीक	: 125 मि.ग्रा.	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
3.	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 500 मि.ग्रा.	
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा	
4.	भोजनोत्तर		
	फलत्रिकादि क्वाथ	: 20 मि.लि.	
	शिरीषादि क्वाथ	: 20 मि.लि.	
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा	

5. पथ्यापथ्य का पालन
6. अनूर्जता कारक द्रव्यों का अत्यंत अल्प मात्रा में सेवन कराते हुए धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाकर सात्म्य बनाने का प्रयास

6. चिकित्सक प्रेरित विकार

(Iatrogenic Disorders)

परिचय

चिकित्सा कार्य एक अत्यंत महत्वपूर्ण, जिम्मेदारी युक्त एवं रोगी के जीवन से जुड़ा हुआ कार्य होता है। चिकित्सक की थोड़ी सी असावधानी अथवा भूल रोगी को मृत्यु के मुख में पहुंचा सकती है। इसलिए चिकित्सक का यह दायित्व होता है कि वह अच्छी

प्रकार से रोग एवं रोगी परीक्षण करने के उपरान्त ही औषधि का प्रयोग करे। यदि चिकित्सक उस व्याधि विशेष को समझने में असमर्थ हो अथवा चिकित्सा में असहाय महसूस कर रहा हो तो उसे बिना संकोच के रोगी को विशेषज्ञ चिकित्सक के पास भेज देना चाहिए।

चिकित्सक के प्रमुख गुण

आचार्य चरक ने आरोग्य प्रदान करने वाले चिकित्सक को चिकित्सा में कारण कहा है एवं उसके अनेक गुण बताए हैं। जैसे वैद्य को आयुर्वेद के सूत्रों का अर्थ जानने एवं प्रयोग करने में कुशल होना चाहिऐ एवं उसे सम्पूर्ण शास्त्र का विधिवत ज्ञान होना चाहिये। सुयोग्य वैद्य में निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिऐ[1]-

1. पर्यवदाश्रुतता (शास्त्रों का परिष्कृत ज्ञान)
2. प्रत्यक्ष चिकित्सा कर्माभ्यास में निपुणता
3. कुशलता (संकट को तत्काल दूर करने की क्षमता)
4. पवित्रता
5. जितहस्तता (हाथों का यशस्वी होना)
6. सर्व साधन सामग्री से युक्त होना
7. सर्वेन्द्रिय सम्पन्नता
8. रोग एवं रोगी की प्रकृति को जानने वाला
9. युक्तिज्ञ (आत्ययिक चिकित्सा में कुशल)

इन गुणों से युक्त चिकित्सक ही अपने कर्त्तव्य का पालन करने में समर्थ एवं सफल होते हैं—

आचार्य चरक ने रोगाभिषर एवं प्राणाभिषर वैद्यों के लक्षणों का भी वर्णन किया है एवं रोगाभिषर वैद्यों को त्यागने का निर्देश किया है।

चिकित्सक प्रेरित विकार परिभाषा

चिकित्सक के द्वारा प्रयुक्त निदान अथवा चिकित्सा से स्वतंत्र रूप से उत्पन्न विकार (मूल विकार जिसके लिए चिकित्सा की जा रही है उससे अलग हो) को चिकित्सक प्रेरित विकार कहते हैं।

यहां पर रोगी के रोग की स्थिति का कोई महत्व नहीं होता है। यह चिकित्सक की जिम्मेदारी होती है कि वह बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से औषधि की क्रिया, उसके हानिकारक प्रभाव, एवं औषधि का मूल्य इत्यादि भावों का विचार करने के बाद ही औषधि का प्रयोग करे।

1. तद्यथा—पर्यवदाश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता, चेति। (च.वि. 8/86)—

चिकित्सा कार्य में व्यावहारिक रुख अपनाने की अत्यंत आवश्यकता होती है, क्योंकि कोई भी औषधि अथवा यंत्र शस्त्र ऐसा नहीं है जिसके असम्यक प्रयोग से हानि की सम्भावना नहीं हो। चिकित्सक को यह विचार करना चाहिए कि उसके द्वारा प्रयुक्त औषधि यदि कम हानि में अधिक लाभ देती हो तो उसका प्रयोग सावधानी पूर्वक किया जा सकता है या वह औषधि यदि रोगी की जीवन रक्षा के लिए आवश्यक है तो निश्चित रूप से छोटे-छोटे विकारों का ध्यान न रखकर अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

जैसे Systemic lupus erythmatosis में Steroids का प्रयोग करने से कुशिंग सिन्ड्रोम (Cushing Syndrome) होने की सम्भावना रहती है। परंतु यहां पर Steroids प्रयोग करने से होने वाली हानि, औषधि की लाभ की तुलना में कुछ भी नहीं है। परंतु यदि सामान्य आमवात के रोगी में Steroids का अधिक प्रयोग किया जाये तो आमाशयिक रक्तस्राव एवं छिद्रोदर होने की प्रबल सम्भावना रहती है। यहां पर लाभ कम और नुकसान अधिक होने की सम्भावना रहती है। अत: इस अवस्था में Corticosteroids के निरंतर प्रयोग से उत्पन्न छिद्रोदर एवं आमाशयिक रक्तस्राव चिकित्सक प्रेरित विकार की श्रेणी में आते हैं।

चिकित्सक प्रेरित कुछ प्रमुख विकार

चिकित्सक की चूक एवं असावधानी पूर्ण गलतियों से अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो सकते हैं एवं रोगी की मृत्यु तक हो सकती है। इस श्रेणी के कुछ प्रमुख विकार निम्नलिखित हैं-

1. व्याधि का समुचित निदान नहीं होने पर अनावश्यक औषधि प्रयोग।
2. त्रुटि पूर्ण सूची वेध करना या अवांछित शल्य क्रिया सम्पादित करना।
3. गर्भ को गुल्म समझकर भ्रूण की हत्याकर देना।
4. प्राणवायु (Oxygen) एवं संज्ञाहरण (Anaesthesia) का अनुचित प्रयोग।
5. अवेध्य सिरा का सिरावेधन करना।
6. मर्म एवं संधि स्थानों पर अग्निकर्म एवं वेधन करना।
7. पंचकर्म के अतियोग, मिथ्यायोग अथवा हीन योग से अनेक व्यापत्तियों की उत्पत्ति हो सकती है।
8. आचार्य सुश्रुत ने बस्ति प्रकरण में 44 प्रकार के चिकित्सक प्रेरित विकारों का उल्लेख किया है।
9 वमन का उचित लक्षण उत्पन्न हुए बिना ही वमन कराना।
10. स्नेहन, स्वेदन, संसर्जनक्रम में विभिन्न प्रकार के व्यतिक्रम होना।
11. शल्यक्रिया के पश्चात कुछ शस्त्र, रुई, पिन, धागा इत्यादि व्रण में छूट जाना।
12. औषधि की अनूर्जता की समुचित परीक्षा किये बिना औषधि प्रयोग करने से उत्पन्न विकार।

1. एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशत् व्यापद्यो वैद्य निमित्ता: (सु.चि. 35/32)

13. चिकित्सा करते समय चिकित्सा सिद्धांतों की उपेक्षा से भी विकार उत्पन्न होते हैं।
14. फुफ्फुसावरण से सूचीवेध द्वारा द्रव निकालते समय उपद्रव उत्पन्न होना।
15. सिरा मार्ग से आधान करते समय बीच में वायु का रह जाना, जो अत्यंत घातक होता है एवं रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।
16. विष चिकित्सा में आमाशय प्रक्षालन के लिए नली डालते समय नली का श्वास मार्ग (Trachea) में चले जाना एवं बिना परीक्षण किये ही कि नलिका आमाशय में पहुंची है कि नहीं, द्रव पदार्थ डालने से वह द्रव फुफ्फुस में पहुंचकर अत्यधिक हानि पहुंचा सकता है।
17. रक्ताधान से पूर्व संक्रामक रोग, विषाक्तता इत्यादि का बिना परीक्षण किये ही रक्ताधान (Blood Transfusion) करना।
18. बिना रक्त समूह (Blood group) की जांच किये ही रक्ताधान करना।

इस प्रकार से अनेकों प्रकार के अन्य चिकित्सक प्रेरित विकार भी हो सकते हैं जिनसे चिकित्सक द्वारा सावधानी रखने पर बचा जा सकता है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन।
2. समुचित परीक्षण के बाद ही औषधि प्रयोग।
3. रोगी एवं रोग परीक्षा का गहन आंकलन करने के पश्चात ही औषधि निर्धारण।
4. चिकित्सा के प्रत्येक कदम पर सावधानी पूर्वक एवं सोच समझ कर निर्णय करना।
5. रोगी के हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता देना।
6. चिकित्सा कार्य को सेवा भाव के रूप में महत्व देना।
7. चिकित्सक एवं रोगी के संबंधों में तारतम्यता एवं आपसी समझ का विकास करना।
8. प्रयोगशालीय परीक्षणों जैसे सुषुम्नाकाण्ड से सुषुम्ना द्रव (C.S.F.) निकालना, फुफ्फुसावरण शोथ में द्रव का आहारण, जलोदर में उदरावरण कला से द्रव निकालना इत्यादि कार्य अत्यंत सावधानी पूर्वक करना।
9. रक्ताधान से पूर्व रक्त की निर्धारित जांच जैसे भारत सरकार ने रक्ताधान से पूर्व चार प्रकार की जांच को अनिवार्य बनाया है जो निम्न प्रकार हैं-
   Hepatitis B, Hepatitis C, Syphilis and AIDS इनके लिए परीक्षित रक्त का ही प्रयोग करना चाहिऐ।
10. पेनिसिलिन वर्ग या सल्फर वर्ग एवं अन्य औषधियों की अनूर्जता परीक्षण के बाद ही उनका प्रयोग करना।

अध्याय-8

क्षुद्ररोग एवं उनकी चिकित्सा

1. परिचय

आयुर्वेद में क्षुद्र रोगों में अनेक छोटे-छोटे रोगों का संग्रह किया गया है। क्षुद्र व्याधियों के अंतर्गत संग्रहीत रोगों की विशेष दोष, दूष्य, निदान, सम्प्राप्ति इत्यादि स्पष्ट नहीं होने के कारण ही संहिता ग्रंथों में सम्भवत: पर्याप्त महत्व नहीं दिया गया है। आचार्य चरक ने क्षुद्र रोगों का अलग से किसी अध्याय में वर्णन नहीं किया है और न ही क्षुद्र संज्ञा दी हैं परंतु विकीर्ण रूप से विभिन्न क्षुद्र रोगों का वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने 44, आचार्य वाग्भट ने 36 एवं आचार्य माधवकर ने 43 क्षुद्र रोगों का अलग अध्याय के रूप में वर्णन किया है। आचार्य वाग्भट ने सुश्रुत द्वारा वर्णित कई व्याधियों को नामान्तर से वर्णित किया है जैसे इन्द्रविद्धा को विद्धा, अंधालजी को अलजी, मशक को माष एवं न्यच्छ को लाञ्छन नाम दिया है। आचार्य वाग्भट ने इन्द्रलुप्त, दारुणक, पलित, एवं अरुषिका का वर्णन शिरोरोग अध्याय में किया है। परिवर्तिका, अवपाटिका एवं निरुद्ध प्रकश का वर्णन आचार्य वाग्भट्ट ने गुह्य रोगाधिकार में किया है एवं अनुशयी, रकसा, पाददारिका, वृषणकच्छू एवं गुदभ्रंश का उल्लेख न करते हुए, गर्दभी, गंधनामा, इरिवेल्लिका, उत्कोट एवं कोठ का अतिरिक्त वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने पामा एवं विचर्चिका का उल्लेख क्षुद्ररोग एवं कुष्ठ रोग दोनों में किया है परंतु आचार्य वाग्भट एवं आचार्य माधवकर ने इनका वर्णन केवल कुष्ठ रोग में ही किया है। आचार्य माधवकर ने आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट द्वारा संक्षिप्त में वर्णित मसूरिका एवं विस्फोट का युगानुरूप संदर्भ में पृथक अध्याय में विस्तृत वर्णन किया है तथा नीलिका एवं वराहदंष्ट का अतिरिक्त उल्लेख किया है। सूक्ष्म विवेचन करने से क्षुद्र रोगों के अनेक भेद एवं नाम मिल सकते हैं। परंतु सामान्य जन में प्रकीर्ण रूप से पाये जाने वाले रोगों का ही वर्णन क्षुद्र रोगों में किया गया है जो किसी वर्ग विशेष में वर्णित नहीं हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता - यत्र तत्र विकीर्ण रूप में
2. सुश्रुत संहिता निदान स्थान - अध्याय 13
3. सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान - अध्याय 20
4. अष्टांग हृदय उत्तर स्थान - अध्याय 31 एवं 32
5. माधव निदान - अध्याय 55
6. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड - अध्याय 61

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. 'क्षुदिर सम्पेषणे' धातु से उष्णादि सूत्र से 'रक्' प्रत्यय करने पर 'क्षुद्र' शब्द बनता है[1]। जिसका अर्थ है पीसने वाला।
2. 'क्षुदिर सञ्चूर्णने' क्षुद्यते वा। से भी 'क्षुद्र' शब्द बनता है।

परिभाषा

क्षुद्र रोगों को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। कुछ प्रमुख परिभाषाऐं एवं उनकी व्याख्या निम्न प्रकार हैं-

1. क्षुद्र रोग का अर्थ छोटा या लघु है। अर्थात् जिन रोगों का वर्णन अति संक्षेप में किया गया हो, उन्हें क्षुद्र रोग कहते हैं।
2. परिशिष्ट, बचे हुए रोग अर्थात् जिन रोगों का अन्य प्रकरण में किसी विशेष वर्गीकरण के अनुसार समावेश नहीं हो सकता है उन्हें क्षुद्ररोग कहा जा सकता है।
3. क्षुद्र रोग कुछ रोगों की पारिभाषिक संज्ञा है।
4. क्षुद्र का अर्थ भयंकर एवं नीच भी है जैसे अग्निरोहिणी अत्यन्त भयंकर रोग है वहीं दूसरी ओर पलित जैसे नीच रोग भी हैं। अत: इनकी संज्ञा क्षुद्र रोग है।
5. जिन रोगों के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा अतिसंक्षिप्त एवं साधारण हों उन्हें भी क्षुद्र रोग कहते हैं।
6. कुछ आचार्यों के अनुसार 'क्षुद्रानां बालानां रोगा:' अर्थात् क्षुद्र रोग बालकों का रोग हैं। परंतु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है. क्योंकि अधिकांश व्याधियां बच्चों एवं वयस्कों दोनों में ही समान रूप से होती हैं।
7. जिन रोगों में दोष दूष्य विवेचन संक्षिप्त रूप में वर्णित हो, उन्हें भी क्षुद्र रोग कहते हैं।

वस्तुत: यदि सूक्ष्म दृष्टि से स्वतंत्र विवेचन किया जाय तो क्षुद्र संज्ञा के पीछे कोई विशेष महत्वपूर्ण तथ्य प्रतीत नहीं होता है।

पर्याय

क्षुद्र रोगों के अनेक पर्याय प्रचलित हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं[2]-

दरिद्र, कृपण, निकृष्ट, अल्प, नृशंस, कर्दम, क्षुद्र, अधम, क्रूर इत्यादि। यह सभी एक समान अर्थ को व्यक्त करते हैं।

इस अध्याय में प्रमुख क्षुद्र रोगों का क्रमश: वर्णन किया जा रहा है।

---

1. कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचा। (अमरकोश 3/1/48 पर रामाश्रयी टीका)
2. क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयो:। (हेमचंद्र/रामाश्रयी टीका अ.3/2/48)
   क्रूरेऽघनेऽल्पेऽपि क्षुद्र:। (अमर कोष 3/3/117)
   क्षुद्र: स्याद् धनक्रूर कृपणाऽल्पेषुवाच्यवत् (विश्वकोष अमर 3/3/177 रामाश्रयी)

2. अजगल्लिका

सामान्य लक्षण

अजगल्लिका के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

1. यह कफ और वात दोष प्रधान, बालकों में उत्पन्न होने वाली, मूंग के दाने के समान पिड़का होती है जो स्निग्ध एवं त्वचा के समान वर्ण वाली होती है (It is a rash which is smooth, small and like the colour of the skin)
2. यह पिड़का गांठयुक्त एवं वेदना रहित होती है (It is painless, glandular swelling)
3. यह प्राय: बालकों में होती है
4. कफ एवं वात दोष की प्रधानता से यह पिड़का उत्पन्न होती है

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. अपक्व अजगल्लिका में जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करावें।
2. रक्तमोक्षण के पश्चात शुक्ति, सज्जीक्षार एवं यवक्षार को जल में पीसकर लेप करें।
3. श्यामा, कलिकारी एवं पाठा कल्क का भी लेप कर सकते हैं।
4. पक्व अवस्था में व्रण चिकित्सा के समान शोधन एवं रोपण करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध स्वर्ण गैरीक	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1 × 2 मात्रा
2.	इंदुकला वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद या दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
3.	स्थानीय प्रयोग	: जात्यादि घृत से लेप
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

---

1. स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा ग्रंथिसन्निभा।
   कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका॥ (सु.नि 13/4)
2. तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत्। शुक्तिश्रुध्नीयवक्षारकल्कैश्चालेपयेद्भिषक्॥
   श्यामालाङ्गलकीपाठाकल्कैर्वाऽपि विचक्षण:। पक्वां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयेत्॥
   (सु.चि. 20/3-4)

3. यवप्रख्या

सामान्य लक्षण

यह एक प्रकार की पिड़का है जो निम्न लक्षणों से युक्त होती है[1]—

1. आकार जौ (यव) के समान (It is like barley)
2. स्पर्श में अधिक कठिन एवं गांठदार (Very hard and glandular)
3. पिड़का मांस् में स्थित होती है
4. कफ एवं वात दोष से उत्पन्न होती है

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. स्थानीय स्वेदन का प्रयोग
3. स्वेदन के पश्चात विम्लापन करें। इसके लिए मन:शिला, हरताल, कुष्ठ, देवदारु के कल्क का लेप करें।
4. पक्वावस्था होने पर व्रण के समान शोधन-रोपण चिकित्सा करें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात :	सायं
1.	काञ्चनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
2.	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.	
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.	
	मंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम	
	मधु से	1 × 2 मात्रा	
3.	महामंजिष्ठादि क्वाथ	: 20 मि.लि.	
	सम भाग जल से	1 × 2 मात्रा	
4.	लेपनार्थ	: कुष्ठादि लेप	
5.	पथ्यापथ्य का पालन		

1. यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
   पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते॥ (सु.नि. 13/5)
2. मन:शिलातालकुष्ठदारुकल्कै: प्रलेपयेत्।
   परिपाकगतान् भित्वा व्रणवत् समुपाचरेत्॥ (सु.चि. 20/6)

4. अंधालजी

सामान्य लक्षण

यह निम्न लक्षणों से युक्त पिड़का होती है[1]—

1. यह कठिन, ऊंची, उठी हुई एवं मुख रहित होती है
2. आकार में मण्डलाकार या गोल
3. पिड़का में अल्प पूय (Pus)
4. कफ एवं वात दोष प्रधान

आचार्य माधव ने इसे अन्त्रालजी एवं आचार्य वाग्भट ने अलजी नाम दिया है।

चिकित्सा सिद्धांत

अन्धालजी में दोष-दूष्य सभी यवप्रख्या के समान ही हैं। अत: यवप्रख्या के समान ही सभी चिकित्सा सिद्धांत अपनाना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात :	सायं
1.	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.	
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.	
	कांचनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.	
	गुडूच्यादि चूर्ण	: 2 ग्राम	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
2.	अमृतादि क्वाथ	: 20 मि.लि.	
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा	
3.	स्थानीय स्वेदन		
4.	स्थानीय लेप	: दशांग लेप	
5.	पथ्यापथ्य का पालन		

1. घनामवक्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
   अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम्॥ (सु.नि. 13/6)

5. विवृत्ता

(Boils)

सामान्य लक्षण

यह निम्न लक्षणों से युक्त पिड़का होती है[1]—

1. पिड़का का मुख विवृत्त अर्थात खुला हुआ होता है
2. अत्यधिक जलन युक्त
3. वर्ण में पक्व गूलर फल के समान
4. पित्त दोष के प्रकोप से उत्पन्न

आचार्य वाग्भट ने विवृत्ता में ज्वर लक्षण भी बताया है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन करे
2. पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें
3. मधुर औषधियों के क्वाथ से सिद्ध घृत द्वारा व्रण रोपण।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	नवक गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 500 मि.ग्रा.
	महामंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	स्थानिक प्रयोग	: जात्यादि घृत से लेप
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

1. विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम्।
   विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम्॥ (सु.नि. 13/7)
2. विवृत्तामिन्द्रवृद्धां च गदभीं जालगर्दभम्। इरिवेल्लीं गंधनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा॥
   पित्तजन्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक्।
   रोपयेत् सर्पिषां पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः॥ (सु.चि. 20/7-8)

Latest Developments
Boils

Definition

Boils are an acute Staphylococcal infection of hair follicles with perifolliculitis.

Signs and Symptoms

1. It is very painful and gradualy extending.
2. Associated with hardness and surrounding oedema.
3. After two days there is softening at the centre and develops like pustules.
4. It bursts spontaneously discharging small amount of slough. After this a deep cavity develops lined by granulation tissue which heel by itself.

Management : Principles

1. Incision not necessary. Touch of Iodine on the skin, pustule will hasten, necrosis of overlying skin and help to drain out pus.
2. After escape of pus, it should be cleaned with a suitable disinfectant regularly.
3. Symptomatic management.

6. कच्छपिका

सामान्य लक्षण

यह निम्न लक्षणों से युक्त पिड़का होती है[1]—

1. कफ एवं वात दोष प्रधान
2. यह कच्छप (कछुआ) के पृष्ठ समान मध्य में ऊंची उठी हुई होती है
3. यह संख्या में 5-6, भयंकर वेदना युक्त एवं ग्रंथियों वाली होती है

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. सर्वप्रथम स्वेदन करें

1. ग्रन्थयः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः।
   कफानिलाभ्यामुद्भूतां विद्यात्तां कच्छपीमिति॥ (सु.नि. 13/8)
2. कच्छपी स्वेदयेत्पूर्वं ततः एभिः प्रलेपयेत्।
   कल्कीकृतैर्निशाकुष्ठाशिलातालकदारुभिः॥
   तां पक्वां साधयेच्छीघ्रं भिषग्व्रणचिकित्सया॥ (यो.र. क्षुद्ररोग चिकित्सा /1)

2. अपक्ववावस्था में हरिद्रा, कुष्ठ, मन:शिला, हरताल एवं देवदारु को समभाग में लेकर जल में पीसकर कल्क बनाकर लेप करें
3. पक्वावस्था में भेदन करके व्रण के समान शोधन एवं रोपण करें

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	काञ्चनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	महामंजिष्ठादि क्वाथ	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	रात्रि में	
	त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
4.	स्थानीय लेप	: दशांग लेप
5.	पथ्यापथ्य का पालन	

7. वल्मीक

(Actinomycosis)

सामान्य लक्षण

यह निम्न लक्षणों से युक्त एक प्रकार की गांठ होती है[1]—

1. यह प्राय: त्रिदोष से उत्पन्न होती है
2. यह प्राय: हस्त, पादतल, संधियों, ग्रीवा एवं जत्रु के ऊपर उत्पन्न होती है
3. वल्मीक (मृत्तिका का ढेर) के समान धीरे-धीरे बढ़ती है
4. सुई चुभोने के समान वेदना युक्त
5. क्लेद, दाह एवं कण्डूयुक्त तथा व्रण से व्याप्त ग्रंथि सदृश होती है

आचार्य माधवकर ने वल्मीक की उत्पत्ति कक्षा एवं अंश प्रदेश में भी बतायी है। चिकित्सा नहीं करने पर यह विसर्प के समान फैलती है।

---

1. पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि। ग्रंथिर्वल्मीकवद्यस्तु शनै: समुपचीयते॥
तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृत:। व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भव:॥
(सु.नि. 13/8-9)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसे Actinomycosis मान सकते हैं।

असाध्य लक्षण[1]

1. हाथ पैरों के ऊपर उत्पन्न वल्मीक असाध्य होती है।
2. अनेक छिद्रों से युक्त एवं
3. शोथ युक्त वल्मीक की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

चिकित्सा सिद्धांत

1. **शस्त्र कर्म**[2] : वल्मीक को शस्त्र से काटकर क्षार एवं अग्नि से दहन कर्म कर अर्बुद के समान चिकित्सा करें।
2. **शोधन चिकित्सा**[3] : यदि वल्मीक छोटी तथा मर्मस्थान में अवस्थित नहीं हो तो वमन, विरेचन के पश्चात रक्तमोक्षण करावें।
3. शोधन कर्म के पश्चात कुलत्थ मूल, गुडूची, लवण, अमलतास मूल, दन्ती मूल, कृष्ण निशोथ मूल, तिलपिष्टी (पलल), धान के लावा को समभाग लेकर जल में पीसकर लेप लगावें[4]।
4. **पक्वावस्था में** : पूय की गति का अनुमान कर शस्त्र से भेदन करें एवं व्रण को शुद्ध कर अग्नि कर्म करें[5]।
5. वल्मीक के दूषित मांस को शुद्ध कर क्षार से प्रतिसारण करें[6]।
6. अनेक छिद्र एवं व्रण वाले वल्मीक में मन: शिलादि तैल से सिञ्चन करावें[7]।

---

1. पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृत्तम्। वल्मीकं यत् सशोथं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता॥
(सु.चि. 20/56)
2. शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत्।
विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत्॥ (सु.चि. 20/48)
3. वल्मीकं तु भवेद्यस्य, नातिवृद्धममर्मजम्।
तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद्भिषक्॥ (सु.चि. 20/49)
4. कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च।
आरवेतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैश्तथैव च॥
श्यामामूलै: सपललै: शक्तुमिश्रै: प्रलेपयेत्।
सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक् तमुपनाहयेत्॥ (सु.चि. 20/50-51)
5. पक्वं का तद्विजानीयाद् गती: सर्वा यथाक्रमम्।
अभिज्ञाय ततश्छित्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक्॥ (सु.चि. 20/52)
6. संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत्।
व्रण विशुद्ध विज्ञाय रोपयेन्मतिमान भिषक्॥ (सु.चि. 20/53)
7. सुमना ग्रन्थयश्चैव भल्लातक मन:शिले।
कालानुसारी सूक्ष्मैला चन्दनागुरुणी तथा॥
एतै: सिद्ध निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम्। (सु.चि. 21/54-55)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात :	सायं
	आरोग्यवर्धिनी वटी	:	500 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	:	250 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	:	125 मि.ग्रा.
	बालसुधा	:	250 मि.ग्रा.
	शहद से		1 × 2 मात्रा
2.	त्रिफला गुग्गुलु	:	500 मि.ग्रा.
	जल से		1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर		
	खदिरारिष्ट	:	20 मि.लि.
	समभाग जल से		1 × 2 मात्रा
4.	स्थानीय लेपनार्थ	:	जात्यादि तैल
5.	पथ्यापथ्य का पालन		

Latest Developments

Actinomycosis

Definition

Actinomycosis is a bacterial disease which is caused by the organism Actinomyces israeli, which is a saprophyte of human gut and mouth.

Sings and Symptoms

1. A reddish purple brown firm to hard mass with sinus discharging purulent material is seen.
2. Cervico facial involvement follows after injury.
3. Sinus discharge yellowish (Sulpher) granules at the angle of jaw.
4. It is a slowly involving disease of the foot in farmer and those walking bare foot.

Management : Principles

1. Prolonged administration of Penicillin is usually effective.
2. Penicillin allergic patients have to be treated with Erythromycin or Tetracycline.
3. Oral Amoxycillin for several months is advised.
4. Surgical incisions and drainage of accessible lesions.

8. इन्द्रवृद्धा

सामान्य लक्षण

इन्द्रवृद्धा पिड़का के लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

1. यह वात एवं पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होती है
2. पिड़का का आकार कमल की कर्णिका के समान होता है एवं यह छोटी छोटी अनेक पिड़िकाओं से व्याप्त होती है

आचार्य वाग्भट ने इसे वृद्धा नाम दिया है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें
3. काकोल्यादि गण की मधुर औषधियों के क्वाथ से सिद्ध घृत द्वारा व्रण का रोपण करावें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	स्थानिक लेप	:	पंचवल्कल कल्क या दशांग लेप घृत मिलाकर करें
2.	प्रक्षालन	:	त्रिफला क्वाथ या पंचवल्कल क्वाथ से
3.	भोजनोत्तर		
	पंचनिम्बादि चूर्ण	:	2 ग्राम
	महामंजिष्ठादि चूर्ण	:	2 ग्राम
	शहद से		1 × 2 मात्रा
4.	पंचतिक्त घृत	:	20 मि.ली.
	उष्ण दुग्ध से		1 × 2 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य का पालन		

1. पद्मपुष्करवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्।
इन्द्रवृद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक्॥ (सु.नि. 13/11)

9. पनसिका

सामान्य लक्षण

पनसिका पिड़का के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं[1]—

1. यह दोनों कानों पर अथवा उनके चारों ओर अथवा पृष्ठ पर उत्पन्न होने होंने वाली पिड़का है
2. पिड़का का आकार शालूक (कमलकंद) के समान होता है
3. पिड़का में तीव्र रुजा (वेदना) होती है
4. यह कफ एवं वात के प्रकोप से उत्पन्न होती है

आचार्य माधवकर ने कर्ण के भीतर उत्पन्न होने वाली इन्हीं लक्षणों से युक्त पिड़का को पनसिका माना है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. सर्वप्रथम स्वेदन करे। तत्पश्चात मन:शिला, हरताल, देवदारु, कुष्ठ एवं हरिद्रा को समभाग में लेकर बारीक पीसकर प्रलेप करें।
3. पक्वावस्था में व्रण के समान भेदन करके शोधन एवं रोपण करावें तथा कर्ण में कुम्भी तैल डालें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	त्रिफला गुग्गुलु	: 500 मि.ग्र.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
	घृत से	1 × 2 मात्रा
3.	लेपनार्थ	: कुष्ठादि लेप

4. पक्वावस्था में कुम्भी तैल कर्ण में डालना चाहिए
5. पथ्यापथ्य का पालन

---

1. कर्णोपरि समन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक्।
   शालूकवत्पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम्॥ (सु.नि. 13/12)
2. मन:शिलातालदारुकुष्ठकल्कै: प्रलेपयेत।
   परिपाकगतान् भित्वा व्रणवत् समुपाचरेत्॥ (सु.चि. 20/6)

10. जालगर्दभ

(Cellulitis)

सामान्य लक्षण

यह निम्न लक्षणों से युक्त अल्प पाक युक्त शोथ की अवस्था है[1]—

1. यह पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है
2. यह विसर्प के समान फैलता है
3. यह दाह, ज्वर, शोथ एवं पाक युक्त होता है

आचार्य चरक ने भी जालगर्दभ का वर्णन किया है एवं इसके सुश्रुत के समान ही लक्षण बतायें हैं[2]-

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार जालगर्दभ की साम्यता Cellulitis से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें
3. शोधन चिकित्सा[3]

(i) लङ्घन पाचन (ii) वमन, विरेचन (iii) रक्त मोक्षण

4. आमलकी रसायन का प्रयोग
5. शीतल प्रदेहों का लेप
6. **स्थानिक लेप :** नील एवं परवल मूल समभाग लेकर पीसकर घृत मिलाकर लेप करना चाहिऐ।
7. **मृणालादि लेप :** कमलनाल, खस, लोध्र, रक्तचन्दन, कमलपुष्प, नीलोफर, अनन्तमूल, आंवला, हरीतकी समभाग लेकर पीसकर लेप करें।

---

1. विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनु:।
   अपाक: श्वयथु: पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभ:॥ (सु.नि. 13/14)
2. मन्दास्तु पित्तप्रबला: प्रदुष्टा दोषा: सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
   कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पणं जालगर्दभाख्यम्॥ (च.चि. 12/99)
3. विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरुक्षणं कायविशोधनं च।
   धात्रीप्रयोगाञ् शिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात् सदा जालकगर्दभस्य॥ (च.चि. 12/100)

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध स्वर्ण गैरीक	: 250 मि.ग्रा.
	उष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
2.	द्राक्षावलेह	: 20 ग्राम
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments
Cellulitis

Definition

It is a non suppurative inflammation spreading along the subcutaneous tissue and connective tissue places.

Causative Organism

Mostly Streptococcus pyogenes.

Signs and Symptoms

1. There is varying degree of fever and toxaemia.
2. Affected part is much swollen, warm and tender.
3. There is pitting oedema and browing induration.
4. Surrounding lymphnodes enlarged and tender.

Management : Principles

1. Rest and elevation of affected part to reduce oedema.
2. Broad spectrum antibiotics.
3. Failure to subsiding the swelling within 48 to 72 hours leads to abscess formation. In this case incision and drainage is advised.

11. पाषाणगर्दभ

(Parotitis)

परिभाषा

स्थिर एवं कठिन पाषाण जैसी पिड़का को पाषाण गदर्भ कहते हैं। पाषाण जैसी कठिनता के कारण पाषाण गर्दभ नाम दिया गया है[1]।

सामान्य लक्षण

पाषाणगर्दभ के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]-

1. यह कफ एवं वात के प्रकोप से उत्पन्न होती है
2. यह अल्प पीड़ा युक्त एवं पाषाण जैसा स्थिर (कठिन) शोथ है
3. पाषाणगर्दभ प्रायः हनुसंधि प्रदेश में उत्पन्न होता है

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार पाषाणगर्दभ की तुलना Parotitis (Inflammation of the Parotid gland) से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. समस्त चिकित्सा अन्धालजी अथवा यवप्रख्या के समान करनी चाहिऐ।
3. आचार्य भावमिश्र के अनुसार पाषाणगर्दभ में जलौका से रक्त मोक्षण करने से यह बिना औषधि प्रयोग के ही ठीक हो जाता है[3]।
4. स्थानीय चिकित्सा
   (i) लवणपोट्टली से स्थानीय स्वेदन
   (ii) दशांग लेप का प्रयोग
   (iii) लवण को जल में पीसकर लगाऐं।
   (iv) मनःशिला, देवदारु और कुष्ठ पीसकर लेप करें।
   (v) पाक होने पर चीरा लगाकर व्रणवत उपचार करें।

---

1. स्थिरः कठिनः पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाणगदर्भः। (मधुकोश)
2. हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम्। पाषाणगर्दभं विद्याद्बलासपवनात्मकम्॥ (सु.नि. 13/13)
3. जलौकोभिर्हृते रक्ते स शाम्यति विनौषधम्। एतत्स्थलेषु बहुषु प्रेक्षितं लिखितं ततः॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/30)

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	व्याधिहरण रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
	गोदन्ती भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	मंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	मंजिष्ठादि क्वाथ	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	काञ्चनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	जल से	1 × 2 मात्रा
4.	स्थानीय लेप	: दशांग लेप
5.	गण्डूष धारण	: त्रिफला क्वाथ अथवा बालसुधा मिश्रित जल से
6.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments
Parotitis

Definition

Inflammation of parotid gland is called as Parotitis.

Causes

1. Infections : Mumps, post operative bacterial Parotitis.
2. Calculi
3. Tumours :

(i) Benign- Pleomorphic adenoma.
(ii) Intermediate- Mucoepidumoid tumour.
(iii) Malignant- Carcinoma.

Management : Principles

1. Use of Broad spectrum antibiotics.
2. If it develops into abscess, surgical drainage.
3. Symptomatic Management.

12. कक्षा

(Herpes Zoster)

सामान्य लक्षण

शास्त्रों में कक्षा का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

1. कक्षा की उत्पत्ति पित्त दोष के कारण होती है[1]
2. यह बाहु, पार्श्व, अंश (स्कंध) एवं कक्षा में उत्पन्न होता है
3. इसमें कृष्ण वर्ण के वेदना युक्त स्फोट (Blisters) उत्पन्न होते हैं
4. आचार्य चरक ने इसे वात पित्त प्रकोप से उत्पन्न एवं यज्ञोपवीत सदृश पिड़काओं को कक्षा कहा है[2]
5. आचार्य वाग्भट ने वात पित्त जन्य एवं लाजा समान सूक्ष्म पिड़का को कक्षा माना है[3]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कक्षा की साम्यता Herpes Zoster नामक व्याधि से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. अपक्वावस्था में दशांग लेप लगावें, अथवा अध: पुष्पी एवं शहतूत की पत्ती का गर्म उपनाह लगावें।
3. पक्वावस्था में पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें।
4. मधुर औषधियों के क्वाथ से सिद्ध घृत द्वारा व्रण का रोपण करें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	अष्टमूर्ति रसायन	: 125 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	कर्पूरधारा योग	: 10 बूंद
	बतासा एवं जल से	1 × 6 मात्रा

---

1. बाहुपार्श्वंसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
   पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत्॥ (सु.नि. 13/15)
2. यज्ञोपवीतप्रतिमा: प्रभूता: पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षा:॥ (च.चि. 12/91)
3. कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषु साऽनिलात्।
   पित्ताद् भवन्ति पिटिका: सूक्ष्मा लाजोपमा घना:॥ (अ.हृ.उ. 31/11)

3. स्थानीय प्रयोग : दशांग लेप
4. भोजनोत्तर
   अमृतारिष्ट : 20 मि.ली.
   द्राक्षारिष्ट : 20 मि.ली.
   समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
5. पथ्यापथ्य का सेवन

Latest Developments
Herpes Zoster (Shingles)

Definition

It is a unilateral inflammatory vesicular eruption caused by a latent herpes varicella virus.

Signs and Symptoms

1. Incubation period is 7-21 days.
2. In preeruptive stage pain with hyperaesthesia along the course of the nerve.
3. Fever.
4. Several oedematous patches along the course of the nerve which are very tender and painful.
5. The regional lymph nodes are enlarged and tender.
6. An attack lasts for 2-3 weeks.
7. Mostly the thoracic and lumbar dermatomes are affected.
8. If the ophthalmic division of trigeminal nerve is affected, there may be keratitis or uveitis with vesicles in the nose.

Complications

1. Post Herpetic neuralgia.
2. Keratitis and corneal ulcerations.
3. Encephalitis, Meningitis, Myelitis.

Management : Principles

1. Calamine lotion applied locally several times a day.
2. Analgesics/Anti inflammatory drugs.
3. Antibiotics
4. Steroids for reducing pain and avoiding complications. Prednisolone 40mg/day for 6 days.
5. Vitamin B_1, B_6, B_{12}
6. Other symptomatic management.

13. अग्नि रोहिणी

(Plague)

सामान्य लक्षण

अग्नि रोहिणी अत्यन्त घातक व्याधि है इसके प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

1. कक्षा प्रदेश में स्फोट (Blisters) की उत्पत्ति
2. यह स्फोट मांस का दारण करके उत्पन्न होते हैं
3. स्फोट में जलती हुई अग्नि के समान दाह एवं ज्वर
4. यह रोगी को 7 दिन, 10 दिन अथवा 15 दिन में मार देता है
5. यह सन्निपात जन्य तथा असाध्य होता है

आचार्य वाग्भट ने अग्नि रोहिणी की उत्पत्ति में पित्त को प्रधान दोष माना है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अग्नि रोहिणी की साम्यता Plague से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें।
3. लंघन, रुक्षण क्रिया
4. रक्त मोक्षण

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायं
   रत्नगिरी रस : 250 मि.ग्रा.
   चण्डेश्वर रस : 125 मि.ग्रा.
   शहद से 1 × 4 मात्रा
2. चतुर्भुज रस : 125 मि.ग्रा.
   योगेन्द्र रस : 125 मि.ग्रा.
   शुद्ध टंकण : 250 मि.ग्रा.
   सौभाग्य वटी : 250 मि.ग्रा.
   आर्द्रक स्वरस एवं शहद से 1 × 2 मात्रा
3. घर में सोमराजी (कालीजीरी) के पंचांग का धूपन करें।

---

1. कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः। अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः॥
   सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम्। तमाग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः॥
   (सु.नि. 13/17-18)
2. पित्तविसर्प विधिना साधयेदग्नि रोहिणीम्। रोहिण्यां लङ्घनं कुर्याद् रक्तमोक्षणरुक्षणम्॥
   शरीरस्य च संशुद्धिं तां तु वृद्धां परित्यजेत्॥ (यो.र. क्षुद्ररोग चिकित्सा/1-2)

4. ग्रंथि पर आम्रगंधी, हरिद्रा, कुष्ठ, देवदारु, सहिजन बीज पीसकर लेप करें।

Latest Developments
Plague

Definition

This is an acute febrile disease caused by infection with Yersinia pestis. It is acquired from rats by human beings (Bubonic Plague) or by droplet infection (Pneumonic Plague)

Incubation period

Two to four days.

Signs and Symptoms

1. Bodyache, mental confusion.
2. Bubo appears on second or third day, usually in groin which is very tender and associated with cellulitis of surrounding tissue.
3. Onset with high grade fever for 2-5 days and then fall after 3-4 days, synchronous with the full development of the buboes.
4. Congested eyes, speech dull resembling alcohol intoxication.
5. Marked prostration, delirium, vomiting and oligurea, retention of urine, coma and convulsion may occur.
6. Thready pulse, dilation of heart and perhaps haemorrhage in later stages.
7. Spleen and liver enlarged.
8. Death may occur on third or fifth day.
9. Stage of Recovery- constitutional symptoms abate on 10th day with fall of temperature. Bubo continue to enlarge and may burst or suppuration may not occur.

Management : Principles

1. Streptomycin 30mg/kg/day I.M. B.D. for 10 days.
2. Tetracycline if allergy to Streptomycin 2-4 gm/day in 4 divided dose for 10 days.
3. Chloramphenicol for patients with Meningitis.
4. Buboes painted with Iodine or Glycerine and Belladona. Open only when they point, allowed to drain and dressed with Antibiotics.
5. Good nursing.
6. Sedative for pain and restlessness.

14. विस्फोटक

(Bullous Eruption or Pemphigus)

सामान्य लक्षण[1]

जिस व्याधि में शरीर में अग्नि के जलने जैसे फफोले उत्पन्न हो जाऐं और ज्वर भी हो उसे विस्फोटक कहते हैं।

1. विस्फोटक रक्त एवं पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है।
2. स्फोट ज्वर युक्त तथा अग्नि से जलते हुए के समान होते हैं।
3. विस्फोटक की उत्पत्ति शरीर के एक भाग पर अथवा सर्व शरीर पर हो सकती है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार विस्फोटक की साम्यता Bullous eruption या Pemphigus से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें
3. सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण तत्पश्चात विरेचन औषधि देवें
4. शोधन के बाद तिक्त षट्पल घृत का पान कराऐं
5. मधुर औषधियों (काकोल्यादि गण) से सिद्ध घृत द्वारा व्रण का रोपण करावें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	अमृता गुग्गुलु	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	पञ्चतिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	गोदुग्ध एवं मिश्री से	1 × 2 मात्रा
3.	अमृतादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	10 मि.लि. शहद के साथ	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	एलाद्यरिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

1. अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्ततः। क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति॥ (सु.नि. 13/16)

5. पथ्यापथ्य का पालन

Latest Developments
Bullous Eruption

Definition

It is a circumscribed large elevated lesion containing clear fluid which is called a bulla.

Signs and Symptoms

1. Typical appearance is of large tense blisters up to 3 cm diameters or an erythematous base.
2. The blisters may be broken as a result of excoriation.
3. Blisters usually start on the limbs and often spread to the trunk. Mucous membrane of oral cavity, anus, vagina, and oesophagus may be involved.

Management : Principles

1. In mild cases, potent topical corticosteroids.
2. Prednisolone 30-60mg/day in early stages.
3. Cyclosporine is added for its corticosparing effects.
4. Symptomatic management.

15. चिप्प

(Paronychia or Whitlow)

पर्याय

चिप्प के पर्याय क्षतरोग एवं उपनख हैं[1]।

सामान्य लक्षण

चिप्प के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]-

1. यह पित्त एवं वात के कारण उत्पन्न होते हैं
2. नख के मांस में वेदना, दाह एवं पाक होता है

1. नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत॥
तदेव क्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि॥ (सु.नि. 13/19-20)

2. चिप्पमुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद्भिषक्।
चक्रतैलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत्॥
बन्धेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत्।
मधुरौषधिसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत्॥ (सु.चि. 20/9-10)

आचार्य वाग्भट ने चिप्प को अक्षत भी कहा है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञन के अनुसार चिप्प की साम्यता Paronychia or whitlow से करते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा- विरेचन के द्वारा पित्त का शमन एवं उष्ण जल से सेक।
3. शस्त्र कर्म- स्वेदन के बाद शस्त्र से दूषित मांस को काटकर रक्तविस्रावण करावें।
4. शस्त्र कर्म के बाद व्रण पर चक्र तैल एवं राल का चूर्ण लगाकर व्रण बंधन करें।
5. गम्भारी के 7 पत्रों को अंगुलि में लपेटकर रखने से चिप्प रोग शांत हो जाता है।
6. लौह पात्र में हरिद्रा स्वरस डालकर उसमें हरीतकी को घिसकर बार-बार लेप करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायं
   त्रिफला गुग्गुलु : 500 मि.ग्रा.
   शहद से 1 × 2 मात्रा
2. हरीतकी चूर्ण एवं हरिद्रा स्वरस से स्थानीय लेप
3. शाखोटक दुग्ध से सिंचन
4. शस्त्र कर्म
5. पथ्यापथ्य का सेवन

Latest Developments
Paronychia

Definition

Paronychia means infection of the nail fold with or without extension deep to the nail. It is the most common infection of the hand.

Signs and Symptoms

1. Redness and swelling of the nail fold.
2. It is a very painful condition.
3. In later stage in 50 percent of the cases it develops into pustule and formation of pus takes place beneath the nail.

Management : Principles

1. Broad spectrum Antibiotics.
2. Analgesics, antiinflammatory drugs.
3. Surgical drainage when an abscess has developed.
4. Symptomatic management.

16. कुनख

(Onychogryphosis)

पर्याय[1]

कुलीन

सामान्य लक्षण[1]

1. कुनख की उत्पत्ति अभिघात के कारण होती है
2. इस व्याधि में चोट लगने के कारण नख रुक्ष, कृष्ण वर्ण का और खर (कठिन) हो जाता है

आचार्य माधवकर के अनुसार चिप्प रोग जब अल्प शक्ति वाले दोषों से उत्पन्न होता है तो उसे कुनख कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कुनख की साम्यता Onychogryphosis से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. सम्पूर्ण चिकित्सा चिप्प रोग के समान करें।
3. नख के अंदर टंकण भर देवें अथवा शाखोटक के क्षीर का लेप करें।
4. दूषित नख को निकाल दें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	त्रिफला गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	अमृतादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	पंचगुण तैल में टंकण मिलाकर लेप	
4.	व्रण प्रक्षालनार्थ	: फिटकरी के जल का प्रयोग
5.	गर्म जल में नख डुबोकर रखें	
6.	पथ्यापथ्य का पालन	

1. अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रुक्षोऽसितः खरः।
   भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम्॥ (सु.नि. 13/21)
2. नखकोटिप्रविष्टेन टङ्कणेन च शाम्यति।
   कुनखश्चेत्तदा शैलाः सलिले प्लवतेपि च॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/78)

Latest Developments
Onychogryphosis

Definition

In this condition there is over growth of the toe nail, which becomes crooked and huckened. The nail may be curled as to resemble horn. Usually the big toe is involed and mostly in elderly patients.

Onychogryphosis is caused by fungal infection or by trauma.

Management

1. The nail is cut from the bed. The remaining nail is dealt with filling regularly so that it does not recur.
2. If the condition recurs the radical excision of the nail bed is advised.
3. Antibiotics, Analgesics, Antiinflammatory drugs.
4. Symptomatic management.

17. अनुशयी

(Cold Abscess)

सामान्य लक्षण

अनुशयी रोग के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. यह कफ के प्रकोप से उत्पन्न होती है
2. यह व्याधि शरीर के उर्ध्वभाग एवं गहरी धातुओं में उत्पन्न होती है
3. पिड़का का वर्ण त्वचा के समान होता है
4. अल्प शोथ युक्त पिड़का होती है
5. पिड़का के अंदर की तरफ पाक होता है

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अनुशयी की साम्यता Cold Abscess से की जाती है।

चिकित्सा सिद्धान्त

1. निदान परिवर्जन
2. कफज विद्रधि के समान चिकित्सा करें[2]
3. पाक होने के पश्चात भेदन करके व्रण के समान शोधन एवं रोपण चिकित्सा करें

1. गम्भीराम्ल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम्।
   कफादन्तः प्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक्॥ (सु.नि. 13/22)
2. हरेदनुशयां वैद्यः क्रियया श्लेष्मविद्रधेः॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/117)

4. स्वेदन इष्टिका अथवा सिकता से करें

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	अमृतभल्लातक	: 3 ग्राम
	पंचकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	जल से	1 × 2 मात्रा
2.	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	पटोलमूलादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	लेपनार्थ	: दशांग लेप
6.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments
Cold Abscess

Definition

The name suggests that abscess is cold and non reactive in nature. Browny induration, oedema and tenderness are conspicuous by their absence.

Cold abscess is almost always a sequale of Tuberculosis infection anywhere in the body commonly in the lymph nodes, bones and joints. Caseation of lymph nodes forms the cold abscess.

Commonest site

The commonest sites are neck and axilla.

Contents of cold abscess

Fluid consists of fatty debris, floating in the serous fluid and necrotic cells.

Management : Principles

1. Once diagnosed, complete Anti Tubercular regimen should be given.
2. If cold abscess continues to be present, aspiration may be attempted obliquely through the normal surrounding skin.
3. If local abscess still persists, the affected group of lymph nodes should be excised as a whole.

Precautions

An incision should not be made on a cold abscess for drainage. It almost always invites secondary infection and forms a persistent sinus.

18. विदारिका

सामान्य लक्षण

विदारिका पिड़का निम्न लक्षणों से युक्त होती है[1]-

1. यह त्रिदोष से उत्पन्न होती है
2. यह विदारीकन्द के समान गोलाकार एवं रक्तवर्ण की पिड़का होती है
3. यह मुख्यत: कक्षा (Axilla) एवं वंक्षण संधि में उत्पन्न होती है

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. अपक्व विदारिका में प्रच्छान या जलौका से रक्त मोक्षण कराकर अजकर्ण एवं पलास मूल कल्क का लेप करना चाहिऐ
3. **शस्त्र कर्म**- पक्व विदारिका का भेदन करके परवल एवं निम्ब पत्र कल्क में तिलकल्क एवं घृत मिलाकर लेप करें एवं व्रण बंधन करें
4. क्षीरी वृक्ष एवं खदिर क्वाथ से व्रण प्रक्षालन करें

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	त्रिफला गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	गोदुग्ध से	1 × 2 मात्रा
2.	पंचतिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	अमृतारिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

1. विदारीकन्दवद् वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्॥ (सु.नि. 13/23)
2. प्रच्छानैर्वा जलौकोभि: स्राव्या अपक्वा विदारिका। अजकर्णै: सपलाशमूलकल्कै: प्रलेपयेत्॥
पक्वां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयो:। कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत्॥
बद्ध्वा च क्षीरवृक्षस्य कषायै: खदिरस्य च। व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धां ततस्तां रोपयेत् पुन:॥ (सु.चि. 20/14-16)

19. शर्कराबुंद

(Sebaceous Horn)

सामान्य लक्षण

शर्कराबुंद के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. कफ, मेद एवं वायु, मांस, सिरा एवं स्नायु में स्थित होकर ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न करते हैं
2. ग्रंथि फटने पर उससे शहद, घृत और वसा सदृश अत्यधिक स्राव होता है
3. फटी हुई ग्रंथि में वात की वृद्धि होने से मांस शुष्क होकर शर्करा के समान हो जाता है
4. ग्रंथि की सिराओं से दुर्गन्धित, क्लिन्न एवं अनेक वर्णों का स्राव निकलता रहता है इसे ही शर्कराबुंद कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शर्कराबुंद की साम्यता Sebaceous Horn अथवा Coch's Peculiar Tumour से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शर्कराबुंद की चिकित्सा मेदज अर्बुद के समान करें[2]
3. **शस्त्र कर्म**- सर्वप्रथम स्वेदन करके शस्त्र से भेदन करें तत्पश्चात व्रण के समान शोधन करें। व्रण से रक्तस्राव बंद होने पर सीवन कर्म करना चाहिऐ
4. व्रण पर मन:शिला, हरताल, लोध्र, पतंग, गृहधूम, हरिद्रा चूर्ण में मधु मिलाकर लेप करें
5. **स्थानीय चिकित्सा**- शुद्ध व्रण पर करञ्ज तैल अथवा पिण्ड तैल का प्रयोग करें।

---

1. प्राप्य मांससिरास्नायू: श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिल:। ग्रंथिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम्॥
स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिल:। मांसं विशोष्य ग्रंथितां शर्करां जनयेत् पुन:॥
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं तत: सिरा:। स्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्कराबुंदम्॥
(सु.नि. 13/24-26)

2. मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्कराबुंदम्॥
(सु.चि. 20/17)

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	त्रिफला गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
3.	पंचतिक्त घृत	: 20 मि.लि.
	गोदुग्ध से	1 × 2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर	
	अमृतारिष्ट	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य का सेवन	

Latest Developments
Sebaceous Horn

Introduction

The sebaceous gland present in the skin secrete sebum which keeps the skin soft and oily. The mouth of the sebaceous glands mainly open into the hair follicles. If the mouth of sebaceous glands is blocked, the glands discharge its own secretions and form a sebaceous cyst.

Definition

When an infected sebaceous cyst ruptures by itself and discharges its contents, slow discharge of sebum from a wide punctum forms the sebaceous horn.

When the sebaceous cysts of scalp is ulcerated, excessive granulation tissue form resembling fungating epithelioma known as cock's peculiar tumour.

Management : Principles

1. Total excision of the cyst.
2. Broad spectrum Antibiotics.
3. Symptomatic management.

20. पामा

(Scabies)

सामान्य लक्षण

1. पामा में शरीर में अत्यंत छोटी-छोटी पिड़काऐं उत्पन्न होती हैं
2. सभी पिड़काऐं स्राव, कण्डू एवं दाह से युक्त होती हैं।[1]

आचार्य सुश्रुत ने पामा को कुष्ठ का भेद बताया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार पामा की तुलना Scabies से की जाती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. कुष्ठ रोग के समान चिकित्सा करें
3. आभ्यांतर प्रयोग- हरिद्रा कल्क में 100 मि.ली. गोमूत्र मिलाकर पान करने से पामा नष्ट हो जाता है
4. स्थानीय प्रयोग- मोम, सौंफ, वचा, पीली सर्षप एवं हरिद्रा को समभाग लेकर जल में पीसकर लेप करें[2]
5. स्थानीय अभ्यङ्ग
   (i) करञ्ज तैल
   (ii) सार तैल (अगर, देवदारु, सरल)
   (iii) जीरक तैल (जीरक, सिन्दूर, सर्षप)
   (iv) अर्क तैल (अर्क, हरिद्रा, सर्षप तैल)

उपरोक्त तैलों के अभ्यङ्ग करने से पामा रोग नष्ट हो जाता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात : सायं
गंधक रसायन	: 500 मि.ग्रा.
रस माणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा

1. सास्रावकण्डूपरिदाहकाभि: पामाऽणुकाभि: पिड़काभिरुह्या॥ (सु.नि. 5/14)
2. कच्छूं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत् समुपाचरेत्। लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपै:॥ वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम्। सारतैलमथाभ्यंङ्ग कुर्वीत कटुकै: शृतम्॥ (सु.चि. 20/17-18)

2.	भोजनोत्तर	
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
	जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.लि.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	प्रलेप	: पामाहर लेप
5.	स्थानीय प्रक्षालन	: निम्ब जल से
6.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments
Scabies

Definition

It is contagious infestation of skin with the itch mite.

Causative Organism

Sarcoptes scabiei.

Common sites

Between fingers
On the buttocks
Between thighs
Latter all over the body

Signs and Symptoms

1. Initialy itching between the fingers.
2. Secondary streptococcal infection is an important cause of glomerulonephritis.
3. Severe wide spread scabies occurs in debilitated or immuno compromised individuals.
4. Formation of burrow.

Diagnosis

Diagnosis confirmed by scraping the mute out of a burrow.

Management : Principles

1. Clothes, bed linen and towels should be boiled and ironed daily.
2. Benzyl Benzoate 25% emulsion to be applied locally 2 or 3 times per day for 3 days. Or
3. Permethrin 5% dermal cream single application.
4. Symptomatic Management.

21. विचर्चिका

(Eczema)

सामान्य लक्षण

विचर्चिका के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं[1]—

1. शरीर के विभिन्न भाग में त्वचा पर फटने जैसी रेखाऐं उत्पन्न होना
2. उस स्थान पर अत्यधिक रुक्षता, कण्डू एवं वेदना होना

आचार्य सुश्रुत ने विचर्चिका को कुष्ठ का भेद भी माना है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार विचर्चिका रोग की साम्यता Eczema नामक रोग से हो सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. कुष्ठ के समान चिकित्सा करें
3. कुष्ठ नाशक लेपों का स्थानिक प्रयोग
4. अभ्यंगार्थ-वृहत् सिन्दूराद्य तैल, बृहन्मरिचाद्य तैल, अर्क तैल
5. मोम, सिन्दूर, गुग्गुलु, तुत्थ और रसौंत से सिद्ध सर्षप तैल विचर्चिका नाशक हैं[2]।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	अष्टमूर्ति रसायन	: 250 मि.ग्रा.
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता सत्व	: 250 मि.ग्रा.
	मुक्ता सत्व	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	स्थानीय लेपनार्थ	: पामाहर लेप
5.	पथ्यापथ्य का सेवन	

1. राज्योऽतिकण्ड्वत्तिरुजः सरुक्षा भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्। (सु.नि. 5/13)
2. सिद्धं सिक्थकसिन्दूरपूर तुत्थकताक्ष्यजैः। कच्छूं विचर्चिकां वासु कटुतैलं निबर्हति॥ (अ.हृ.चि 20/84)

Latest Developments

Eczema

Definition

Eczema comprises a group of skin disorders exhibiting a common pattern of Histological and clinical findings.

Causes

Allergies, irritating chemicals, drugs, scratching or rubbing the skin on sun exposure.

Signs and Symptoms

Eczema clinically manifests as pruritus, erythema, oedema, papule, vesicle, scaling, crusting and lichenification.

Management : Principles

1. Avoiding the causes of rashes.
2. Antihistaminics locally and orally.
3. Corticosteroids locally and orally.
4. Symptomatic management.

22. रकसा

सामान्य लक्षण

सर्व शरीर में कण्डूयुक्त एवं स्रावरहित पिड़काओं को रकसा या सूखी खुजली कहते हैं। इसके लक्षण निम्न प्रकार होते हैं[1]—

1. सर्व शरीर में पिड़काऐं उत्पन्न होती हैं
2. पिड़काऐं स्राव रहित होती हैं
3. पिड़काऐं कण्डू युक्त होती हैं।

आचार्य सुश्रुत ने इसे कुष्ठ का भेद भी माना है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन।
2. कुष्ठ के समान चिकित्सा करें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.

1. कण्ड्वन्विता या पिडका शरीरे संस्रावहीना रकसोच्यते सा। (सु.नि. 5/15)

	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	स्थानिक प्रयोगार्थ	: निम्ब पत्र क्वाथ से प्रक्षालन कर महामरिच्यादि या करंज तैल लगाऐं
4.	पथ्यापथ्य का सेवन	

23. पाददारिका

पर्याय

पाददारी, बिवाई, विपादिका

सामान्य लक्षण

पाददारिका के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]—

1. यह व्याधि अधिक पैदल घूमने वाले व्यक्तियों में होती है
2. अधिक घूमने से रुक्ष हुये दोनों पैरों में वायु अनेक प्रकार की दरारें (Cracks) उत्पन्न कर देती है
3. इन दरारों में अत्यधिक पीड़ा होती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा : पैर के तलवे की सिराओं का वेधन कर रक्त मोक्षण करावें।
3. अभ्यंग, स्वेदन के बाद मोम, वसा, मज्जा, राल के चूर्ण से सिद्ध घृत का लेप करना चाहिऐ।
4. प्रलेप : राल, सैंधव लवण, मधु, घृत को कटु तैल में मिलाकर लेप करना चाहिऐ।
5. अभ्यंगार्थ- (i) उन्मत्त तैल- धतूरे के बीच एवं मानकंद की राख के जल से पकाये कटु तैल लगाने से पाददारी नष्ट हो जाती है।

(ii) उपोदिकादि क्षार तैल का प्रयोग भी लाभकारी है।

1. परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थ रूक्षयोः। पादयोः कुरुते दारि सरुजां तलसंश्रिताम्॥ (सु.नि. 13/28)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात : सायं
	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	मंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	लेपनार्थ	: मधु सिक्तादि लेप
5.	पथ्यापथ्य का पालन	

24. कदर

(Corn)

निदान[1]

शर्करा (कंकड़, मिट्टी, पत्थर) आदि से बार-बार चोट लगने से क्षत होने पर कदर उत्पन्न होता है।

सामान्य लक्षण

कदर के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. प्रकुपित दोष रक्त एवं मेद के द्वारा पैरों में कठिन एवं कील युक्त ग्रंथि उत्पन्न करते हैं
2. ग्रंथि बेर के समान होती है। ग्रंथि चारों तरफ से निम्न परंतु मध्य भाग में उन्नत होती है
3. ग्रंथि में अत्यंत वेदना होती है एवं फटने पर स्राव निकलता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कदर की साम्यता Corn से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन

1. शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः। मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम्॥
सकीलकठिनो ग्रंथिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा। कोलमात्रः सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु सः॥ (सु.नि. 13.29-30)

2. कदर को शस्त्र से काटकर अग्नि तप्त तैल से जलाना चाहिए[1]

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	कांचनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
3.	अग्नि कर्म	
4.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments

Corn

Definition

It is a localised hyperkeratosis of the skin.

Site

Commonly occurs at the site of pressure like soles and toes of the feet / hand. There is usually a horny induration of the cuticle with a hard centre.

Signs and Symptoms

A corn has a deep central core which reaches deeper layers of dermis. Corn has a tendendy to recur after excision.

Management : Principles

1. Central local application like cornation cap is effective.
2. If these measures fail and if corn is painful, it should be excised with particular care to take off the deep root of the central core. It often prevents recurrence.
3. Symptomatic management.

Prevention

Using soft shoes/soft pads at the pressure points of the sole prevents corn formation.

1. उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत् कदरसंज्ञकम्॥ (सु.चि. 20/23)

25. अलस

(Dhobies Itch)

निदान[1]

वर्षा ऋतु में अथवा जमा हुऐ गंदे पानी का पैरों से अत्यधिक सम्पर्क होने से अलस रोग उत्पन्न होता है।

सामान्य लक्षण[1]

पांव की अंगुलियों के बीच में व्रण उत्पन्न होता है जिसमें क्लेद (गीलापन), कण्डू (खुजली), जलन, एवं पीड़ा होती है। इसे अलस कहते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. प्रलेप
   (i) करञ्जादि लेप (करञ्जबीज, हरिद्रा, हीराकशीश)
   (ii) रञ्जन्यादि लेप (मेंहदी पत्र एवं कत्था का कल्क)
3. कटेरी स्वरस में सर्षप तैल मिलाकर उसका लेप करके उसके ऊपर काशीश, मन:शिला एवं तिल को चूर्ण कर प्रतिसारण करना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	मुक्ता शुक्ति	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	अमृतारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

1. क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ।
   दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विनिर्दिशेत्॥ (सु.नि. 13/31)

26. इंद्रलुप्त

(Alopecia)

पर्याय[1]

इन्द्रलुप्त, खालित्य, रुज्या इत्यादि

निदान एवं सम्प्राप्ति[1]

विभिन्न प्रकार के दोष प्रकोपक निदान सेवन से वात दोष के साथ पित्त दोष मिलकर बालों को गिरा देता है एवं रक्त के साथ मिला कफ दोष रोम छिद्रों को बंद कर देता है जिससे बाल उत्पन्न नहीं होते हैं। इसे ही इंद्रलुप्त कहते हैं।

सामान्य लक्षण[1]

बाल गिरने के पश्चात पुन: नहीं उगते हैं। आचार्य वाग्भट ने बालों के अचानक गिरने को 'इन्द्रलुप्त', तथा बालों के धीरे-धीरे गिरने को 'खालित्य' कहा है। आचार्य कार्तिक ने दाढ़ी, मूंछ के बालों के गिरने को 'इन्द्रलुप्त', शिर के बालों के गिरने को 'खालित्य' तथा सर्वशरीर के बालों के गिरने को 'रुज्या' कहा है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा

   स्नेहन, स्वेदन के पश्चात शिर की सिराओं का वेधन करके रक्तमोक्षण करावें[2]
3. प्रलेप

(i) धतूर पत्र स्वरस का शिर पर लेप

(ii) गुञ्जा मूल एवं फल से अथवा कलिहारी पुष्प या करवीर स्वरस से या छोटी कटेरी स्वरस में मधु मिलाकर शिर पर लेप करें।

(iii) कासीस मैनफल, तुत्थ और मरिच का लेप

4. स्थानिक अभ्यंगार्थ

(i) इभरदादि तैल (हस्तिदंत, शिकाकाई, आमलकी, तिल तैल)

(ii) कुटन्नटादि तैल (चित्रक मूल, चमेली पत्र, करञ्ज फल)

(iii) इन्द्रलुप्त नाशन तैल (तिलतैल, नरसार)

(iv) वृहत् भृंगराज तैल (भृंगराज स्वरस, ब्राह्मी स्वरस, आमलकी स्वरस, तिल तैल)

---

1. रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्। प्रच्यावयति रोमाणि तत: श्लेष्मा सशोणित:॥
   रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भव:। तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते॥
   (सु.नि. 13/32-33)
2. इन्द्रलुप्ते सिरां मूर्ध्नि स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्॥ (सु.चि. 20/24)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात : सायं
	आमलकी रसायन	: 3 ग्राम
	भृंगराज चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	सप्तामृत लौह	: 500 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिष्टी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	शिरोअभ्यंगार्थ	
	भृंगराज तैल अथवा इंद्रलुप्त नाशन तैल	
4.	रात्रि में	
	त्रिफला चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 मात्रा

Latest Developments
Alopecia

Introduction

Alopecia means loss of hairs in areas where ordinarily hair would be found. Generally it means loss of terminal hair on the scalp.

Aetiological Factors

1. Heridity
2. Emotional Stress
3. Endocrine upset
4. Auto immunity

Types

1. Alopecia oreata- It is a patching loss of hair on scalp.
2. Alopecia totalis- It is loss of all the hair on the scalp.
3. Alopecia universalis- It is complete loss of body hair.

Signs and Symptoms

1. Patient presents with sudden loss of hair over a circumscribed area.
2. There may be only two or three patches or entire scalp may be involved.

Bad Prognostic Sign

1. Early age of onset.
2. Large number of patches.
3. Extensive and zigzag involvement.

Management : Principles

1. Steroids- Topical and systemic.
2. Photochemotherapy with ultraviolet radiation of 'A' type.
3. Hair grafting.

27. दारुणक

(Seborrhoeic Eczema)

सामान्य लक्षण

दारुणक रोग के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[1, 2]

1. कफ एवं वात के प्रकोप से उत्पन्न
2. केशों का स्थान कठिन, रुक्ष, कण्डू युक्त और विदार युक्त हो जाता है। इसे दारुणक कहते हैं
3. आचार्य वाग्भट ने दारुणक व्याधि में बालों का गिरना एवं संज्ञानाश का भी उल्लेख करते हुए दारुणक का वर्णन शिरोरोगों के अंतर्गत किया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार दारुणक की साम्यता Seborrhoeic Eczema से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत[3]

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा
   (i) स्नेहन, स्वेदन (ii) शिरावेधन, रक्तमोक्षण
   (iii) अवपीड़ नस्य (iv) शिरोबस्ति एवं अभ्यंग
3. व्रण प्रक्षालनार्थ- कोदों धान के क्षार जल का प्रयोग उत्तम है।
4. लेपन के लिए निम्न योग प्रयोग करने चाहिऐं-
   (i) चिरौंजी, मधुयष्टि, कुष्ठ, उड़द, सर्षप को मधु के साथ लेप करें।
   (ii) आम की गुठली का गूदा एवं हरीतकी के छिलके को गो दुग्ध में पीसकर सिर पर लेप करना चाहिऐ।
   (iii) काशीषाद्य घृत का लेप।
5. अभ्यंगार्थ
   (i) गुञ्जा तैल (गुञ्जा, भृंगराज, तिल तैल)
   (ii) भृंगराज तैल

---

1. दारुणा कण्डुरा रुक्षा केशभूमिः प्रपाटयते।
   कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम्॥ (सु.नि. 13/34)
2. कण्डूकेशच्युतिस्वापरौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वचः।
   सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद्दारुणकं तु तम्॥ (अ.हृ.उ. 23/23)
3. सिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धस्विन्नस्य मूर्धनि॥
   अवपीडं शिरोबस्तिमभ्यङ्गं च प्रजोयेत्।
   क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोयं प्रशस्यते॥ (सु.चि. 20/30)

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
	अमृता सत्व	: 250 मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	प्रक्षालनार्थ	: त्रिफला क्वाथ
3.	अभ्यंगार्थ	: महाभृंगराज तैल
4.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा

Latest Developments
Seborrhoeic Eczema

Definition

Eczema originating from sebaceous glands of hair especially of the scalp.

Causes

Unknown, but fungus Pityrosporum orbiculae appears to be a precipitating factor.

Common presenting features of HIV infection and can be a very severe condition. This effects the scalp with marked scaling (Dandruff) on ears, nasolabial folds and eyebrows.

Management : Principles

1. Local Antiseptics.
2. Use of topical steroids.
3. Antifungal treatment.
4. Ketaconazole Shampoo is effective.

28. अरुषिका

सामान्य लक्षण[1]

1. कफ, रक्त एवं कृमि के प्रकोप से अरुषिका उत्पन्न होती है।
2. सिर में अनेक छोटे-छोटे मुख वाली पिड़काऐं उत्पन्न हो जाती हैं।
3. पिड़काओं से अत्यधिक स्राव निकलता है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान पविर्जन
2. शोधन चिकित्सा
   स्नेहन एवं स्वेदन के पश्चात पिड़काओं से रक्तमोक्षण कराना चाहिऐ।
3. लेपन कर्म हेतु

(i) रक्तमोक्षण के पश्चात निम्ब क्वाथ से परिषेक करके घोड़े की लीद के रस में सैंधव लवण मिलाकर लेप करें

(ii) हरताल, हरिद्रा, पटोल, निम्ब के कल्क का लेप

(iii) मधुयष्ठी, एरण्ड, नीलोफर, भृंगराज कल्क का लेप

(iv) नीलकमल का केशर, आमलकी, मधुयष्ठी के कल्क का लेप

4. अभ्यंगार्थ

(i) त्रिफला, लौहचूर्ण, मधुयष्ठि, कमल, सारिवा, सैंधव लवण के कल्क से सिद्ध तैल अरुषिका नाशक है

(ii) हरिद्रादि तैल (हरिद्रा, दारुहरिद्रा, चिरायता, त्रिफला, नीम)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.	प्रात :	सायं
गंधक रसायन	:	250 मि.ग्रा.
बालसुधा	:	250 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	:	250 मि.ग्रा.
शहद से		1 × 2 मात्रा

1. अरुंसि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि।
   कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम्॥
   (सु.नि. 13/35)
2. अरुंषिकां हते रक्ते सेचयेत्रिम्बवारिणा।
   दिह्यात् सैन्धवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु॥
   हरितालनिशानिम्बकल्कैर्वा सपटोलजै:।
   यष्टीनीलोत्पलैरण्डमार्कवैर्वा प्रलेपयेत्॥
   इन्द्रलुप्तापहं तैलमभ्यङ्गे च प्रशस्यते॥ (सु.चि. 20/27-29)

2.	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	प्रक्षालनार्थ	: फिटकरी एवं त्रिफला क्वाथ
4.	अभ्यंगार्थ	: हरिद्रादि तैल अथवा इन्द्रलुप्त नाशन तैल
5.	पथ्यापथ्य पालन	

29. पलित

निदान सम्प्राप्ति एवं लक्षण[1]

क्रोध, चिन्ता एवं श्रम से उत्पन्न उष्णता तथा पित्त दोष शिर: प्रदेश में स्थिर होकर बालों को पका देते हैं इससे बाल सफेद हो जाते हैं इस अवस्था को पलित कहते हैं।

भेद

आचार्य वाग्भट ने दोष प्रकोप के आधार पर पलित रोग के चार भेदों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं[2]-

1. वात प्रकोप से उत्पन्न पलित में बाल फटा हुआ, श्यावर्ण, खर, रुक्ष एवं जल के समान कान्ति वाला होता है
2. पित्तज पालित्य में बाल दाहयुक्त एवं पीली झाईं वाला होता है
3. कफज पालित्य में बाल स्निग्ध, बढ़ने वाला, स्थूल एवं अतिशुक्ल होता है
4. सर्वदोषों के प्रकोप से उत्पन्न पालित्य मिश्रित लक्षणों वाला होता है
5. शिरोवेदना से उत्पन्न एक अन्य प्रकार का पालित्य विवर्ण और स्पर्श को न सहन करने वाला होता है

1. क्रोधशोकश्रमकृत: शरीरोष्मा शिरोगत:।
   पित्तं च केशान् पचति वलितं तेन जायते॥
   (सु.नि. 13/36)
2. तद्घातात्स्फुटितं श्यावं खरं रुक्षं जलप्रभम्।
   पित्तात्सदाहं पीताभं, कफात् स्निग्धं विवृद्धिमत्॥
   स्थूलं सुशुक्लं सर्वैस्तु विद्याद्वयामिश्र लक्षणम्।
   शिरोरुजोद्भवं चान्यद्विवर्णं स्पर्शनासहम्॥
   (अ.हृ.उ. 23/30-31)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन 2. शोधन
   वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, नस्य, शिरो अभ्यंग एवं प्रदेह का प्रयोग
3. नस्यार्थ
   (i) निम्ब तैल (ii) नीलिन्यादि तैल
4. शिरो अभ्यंगार्थ
   (i) भृंगराज तैल (ii) महाभृंगराज तैल
   (iii) महानील तैल
5. प्रलेपनार्थ
   (i) लौहभस्म, भृंगराज, त्रिफला, काली मिट्टी को एक माह तक गन्ने के रस में रखकर लगाने से मूल सहित पलित रोग नष्ट हो जाता है।
   (ii) तिल, आंवला, कमल केशर, मधुयष्टि, मधु यह शिर पर लगाने से बालों में वृद्धि एवं कृष्णता उत्पन्न होती है।
   (iii) त्रिफला, नील के पत्ते, भृंगराज एवं लौह चूर्ण को भेड़ के मूत्र में पीसकर प्रलेप करने से बाल अत्यंत काले हो जाते हैं।
   (iv) लौहमलादि लेप (मण्डूर, आंवला, जपा)
   (v) धात्रीफलादि लेप (त्रिफला, मण्डूर चूर्ण, आम्र)
6. रसायन प्रयोग
   (i) गुडूची चूर्ण (ii) आमलकी रसायन
   (iii) भृंगराज इत्यादि

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	आमलकी रसायन	: 2 ग्राम
	भृंगराज चूर्ण	: 2 ग्राम
	ससामृत लौह	: 500 मिग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	अभ्यंगार्थ	: भृंगराज तैल , महानील तैल
3.	रात्रि में	
	त्रिफला चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
4.	पथ्यापथ्य	

30. मसूरिका

(Small Pox)

व्याधि परिचय

मसूरिका एक तीव्र संक्रामक रोग है। बृहत्रयी के ग्रंथों में मसूरिका का नाम मात्र वर्णन ही मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने मात्र एक श्लोक में ही इसका वर्णन कर दिया है। संहिता ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य माधवकर तथा भावप्रकाश कार ने अपने-अपने ग्रंथों में मसूरिका का स्वतंत्र तथा विस्तृत वर्णन किया है। इसका कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि प्राचीन काल में मसूरिका का प्रकोप कम होता रहा हो तथा बाद में इसका अधिक प्रकोप होने से मसूरिका का नये सिरे से वर्णन किया गया हो। मसूरिका में सर्वशरीर पर रक्त वर्ण की पिड़काऐं निकलती हैं जो अत्यंत संक्रामक होती हैं।

मसूरिका रोग की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Chicken Pox से अथवा कुछ विद्वानों के मत से Small Pox से करते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. माधव निदान - अध्याय 54
2. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड - अध्याय 60

परिभाषा

शरीर में मसूर की आकृति के समान सर्व शरीर में उत्पन्न पिड़काओं को मसूरिका कहते है[1]।

प्रमुख निदान

मसूरिका रोग के प्रमुख निदान निम्नलिखित हैं[2]-

1. कटु, अम्ल, लवण एवं क्षार का अतिसेवन।
2. विरुद्ध आहार
3. अध्यशन
4. दूषित अन्न, मटर, शाक का अधिक सेवन।
5. प्रदूषित जल एवं वायु
6. क्रूर ग्रह प्रकोप

---

1. मसूराकृतिसंस्थाना: पिडकास्ता मसूरिका:। (भा.प्र. मध्यम खण्ड 60/2)
2. कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनै:। दुष्टनिष्पावशाकाद्यै: प्रदुष्टपवनोदकै:।
   क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषा: समुद्धता:। जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गता:॥
   मसूराकृतिसंस्थाना: पिडका: स्यर्मसरिका:। (मा.नि. 54/1-2)

सम्प्राप्ति

उपर्युक्त कारणों एवं शनि आदि ग्रहों के प्रकोप से प्रकुपित हुए दोष दूषित रक्त के साथ मिलकर मसूरिका रोग उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन (आहारजन्य, विहार जन्य एवं ग्रह इत्यादि)
↓
दोष प्रकोप
↓
रक्त की दुष्टि
↓
त्वक् में अधिष्ठान
↓
मसूरिका रोगोत्पत्ति

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	त्रिदोष
दूष्य	:	रक्त
अधिष्ठान	:	रसरक्तादि धातुऐं एवं त्वक्
स्रोतस	:	रक्तवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	ग्रंथि
अग्नि स्थिति	:	अग्निमांद्य
व्याधिस्वभाव	:	दारुण
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य

भेद

आचार्य माधवकार ने दोषों के आधार पर मसूरिका के 5 भेद किये हैं एवं धातुगत आधार पर आचार्य माधवकर ने मसूरिका के 7 भेद माने हैं जो निम्न प्रकार हैं-

दोषानुसार मसूरिका के भेद

1. वातज मसूरिका
2. पित्तज मसूरिका
3. कफज मसूरिका
4. रक्तज मसूरिका
5. सन्निपातज मसूरिका

धातुओं के आधार पर मसूरिका के भेद

1. त्वक्गत (रसज) मसूरिका
2. रक्तज मसूरिका
3. मांसज मसूरिका
4. मेदज मसूरिका
5. अस्थिज मसूरिका
6. मज्जागत मसूरिका

7. शुक्रगत मसूरिका

आचार्य भाव मिश्र ने भी मसूरिका के भेद माधवकर के समान ही बताऐ हैं।

पूर्वरूप

मसूरिका में निम्नलिखित पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं[1]-

1. ज्वर (Fever)
2. कण्डू (Itching)
3. अंगमर्द (Bodyache)
4. अरति (बेचैनी - Restlessness)
5. भ्रम (Vertigo)
6. त्वक् शोथ (Inflammation of skin)
7. विवर्णता (Discolouration)
8. नेत्रों में रक्तवर्णता (Redness in eyes)

दोषानुसार मसूरिका के लक्षण

1. वातज मसूरिका के लक्षण

वातज मसूरिका के लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]-

(i) श्याव या अरुण वर्ण के स्फोट (Bluish Black coloured papules)
(ii) पिड़का कठिन एवं देर से पकती है (Hard Papules)
(iii) संधि, अस्थि एवं पैर में वेदना (Pain in body joints and leg)
(iv) कास (Cough)
(v) कम्पन (Tremors)
(vi) अरति (बेचैनी) (Restlessness)
(vii) तीव्र वेदना (Intense Pain)
(viii) क्लम (बिना कार्य के थकावट - Fatigue without work)
(ix) तालु, ओष्ठ एवं जिह्वा का सूखना (Dryness in palate, lips and tongue)
(x) तृष्णा (Excessive thirst)
(xi) अरुचि (Anorexia)

---

1. तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः।
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते॥ (मा.नि. 54/3)
2. स्फोटाः श्यावारुणा रुक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः।
कटिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिल संभवाः।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरति क्लमः॥
शोषस्तालोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता॥ (मा.नि. 54/4-5)

2. पित्तज मसूरिका के लक्षण

पित्तज मसूरिका में निम्नलिखित लक्षण व्यक्त होते हैं[1]-

(i) विस्फोट रक्त या पीत वर्ण के होते हैं (Red or yellowish coloured papules)

(ii) विस्फोट तीव्र वेदना, दाह एवं शीघ्र पकने वाले होते हैं (Papules have severe pain, burning and early formation of vesicles and pustules)

(iii) अतिसार (Diarrhoea)

(iv) अंगमर्द (Bodyache)

(v) सार्वदैहिक जलन (Burning all over the body)

(vi) पिपासा (Thirst)

(vii) अरुचि (Anorexia)

(viii) मुखपाक (Stomatitis)

(ix) नेत्रों में रक्तिमा (Redness in eyes)

(x) तीव्र ज्वर (High grade fever)

3. कफज मसूरिका के लक्षण

कफज मसूरिका में निम्न प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं[2]-

(i) लालास्राव (Excessive Salivation)

(ii) स्तैमित्य (त्वचा का गीले कपड़े से ढका हुआ प्रतीत होना - Feeling of moistness of skin)

(iii) शिर:शूल (Headache)

(iv) शरीर में भारीपन (Heaviness in the body)

(v) हल्लास (Nausea)

(vi) अरुचि (Anorexia)

(vii) तन्द्रा (Drowsiness)

1. रक्ता: पीतसिता: स्फोटा: सदाहास्तीव्रवेदना: ।
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवा: ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्र: सुदारुण: । (मा.नि. 54/6-7)

2. कफ प्रसेक: स्तैमित्यं शिरोरुगात्रगौरवम् ।
हल्लास: सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विता: ॥
श्वेता: स्निग्धा भृशं स्थूला: कण्डूवरा मन्दवेदना: ।
मसूरिका: कफोत्थाश्च चिरपाका: प्रकीर्तिता: ॥ (मा.नि. 54/9-10)

(viii) निद्रा (Sleep)

(ix) आलस्य (Lethargy)

(x) विस्फोट वर्ण में श्वेत, चिकने, मोटे, कण्डू युक्त एवं अल्प वेदना वाले होते हैं (Papules are whitish, smooth having mild pain and itching)

4. रक्तज मसूरिका के लक्षण

रक्तज मसूरिका के लक्षण भी पित्तज मसूरिका के लक्षणों के समान होते हैं[1]।

5. सन्निपातज मसूरिका के लक्षण

सन्निपातज मसूरिका में निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[2]-

(i) विस्फोट नीले, चपटे, फैले हुए एवं मध्य में दबे हुए होते हैं (Pustules are bluish flat, margins are elevated with depressed central part)

(ii) विस्फोट देर से पकते हैं (Delayed inflammation in pustules)

(iii) अत्यधिक तीव्र वेदना (Intense pain)

(iv) दुर्गन्धित स्राव (Foul smelling secretions)

(v) संख्या में अधिक होते हैं (Large number of papules)

(vi) कण्ठ में अवरोध (Obstruction in throat)

(vii) अरुचि (Anorexia)

(viii) सर्व शरीर में स्तम्भ (Stiffness all over body)

(ix) प्रलाप (Delirium)

(x) अरति (Restlessness)

धातुगत मसूरिका रोग के लक्षण[3]

1. त्वक्गत (रसज) मसूरिका

त्वक्गत मसूरिका की पिड़िकाऐं पानी के बुलबुले के सदृश होती हैं। इनमें दोष प्रकोप कम होता है और विदीर्ण होने पर जलीय स्राव निकलता है।

2. रक्तगत मसूरिका

इसमें पिड़िका रक्तवर्ण की, शीघ्र पकने वाली, पतली त्वचा वाली एवं साध्य होती हैं। इसमें रक्त युक्त स्राव निकलता है।

1. रक्तजायां भवन्त्येते विकारा: पित्तलक्षणा: ॥ (मा.नि. 54/8)

2. नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुज: ।
चिरपाका: पूतिस्रावा: प्रभूता: सर्वदोषजा: ॥
कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुता: ।
दुश्चिकित्स्या: समुद्दिष्टा: पिडकाश्चर्मसंज्ञिता: ॥ (मा.नि. 54/11-12)

3. तोयबुद्बुदसङ्काशास्त्वग्गतास्तु:..... ।
..... केवलं चिन्हं दृश्यते न तु जीवितम् ॥ (मा.नि. 54/14-22)

3. **मांसगत मसूरिका**

पिड़का कठिन, चिकनी, देर से पकने वाली होती हैं। इस पर त्वचा का मोटा आवरण होता है। शरीर में शूल, कण्डू, ज्वर एवं अरति होती है।

4. **मेदज मसूरिका**

मेद जन्य मसूरिका गोलाकार, कुछ उभरी हुई होती हैं। इसमें भयंकर ज्वर होता है। पिड़का मोटी एवं चिकनी होती है। रोगी मूर्च्छा, अरति, संताप से पीड़ित रहता है।

5. 6. **अस्थि एवं मज्जागत मसूरिका**

अस्थि एवं मज्जागत मसूरिकाऐं छोटी, शरीर के समान वर्ण वाली, रुक्ष, चपटी एवं कुछ उभरी हुई होती हैं। रोगी मूर्च्छा, वेदना, अरति से पीड़ित रहता है। पिड़िकाऐं मर्म स्थानों का छेदन कर शीघ्र ही रोगी को मार डालती हैं एवं अस्थियाँ भ्रमर के द्वारा छिद्रित की हुई प्रतीत होती हैं।

7. **शुक्रगत मसूरिका**

शुक्रगत मसूरिका में पिड़िकाऐं पक्व, चिकनी, छोटी एवं अत्यंत वेदना युक्त होती हैं। इस अवस्था में स्तिमितता, अरति, मूर्च्छा भी होती है। शुक्र गत मसूरिका असाध्य होती है।

साध्यासाध्यता

साध्य मसूरिका [1]

त्वचागत (रसगत), रक्तगत, पित्तज, कफज एवं कफपित्तज मसूरिकाऐं साध्य होती हैं।

कृच्छ्रसाध्य मसूरिका[2]

वातज, वातपित्तज एवं कफवातज मसूरिका रोग कृच्छ्र साध्य होते हैं।

असाध्य मसूरिका[3]

सन्निपातज मसूरिका असाध्य होती है।

मसूरिका के असाध्य लक्षण

निम्नलिखित लक्षणों से युक्त मसूरिका रोगी को असाध्य समझना चाहिए[1]-

1. कास (Cough)
2. हिक्का (Hiccough)
3. प्रमेह (Diabetes Mellitus)
4. तीव्रज्वर (High Grade fever)

1. त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजा: श्लेष्मजास्तथा।
   श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुख साध्या मसूरिका: ॥ (मा.नि. 54/23)
2. वातजा वातपित्तोत्था: श्लेष्मवातकृताश्च या:।
   कृच्छ्रसाध्यमास्तस्माद्यत्नदेता उपाचरेत्॥ (मा.नि. 54/24)
3. असाध्या: सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्। (मा.नि. 54/25)

5. **प्रलाप (Delirium)**
6. **अरति (बेचैनी) (Restlessness)**
7. **मूर्च्छा (Fainting)**
8. **प्यास (Excessive Thirst)**
9. **दाह (Burning)**
10. **अत्यधिक ऐंठन (Spasm in muscles)**
11. **मुख, नासा एवं नेत्र से रक्तस्राव (Bleeding from mouth, nose and eyes)**
12. **गले में घुर-घुर शब्द (Wheezing in the throat)**
13. **अत्यधिक कठिनाई से श्वास लेना (Dyspnoea)**

उपद्रव

मसूरिका के अन्त में कभी-कभी कुहनी (Elbow Joint), कलाई (Wrist Joint) तथा अंशफल पर भयंकर शोथ उत्पन्न हो जाता है जो असाध्य है[2]।

चिकित्सा सिद्धांत[3]

1. **निदान परिवर्जन**
2. **कुष्ठ नाशक लेपन क्रियाओं का प्रयोग मसूरिका में भी करना चाहिऐ**
3. **कफज एवं पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिऐ**
4. **रक्तज मसूरिका में रक्तमोक्षण करना चाहिऐ**

चिकित्सा

मसूरिका रोग शमनार्थ निम्न प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिऐ-

1. **रुद्राक्ष तीन ग्राम एवं एक ग्राम काली मरिच को मिलाकर पानी में पीसकर पिलाना चाहिऐ।**
2. **मसूरिका के प्रारंभ में हुरहुर के पत्रों का स्वरस अथवा स्वरस में श्वेत चन्दन मिलाकर पिलाना चाहिऐ।**

1. **कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः**
   प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता॥
   मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा।
   कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम्॥
   मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः।
   लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम्॥ (मा.नि. 54/27-29)
2. **मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कपूरे मणिबन्धके।**
   तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः॥ (मा.नि. 54/31)
3. **मसूरिकायां कुष्ठेषु लेपनादिक्रियाहिता।**
   पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया चात्र प्रशस्यते॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 60/34)

3. पानार्थ- पटोलादि पानीय, निम्बादि क्वाथ अथवा चन्दनादि हिम लाभदायक होते हैं।
4. स्थानीय चिकित्सा- दमनक, मरुबक एवं कागजी नींबू से केशर को कांजी में पीसकर लेप करने से मसूरिका शांत हो जाती है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	इन्दुकला वटी	: 250 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	चन्दनादि हिम	: 100 मि.ली.
	जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	एलाद्यरिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	पंचतिक्त घृत	: 20 मि.ली.
	गोदुग्ध से	1 × 2 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य पालन	

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
शालि चावल, मूँग, मसूर, केवल मधुर रस एवं अल्प मात्रा में सैन्धव इत्यादि।	स्वच्छ, रम्य, शीतल निवास स्थान में शयन एवं घर के चारों तरफ निम्ब पत्र बिखेरना इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
गुरु, विदाही, विष्टम्भी, रुक्ष अन्न का सेवन नहीं करें, भारी पदार्थ, चिकनाई, तैल इत्यादि एवं घृतपान	गन्दे बिस्तर, प्रदूषित घर में शयन, अस्वच्छ रहना, बार-बार उस घर में अनेक व्यक्तियों का आना-जाना इत्यादि।

Latest Developments

Small Pox

Causative Organism

Variola vira. Pox virus (DNA)

Incubation Period

4-19 days

Mode of Transmission

Droplet and occasionally by air born infection.

Signs and Symptoms

1. High grade remittent fever.
2. Wide spread deep seated centrifugal rash through macule→papule→vesicle→pustule→scab→scar stages.
3. Toxaemia

Dreaded complications

1. Blindness
2. Joint affections
3. Limb deformities.

Management : Principles

1. Prior vaccination and specific antisera administered luring early incubation period are known to reduce the severity of the disease.
2. Immunity after an attack is long lasting.
3. Use of antibiotics.
4. Symptomatic management.

Note

Small pox causing disfiguration, disability and death was certified as eradicated, by WHO on December 9, 1979.

31. मुखदूषिका

(Acne Vulgaris)

पर्याय

मुखदूषिका, यौवनपिड़का, युवान पिड़िका

सामान्य लक्षण

मुख दूषिका के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. कफ, वात एवं रक्त की दुष्टि से युवा व्यक्तियों में मुख पर पिड़का उत्पन्न होती है।

---

1. शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः।
जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः॥ (सु.नि. 13/38)

2. मुख पर शाल्मली (सेमल) कण्टक के समान पिड़िकाएँ उत्पन्न होती हैं। मुखदूषिका को यौवन पिड़िका अथवा युवान पिड़िका भी कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार मुख दूषिका की साम्यता Acne Vulgaris से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धान्त[1]

1. निदान परिवर्जन 2. शोधन चिकित्सा

(i) वमन कराना विशेष लाभदायक होता है।

(ii) शिरावेध से रक्तमोक्षण

3. शमन चिकित्सा–प्रलेप एवं अभ्यंग

(i) लोध्र, वचा, सैन्धव लवण, सर्षप का लेप करने से युवान पिड़का नष्ट हो जाती है।

(ii) धनियाँ, वचा, लोध्र एवं कुष्ठ का लेप करें।

(iii) गोरोचन के साथ काली मिर्च का लेप हितकर है।

(iv) जायफल, रक्तचन्दन, काली मिर्च समभाग में पीसकर लेप करने से यौवन पिड़का शीघ्र नष्ट हो जाती है।

(v) शाल्मली कण्टक को दुग्ध में पीसकर लेप करने से यौवनपिड़िका शीघ्र नष्ट हो जाती है।

4. अभ्यंगार्थ

(i) कुंकुमाद्य तैल (ii) मंजिष्ठाद्य तैल (iii) द्विहरिद्रादि तैल

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात : सायं
	कैशोर गुग्गुलु	: 500मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	शुद्ध गन्धक	: 250 मि.ग्रा.
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	मुक्ता शुक्ति भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	: 1 × 2 मात्रा

1. यौवने पिडकास्वेष विशेषाच्छर्दनं हितम्। लेपनं च क्वतोध्र सैन्धवैः सर्षपान्वितैः॥ कुस्तुम्बुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम्॥ (सु.चि. 20/37)

3.	अभ्यंगार्थ	: स्थानिक प्रयोग
	कुंकुमाद्य तैल	
4.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 × 2 मात्रा
5.	पथ्यापथ्य पालन	

Latest Developments
Acne Vulgaris

Definition

It is an inflammatory disease of the sebaceous follicles of the skin marked by papules and pustules. Exceptionally common in adolscence and puberty. Acne usually affects the face, chest, back and shoulder.

Aetiology

1. Exact cause is unknown
2. Genetic (Heriditary) suseptibility.
3. Level of circulating sex hormones especially androgens and estrogens and their imbalance affects severity of disease.
4. Tropical climate and external application of oils may aggravate the disease by blocking the ducts.
5. Specific causative factors include food allergies, endocrine disorders, corticosteroid therapy, psychogenic factors, vitamin deficiency and contact with chemicals.

Signs and Symptoms

1. Age of onset - Adolescence and puberty.
2. Lesion mainly present on face and other seborrhoeic area.
3. Males are more commonly affected.
4. Subsequent inflammation leads to formation of papules. pustules, nodules and cysts.
5. Severe and untreated cases heal with scaring which may be deep, atrophic, hypertrophic or keloidal.

Management : Principles

Aims of Treatment

1. To remove the follicular obstruction.
2. Decrease the activity of sebaceous glands.
3. Reduce bacterial population.
4. Control of bacterial population.

Use of Medicines

1. Antibiotics oral or topical.
2. Skin cleansing.
3. Topical agents (Vit. "A" derivatives)
4. Symptomatic management.

32. पद्मिनीकण्टक

सामान्य लक्षण[1]

1. पद्मिनीकण्टक कफ एवं वात के प्रकोप से उत्पन्न होती है
2. इसमें कमलिनी के काँटों के समान कण्टक से भरा हुआ मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होते हैं
3. मण्डल सर्व शरीर गत, पाण्डु वर्ण वाले तथा कण्डू युक्त होते हैं

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन 2. शोधन चिकित्सा

पद्मिनी कण्टक में नीम के क्वाथ से वमन कराना चाहिऐ एवं निम्ब पत्र के क्वाथ से सिद्ध घृत में मधु मिलाकर पान के लिए प्रयोग करावें[2]।

3. निम्ब एवं अमलतास फलमज्जा समभाग लेकर उबटन करें।
4. प्रलेप-कमलनाल क्षार या भस्म को जल के साथ पीसकर लेप करने से पद्मिनी कण्टक नष्ट हो जाता है।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	पंचतिक्त घृत गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	हरिद्रा खण्ड	: 2 ग्राम
	अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
	मुक्ता शुक्ति	: 250 मि.ग्रा.
	शहद से	: 1 × 2 मात्रा

1. कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत पाण्डुमण्डलम्।
   पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम्॥ (सु.नि. 13/39)
2. पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा। तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिः पानं प्रदापयेत्॥
   निम्बारग्वधयोः कल्को हित उत्सादने भवेत्॥ (सु.चि. 20/38-39)

3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	: 1 × 2 मात्रा
4.	पथ्यापथ्य पालन	

33. जतुमणि

(Congenital Mole)

सामान्य लक्षण[1]

1. जतुमणि कफ एवं रक्त दोष के कारण उत्पन्न होता है
2. जतुमणि वेदना रहित, मण्डलाकार, चारों ओर उभरा हुआ कुछ रक्तवर्ण का एवं चिकना होता है
3. यह सहज (जन्मजात) व्याधि है। जतुमणि की साम्यता आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Congenital Mole से की जा सकती है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. शस्त्र कर्म : जतुमणि को शस्त्र से काटकर, क्षार अथवा अग्नि से धीरे-धीरे जलाना चाहिए।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.		
	कांचनार गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	चन्द्रकला रस	: 250 मि.ग्रा.
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	शहद से	: 1 × 2 मात्रा
3.	शस्त्र कर्म	: अग्निकर्म अथवा क्षार कर्म

Latest Developments
Congenital Mole

Introduction

It is a congenital discoloured spot elevated above the surface of the skin. Etiology is not clear. It is harmless unless irritated.

1. नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम्। सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः॥ (सु.नि. 13/40)
2. जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम्। क्षारेण प्रदहेद्यक्त्या वन्हिना वा शनैः शनैः॥ (सु.नि. 20/32)

Management : Principles.

1. Protect against irritation.
2. To consult a physician about any mole that changes colour or shows signs of growth or changes in appearance as such changes may indicate neoplasm.

34. मषक

(Elevated Mole)

सामान्य लक्षण[1]

1. मषक की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न अंगों पर वात दोष के प्रकोप से होती है।
2. मषक का आकार माष (उड़द) के समान, कृष्ण वर्ण वाला एवं उभरा हुआ होता है।
3. मषक पूर्णत: वेदना रहित एवं स्थिर होते हैं।

मषक की साम्यता आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Elevated Mole से की जाती है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. शस्त्र कर्म : मषक को शस्त्र से काटकर अग्नि अथवा क्षार से दग्ध कर धीरे-धीरे निर्मूल करना चाहिए।
3. एरण्ड पत्र नाल (ढण्ठल) के क्षार द्वारा घर्षण करने से मषक नष्ट हो जाता है।
4. सर्प की केंचुल के भस्म द्वारा मषक का घर्षण करने से वह पूर्णत: ठीक हो जाता है।

Latest Developments
Elevated Mole

Introduction

It is a common variety of mole. It is flat and slightly raised above the level of the skin. It has a smooth or slightly warty epidermal covering.

Management : Principles

It is better to excise a benign mole.

---

1. अवेदनं स्थिरञ्चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते।
   माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं वदेत्॥ (सु.नि. 13/41)
2. जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम्।
   क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वन्हिना वा शनैः शनैः॥ (सु.चि. 20/32)

35. तिलकालक

(Non Elevated Mole)

सामान्य लक्षण[1]

1. तिलकालक की उत्पत्ति वात, पित्त एवं कफ दोष के प्रकोप से होती है
2. यह तिल के समान आकृति वाले कृष्ण वर्ण के चिन्ह होते हैं
3. तिल कालक सर्व शरीर गत एवं वेदना रहित होते हैं

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार तिलकालक को Non Elevated Mole कहा जा सकता है।

चिकित्सा सिद्धांत[2]

1. निदान परिवर्जन
2. शस्त्र कर्म : तिलकालक को शस्त्र से काटकर क्षार अथवा अग्नि से धीरे-धीरे जलाना चाहिए
3. प्रलेप - शरपुंखा, नीलकमल पत्र, कुष्ठ, रक्तचंदन और खस इन्हें खट्टी दही में पीसकर लेप करने से तिलकालक नष्ट हो जाता है।

Latest Developments
Non Elevated Mole

Signs and Symptoms

1. It is a very common variety of mole.
2. Surface is not elevated.
3. Epithelium is smooth.
4. No hair growing from its surface.

Management : Principles

Excision is better.

---

1. कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
   वातपित्तकफोद्रेकात्तान विद्यात्तिलकालकान्॥ (सु.नि. 13/42)
2. जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम्।
   क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वन्हिना वा शनैः शनैः॥ (सु.चि. 20/32)

36. न्यच्छ

सामान्य लक्षण[1]

न्यच्छ के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. न्यच्छ एक जन्मजात क्षुद्र रोग है
2. यह शरीर के किसी भी भाग पर जन्मजात चिन्ह के रूप में उत्पन्न हो सकता है
3. यह छोटा या बड़ा, श्याम या श्वेत वर्ण का होता है
4. न्यच्छ पीड़ा रहित होते हैं

आचार्य वाग्भट ने 'न्यच्छ' का वर्णन 'लाञ्छन' नाम से किया है[2]।

चिकित्सा सिद्धांत[3]

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा : शिरावेध से रक्तमोक्षण करावें तत्पश्चात प्रलेप एवं अभ्यंग करें।
3. प्रलेप

(1) क्षीरी वृक्षों की छाल को दुग्ध में पीसकर लेप करें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात :	सायं
1.			
	कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.	
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
2.	भोजनोत्तर		
	शुद्ध गन्धक	: 500 मि.ग्रा.	
	स्वर्णमाक्षिक भस्म	: 250 मि.ग्रा.	
	रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.	
	शहद से	1 × 2 मात्रा	
3.	भोजनोत्तर		
	अमृतारिष्ट	: 20 मि.ली.	
	समभाग जल से	: 1 × 2 मात्रा	
4.	पथ्यापथ्य का पालन		

1. मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम्।
   सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥ (सु.नि. 13/43)
2. कृष्णं सितं वा सहजं मण्डलं लाञ्छनं समम्।। (अ.हृ.उ. 31/27)
3. शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैः रुपाचरेत्।
   न्यच्छं लिम्पेत्पयः पित्तैः कल्कैः क्षीरतरुद्भवैः॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/136)

37. चर्मकील

(Warts)

निदान-सम्प्राप्ति[1]

विविध निदान सेवन से प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर वाह्य त्वचा पर कील उत्पन्न करता है जिसे चर्मकील कहते हैं।

सामान्य लक्षण

1. वाह्य त्वचा के ऊपर स्थिर एवं कील के समान अर्श उत्पन्न हो जाता है इसे चर्म कील कहते हैं[1]।
2. यह मपक से थोड़ा ऊपर उठा हुआ होता है, कृष्ण एवं श्वेत रंग के मस्सों को चर्मकील कहते हैं[2]।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में चर्मकील की साम्यता Warts से की जाती है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शस्त्रकर्म : चर्म कील को शस्त्र से काटकर सूर्यकान्त, क्षार या अग्नि से जलाना चाहिए[3]।

Latest Developments
Warts

Definition

Wart is a circumscribed cutaneous elevation resulting from hypertrophy of the papillae and epidermis.

Warts are the most common clinical manifestation of human papilloma virus (HPA) infection occuring on any cutaneous or mucosal surface, most frequently on the hands, feet, face, legs and external genital areas.

Management : Principles

Most warts are benign and asymptomatic.

1. Topical applications of chemicals (Salicylic Acid, Lactic Acid, Trichloroacetic Acid and daily application of Tretinoin)
2. Laser Therapy
3. Cryotherapy usually with liquid Nitrogen.
4. Surgery - Excision, curettage, electrocautery are of use if topical agents and cryotherapy fail.

1. व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते॥ (सु.नि. 2/20)
2. मषेभ्यस्तून्नततराञ्चर्मकीलान सितासितान्॥ (अ.हृ.उ. 31/26)
3. तद्वदुत्कृष्य शस्त्रेण चर्मकीलजतुमणी॥ (अ.हृ.उ. 32/14)

38. व्यङ्ग

(Melanoderma of Face)

निदान सम्प्राप्ति[1]

क्रोध एवं परिश्रम से कुपित वायु पित्त के साथ संयुक्त होकर मुख प्रदेश में पीड़ा रहित मण्डल उत्पन्न करती है जिसे व्यङ्ग कहते हैं।

सामान्य लक्षण[1]

1. व्यङ्ग की उत्पत्ति मुख प्रदेश पर एवं अकस्मात होती है।
2. व्यङ्ग वेदना रहित, अल्प एवं श्याव वर्ण का होता है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा : शिरावेधन से रक्त मोक्षण करके प्रलेप एवं अभ्यङ्ग करना चाहिए[2]—
3. प्रलेप

(i) वटांकुर एवं मसूर दाल पीसकर लेप करने से व्यङ्ग ठीक होता है।
(ii) रक्तचन्दनादि लेप (रक्तचन्दन, लोध्र, मंजिष्ठा)
(iii) मूलक बीज लेप (मूली बीज को दुग्ध में पीसकर लेप करें)
(iv) जातीफलादि लेप (जातीफल)
(v) वटपत्रादि लेप (वट, चमेली, रक्तचन्दन)
(vi) शोरकादिलेप (कलमी शोरा एवं हरताल)

4. अभ्यङ्गार्थ

(i) कुंकुमाद्य तैल (ii) कुंकुमाद्य घृत
(iii) वर्णक घृत (iv) किंशुकादि तैल (पलास)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रात : सायं

कैशोर गुग्गुलु	: 500 मि.ग्रा.
पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
हरिद्रा खण्ड	: 2 ग्राम
जल से	1 × 2 मात्रा

1. क्रोधायास प्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
   सहसा मुखमागत्य मंडलं विसृजत्यतः॥
   नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्॥ (सु.नि. 13/45-46)
2. शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैरुपाचरेत्।
   व्यङ्गं च नीलिकां वाऽपि न्यच्छञ्च तिलकालकम॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/39)

2. भोजनोत्तर

शुद्ध गंधक	: 250 मि.ग्रा.
रसमाणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
प्रवाल पंचामृत	: 250 मि.ग्रा.
शहद से	1 × 2 मात्रा

3. अभ्यंगार्थ : किंशुकादि तैल
4. पथ्यापथ्य का पालन करना

39. नीलिका

(Lentigones)

सामान्य लक्षण

1. नीलिका रोग भी व्यङ्ग के लक्षणों के समान होता है परंतु वर्ण में कृष्णता होती है। नीलिका मुख के अतिरिक्त अन्य अंगों पर भी उत्पन्न हो सकता है[1, 2]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार नीलिका की तुलना Lentigones से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन चिकित्सा : नीलिका में शिरावेध के द्वारा रक्तमोक्षण करके प्रलेप एवं अभ्यङ्ग द्वारा चिकित्सा करनी चाहिऐ[3]।
3. प्रलेप

(i) जातीफलादि लेप (जायफल को पानी में पीसकर लेप करें)
(ii) हरिद्रादि लेप (हरिद्रा, जायफल, अर्कक्षीर)
(iii) क्षीरी वृक्षों की दूध सहित छाल को पीसकर लेप करना चाहिये।
(iv) बला, अतिबला, हरिद्रा, मधुयष्टि का लेप करना चाहिए।

4. अभ्यंगार्थ

1. कृष्णमेवं गुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत। (सु.नि. 13/47)
2. कृष्णमेवं गुणं गात्रे मुखे त्वा नीलिकां विदुः॥ (मा.नि. 55/40)
3. शिरावेधैः प्रलेपैश्च तथाऽभ्यङ्गैरुपाचरेत्।
   व्यङ्गं च नीलिकां वाऽपि न्यच्छञ्च तिलकालकम्॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 61/39)

(i) कुंकुमाद्य तैल

(ii) मंजिष्ठाद्य तैल

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	हरिद्रा खण्ड	: 2 ग्राम
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	दुग्ध से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	महामंजिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	पंचनिम्बादि चूर्ण	: 2 ग्राम
	जल से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	अभ्यंगार्थ	: कुंकुमाद्य तैल
5.	पथ्यापथ्य पालन	

Latest Developments

Lentigones

Definition

These are dark brown or black coloured rounded macules which vary in size from 2-10mm and are seen over any part of the body. The lesions are present since birth or may appear late in life.

Signs and Symptoms

1. They do not change with weather.
2. They are usually non familial
3. Rarely multiple lentigones occur with internal problems like ocular hypertension, electrocardiographic defects, pulmonary stenosis abnormal genitalia etc.

Management : Principles

1. Generally no need of treatment.
2. If required, treat the causative factors.

40. अवपाटिका

(Tear of Prepuce)

प्रमुख निदान

अवपाटिका रोग के निदान निम्न प्रकार हैं[1]-

1. पुरुष द्वारा अल्प योनि छिद्र स्त्री के साथ वेगपूर्वक मैथुन करना
2. शिश्न पर तिला लगाना
3. हस्त मैथुन करते समय अभिघात से
4. शिश्न का मर्दन एवं पीड़न करना
5. उपस्थित शुक्र वेग को धारण करना

सम्प्राप्ति

उपरोक्त कारणों से जब शिश्न चर्म में विदार (फट जाना) हो जाता है तब उसे अवपाटिका कहते हैं[1]।

सामान्य लक्षण[1]

1. अवपाटिका रोग में शिश्न का चर्म फट जाता है (Tear of the prepuce) या ऊपर चढ़ जाता है। आचार्य वाग्भट ने अवपाटिका रोग को गुह्य रोग मानते हुए अलग अध्याय में वर्णन किया है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. दोषानुसार विवेचन करते हुए अवपाटिका की चिकित्सा परिवर्तिका के समान करनी चाहिऐ[2]।

---

1. अल्पीय: खां हर्षाद् बालां गच्छेत् स्त्रियं नर:।
   हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्त्तिते बलात्॥
   मर्दनात्पीड़नाद्वाऽपि शुक्रवेगविघातत:।
   यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम्॥ (सु.नि. 13/52-53)
2. अवपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सक:॥ (सु.चि. 20/42)

41. परिवर्तिका

(Paraphimosis)

प्रमुख निदान[1]

1. हस्तादि से शिश्न का मर्दन करना
2. शिश्न को अत्यधिक दबाना
3. मैथुन के समय लड़ाई-झगड़ा (विवाद) हो जाने पर शिश्न पर आघात लगना।

सम्प्राप्ति

उपरोक्त कारणों से सर्व संचारी व्यान वायु लिङ्ग के अग्र चर्म भाग में प्रविष्ट होती है तब वायु से आक्रान्त हुआ वह चर्म ऊपर की ओर चढ़ जाता है तथा मणि (सुपारी) के नीचे ग्रंथि रूप में होकर लटकता है[2]।

सामान्य लक्षण

परिवर्तिका रोग के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं[3]—

1. वायु से दूषित होने के कारण शिश्न के अग्र भाग का चर्म उलटा होकर ऊपर चढ़ जाता है।
2. शिश्न में वेदना (Pain in the Penis)
3. दाह (Burning)
4. पाक (Abscess)

भेद

लक्षणों के आधार पर परिवर्तिका रोग के दो भेद होते हैं—

1. वातज परिवर्तिका

उपरोक्त वर्णित सभी लक्षण वातज पवितिका रोग के लक्षण हैं। इसमें वेदना अधिक होती है।

2. कफज परिवर्तिका[4]

यदि परिवर्तिका में अधिक कण्डू (Itching) तथा कठिनता (Hardness) हो तो उसे कफज परिवर्तिका कहते हैं।

---

1. मर्दनात् पीडनाच्चापि तथैवात्यभिघातत:।
   मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चर:॥ (सु.नि. 13/48)
2. तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रतिनिवर्तते।
   मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रंथिरुपेण लम्बते॥ (सु.नि. 13/49)
3. सवेदनं सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित्।
   मारुतावगन्तुसम्भूतां विद्यातां परिवर्तिकाम्॥ (सु.नि. 13/50)
4. सकण्डू: कठिना चापि सैव श्लैष्मसमुत्थिता:॥ (सु.नि. 13/51)

चिकित्सा सिद्धांत[1]

1. निदान परिवर्जन
2. पीड़ित स्थान पर सहन करने योग्य उष्ण घृत लगाकर स्वेदन करें।
3. शिश्न मुण्ड को हल्के-हल्के दबाते हुऐ चर्म को धीरे-धीरे उतारें।
4. जब मणि (Glans Penis) चर्म से ढक जाय तो चर्म पर 4-5 दिन तक हल्का स्वेदन करें।
5. वात नाशक बस्ति का प्रयोग करावें।
6. स्निग्ध आहार देवें।

Latest Developments
Paraphimosis

Definition

When a phimotic prepuse is forcibly retracted over the glans penis and it is stuck behind the glans penis a condition is created which is known as Paraphimosis.

Signs and Symptoms

1. This causes obstruction to venous out flow leading to oedema and congestion of the glans.
2. The glans swells leading to more difficulty in retracting back the prepuce.
3. The prepucial constriction band also gets oedematous and swollen unless the constructing band is released gangrene may result.
4. It is an emergency condition as presents with severe pain and swelling of the glans penis.

Management : Principles

1. One ml. of Isotonic solution and 150 units of Hyalurionidase is injected into lateral side of swollen ring of prepuse. The swelling is gradually reduced.
2. If above method is unsuccessful surgery, is advised.
3. Symptomatic Management.

---

1. परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत्।
   ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत् पीडयेन्मणिम्॥
   प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनै:।
   त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा वातघ्नै: साल्वणादिभि:।
   दद्याद्वात हरान् बस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत॥ (सु.चि. 20/40-42)

42. निरुद्धप्रकश

(Phimosis)

निदान सम्प्राप्ति[1]

परिवर्तिका रोग में वर्णित निदानों के सेवन से ही वात दोष प्रकुपित होकर शिश्न चर्म को दूषित कर देती है। दूषित शिश्न चर्म मणि (Glans Penis) को पूरी तरह से ढक लेता है। चर्म से ढकी हुई वह मणि मूत्र मार्ग को अवरुद्ध कर देती है जिसके फलस्वरूप मूत्र की प्रवृत्ति मन्द धार के रूप में होती है लेकिन मणि (Glans Penis) खुलती नहीं है। इसे निरुद्धप्रकश कहते हैं।

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	रस, रक्त
अधिष्ठान	:	शिश्न चर्म, मणि (Glans Penis)
स्रोतस	:	रक्तवह, मूत्रवह
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	सङ्ग, ग्रंथि
व्याधि स्वभाव	:	मृदु
साध्यासाध्यता	:	साध्य

सामान्य लक्षण

निरुद्ध प्रकश के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]-

1. मूत्र प्रवृत्ति धीरे-धीरे एवं अल्प वेदना के साथ होती है
2. शिश्न चर्म से मणि (Glans Penis) पूरी तरह ढकी हुई रहती हैं
3. मणि (Glans Penis) खुलती नहीं है अर्थात् शिश्न चर्म ऊपर की तरफ नहीं आता है

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार निरुद्ध प्रकश की तुलना Phimosis से की जाती है।

1. वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम्।
   मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च॥ (सु.नि. 13/54)
2. निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम्।
   मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न च विदीर्यते॥
   निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसम्भवम्॥ (सु.नि. 13/55-56)

चिकित्सा सिद्धांत[1]

1. निदान परिवर्जन
2. शल्य क्रिया

(i) सर्वप्रथम दोनों तरफ छिद्र वाली लौह, लकड़ी या लाख की शलाका पर घृत लिप्त कर शिश्न में प्रवेश करावें।

(ii) इस प्रकार प्रत्येक तीन-तीन दिन पर क्रमशः मोटी शलाका प्रवेश कराकर मूत्र मार्ग स्रोत को बढ़ाना चाहिये।

(iii) अथवा सेवनी को बचाते हुऐ शस्त्र क्रिया करके सद्यः क्षत विधि के अनुसार व्रण का शोधन एवं रोपण करें।

(iv) शिश्न मुण्ड के परिषेक के लिऐ मगर एवं सूअर की वसा एवं मज्जा तथा वात नाशक द्रव्यों से युक्त चक्र तैल का प्रयोग करें।

(v) स्निग्ध आहार का प्रयोग करें।

Latest Developments
Phimosis

Definition

When the orifice of the prepuce is too small to permit its normal retraction over the glans penis, the condition is called Phimosis.

Aetiology

Phimosis is of two types-

1. Congenital- Since birth.
2. Acquired

(i) Following long standing inflammation of the glans (Balanitis) or of the prepuse (Posthitis) or a combination of both (Balanoposthitis)

(ii) Trauma to the prepuce.

(iii) Underlying carcinoma may lead to narrowing of prepucial orifice.

Signs and Symptoms

1. Difficulty in micturition.
2. In case of congenital phimosis, the mother complains that

1. निरुद्ध प्रकशे नाड़ीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
   दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत्॥
   परिषेके वसामज्जशिशुमारवराहयोः।
   चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्न द्रव्यसंयुतम्॥
   त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाड़ी प्रवेशयेत्।
   स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत्॥
   भित्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत्॥ (सु.चि. 20/43-45)

when the child micturetes the prepuce balloons out and the urine comes out in thin stream.

3. In old patients. they may present with recurrent balanitis causing pain and purulent discharge comming out through prepucial orifice.

4. Occasionally patient may present with paraphimosis if the tight prepuce gets retracted and stuck behind the glans penis.

Local Examination

The opening of the prepuce is so small that it can not be retracted over the glans penis, then it is case of Phimosis.

Management : Principles

The treatment is circumcision i.e. removal of the foreskin or prepuce by surgery.

43. सन्निरुद्ध गुद
(Stricture of the Rectum)

प्रमुख निदान[1]

1. अपान वायु का वेग धारण करना
2. मल, मूत्र इत्यादि का अवरोध

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त निदान सेवन करने से प्रकुपित वायु गुदा प्रदेश में जाकर महास्रोतस का अवरोध करके गुद मार्ग को संकुचित एवं छोटा कर देता है तथा सन्निरुद्ध गुद उत्पन्न करता है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात
दूष्य	:	मल, मूत्र
अधिष्ठान	:	अधोगुद
स्रोतस	:	महास्रोतस
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	संग, ग्रंथि

1. वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रित: । निरुणद्धि महत्स्रोत: सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं गच्छति । सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥
(सु.नि. 13/57-58)

व्याधि स्वभाव	:	दारुण
साध्यासाध्यता	:	असाध्य

सामान्य लक्षण[1]

1. गुदा मार्ग संकुचित होने से मल प्रवृत्ति कठिनता से होती है।
2. अपान वायु का अवरोध भी हो सकता है।
3. विबंध

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. सन्निरुद्ध गुद को असाध्य मानते हुऐ चिकित्सा करनी चाहिऐ।
3. सम्पूर्ण चिकित्सा निरुद्ध प्रकश के समान करे[1]।
4. स्थानीय चिकित्सा- वातनाशक तैल से गुदा का अभ्यंग करावें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात : सायं
	लवणभास्कर चूर्ण	: 2 ग्राम
	तरुणी कुसुमाकर चूर्ण	: 2 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
2.	रात्रि में	
	हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
	गर्म जल से	1 मात्रा
3.	स्थानिक अभ्यंगार्थ	: प्रसारिणी तैल एवं जात्यादि तैल
4.	कर्म बस्ति प्रयोग	
(i)	निरुह बस्ति	: एरण्ड मूलादि क्वाथ से
(ii)	अनुवासन बस्ति	: महानारायण तैल से
5.	अधिक घृत युक्त आहार का सेवन	
6.	शल्य क्रिया	: दोनों तरफ मुख वाली शलाका से गुदा का विस्तार (Dilation) करना चाहिऐ एवं क्रमश: शलाका की मोटाई बढ़ाते हुए प्रयोग करना चाहिऐ।
7.	पथ्यापथ्य का पालन	

1. सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया। (सु.चि. 20/47)

44. अहिपूतना

(Sore Buttock or Diaper Rash)

पर्याय

मातृका दोष, पृष्टारु, गुदकण्द।

निदान[1]

1. शिशु के मल, मूत्र उत्सर्जन के पश्चात जल से गुदा का सम्यक प्रक्षालन नहीं करना।
2. पसीना होने पर भी मन्दोष्ण जल से स्नान नहीं करना
3. दुष्ट स्तन्य पान[2]

सम्प्राप्ति[3]

उपरोक्त निदान सेवन करने के कारण रक्त एवं कफ दोष की दुष्टि होने से शिशु की गुदा प्रदेश में कण्डू उत्पन्न हो जाती है तथा उसे खुजलाने पर स्फोट उत्पन्न होकर स्राव निकलने लगता है। इस प्रकार व्रण युक्त इस भयंकर व्याधि को अहिपूतना कहते हैं।

सामान्य लक्षण

अहिपूतना रोग के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

1. गुदा प्रदेश में कण्डू
2. गुदा प्रदेश पर स्फोट एवं तत्पश्चात व्रण की उत्पत्ति

आचार्य वाग्भट ने अहिपूतना रोग का वर्णन बालामय अध्याय के अंतर्गत किया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार अहिपूतना रोग की साम्यता Sore Buttock या Diaper Rash से की जाती है।

चिकित्सा सिद्धांत[3]

1. निदान पविर्जन
2. धात्री अथवा माता के दुग्ध की शुद्धि।
3. पित्त एवं कफ नाशक औषधियों का क्वाथ पिलावें।
4. शोधन चिकित्सा- रक्तिमा अधिक होने पर जलौका से रक्तविस्रावण करावें
5. त्रिफला, बेर और खदिर क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन[4]
6. काशीशादि लेप का स्थानिक प्रयोग

---

1. शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्। स्विन्नस्यारनाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा॥ कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥ (सु.नि. 13/59-60)
2. दुष्टस्तन्यपानेन मलस्याक्षालने च॥ (भोज)
3. धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना॥ (सु.चि. 20/57)
4. त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम्॥ (सु.चि. 20/58)

7. पानार्थ- पटोलादि घृत का प्रयोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1.		प्रात : सायं
	पंचकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
	मंजिष्ठादि चूर्ण	: 1 ग्राम
	कोष्ण जल से	1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	आरोग्यवर्धिनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
	रस माणिक्य रस	: 125 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 125 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
3.	भोजनोत्तर	
	सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा
4.	व्रण प्रक्षालनार्थ	: त्रिफला क्वाथ
5.	स्थानिक प्रयोग	: काशीशादि लेप
6.	पानार्थ	
	पटोलादि घृत	: 5 मि.ली.
	गोदुग्ध से	1 × 2 मात्रा
7.	पथ्यापथ्य का पालन	

Latest Developments
Diaper Rash

Definition

Rash in the diaper region is common durin , early infancy occuring in half of all infants.

Aetiology

1. It is more common in artificially fed infants especially in those in whom diaper is made of towelling and is changed infrequently.
2. It may involve convex surface such as buttocks, scrotal sac, mons pubis or inner side of the thigh.
3. Only flexures may be affected.

Signs and Symptoms

1. The skin appears like a parchment, like scaled area, which soon becomes infected giving rise to pustular erosions.

2. Bullous impedigo is also common in diaper rash.
3. Band like erythematous lesions are attributed to contact dermatitis with elastic band at the diaper edges.
4. Involvement of fold of skin causes sweat retention and makes area moist and macerated.
5. Constant rubbing of skin causes erosions and denudation of the skin.
6. The lesions are generally sharply demarcated.

Management : Principles

1. Acute rash should be managed with cool wet compresses (Using one Tea spoon Ful of salt in a pint of water) for 2-3 days.
2. Antiseptic cream or lotion may be used for control of infection.
3. For contact dermatitis use one percent Hydrocortisone.
4. For candida infection use Cotrimazole.

Precautions

1. Diaper should be made of single layer of porous soft cloth.
2. Excess layer of clothing should be avoided.
3. Diaper should be washed with mild soap and rinsed thoroughly.

45. वृषण कच्छू

(Eczema of the Scrotum)

निदान सम्प्राप्ति

स्नान एवं उबटन नहीं करने वाले बच्चे के वृषण प्रदेश में जमा हुआ मल जब पसीने से गीला हो जाता है तब वह कण्डू उत्पन्न करता है। अधिक कण्डू के कारण स्राव युक्त स्फोट उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था को वृषण कच्छू कहते हैं। यह कफ एवं रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है[1]।

सामान्य लक्षण

वृषण कच्छू के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार उत्पन्न होते हैं[1]-

1. वृषण प्रदेश में कण्डू
2. वृषण के चारों तरफ स्फोट

1. स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः। प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात् स कण्डूं जनयेत्तदा॥
तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। प्राहुर्वृषण कच्छूं तां श्लेष्मरक्त प्रदोषजाम्॥
(सु.नि. 13/61-62)

3. स्फोट से लगातार स्राव

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार वृषण कच्छू की साम्यता Eczema of the Scrotum से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. वृषण कच्छू की चिकित्सा पामा एवं अहिपूतना रोग के समान करनी चाहिऐ[1]।
3. स्थानीय चिकित्सा

(i) कर्पूरादि लेप (कर्पूर, गंधक, श्वेत चंदन)

(ii) काशीश, गोरोचन, तुत्थ, हरताल तथा रसाञ्जन को कांजी के साथ पीसकर लेप करना चाहिऐ।

आदर्श चिकित्सा पत्र

		प्रात : सायं
1.	गंधक रसायन	: 120 मि.ग्रा.
	रस माणिक्य रस	: 60 मि.ग्रा.
	शुद्ध टंकण	: 60 मि.ग्रा.
	शहद से	1 × 2 मात्रा
2.	स्थानिक प्रक्षालनार्थ	: खदिर, बेर एवं त्रिफला क्वाथ
3.	लेपनार्थ	: काशीशादि लेप या कर्पूरादि लेप

46. गुदभ्रंश

(Prolapse of the Rectum)

सामान्य लक्षण

गुदभ्रंश के लक्षण निम्नलिखित हैं[2]-

1. रुक्ष एवं दुर्बल व्यक्ति द्वारा अति प्रवाहण से एवं अतिसार के कारण गुदा बाहर निकल आती है। इसे गुदभ्रंश रोग कहते हैं।

आचार्य वाग्भट ने गुदभ्रंश का वर्णन गुह्य रोगाधिकार में किया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार गुदभ्रंश को Prolapse of the Rectum माना जा सकता है।

1. चिकित्सेन्मुष्ककच्छूं चाप्यहिपूतनपामवत्। (सु.चि. 20/60)
2. प्रवाहणतिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रुक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत्॥ (सु.नि. 13/63)

चिकित्सा सिद्धांत

1. निदान परिवर्जन
2. गुदा का यथास्थान स्थापन करना चाहिये[1]
3. अधोवायु प्रवृत्ति के लिऐ मध्य में छिद्र वाली चमड़े की गोफणा बंध से बांधना चाहिये[2]
4. धीरे-धीरे स्थानीय स्वेदन कराना चाहिये[1]
5. स्थानीय अभ्यंगार्थ- मूषक तैल प्रयोग करें[2]
6. अनुवासन बस्ति प्रयोग
7. आभ्यान्तर प्रयोगार्थ

(i) चव्यादि घृत

(ii) चांगेरी घृत

8. स्निग्ध एवं वातनाशक आहार विहार का प्रयोग।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. स्नेहन, स्वेदन करके मूषक तैल की सहायता से गुदा को स्वस्थान पर स्थापित करें।
2. भोजनोत्तर

आरोग्यवर्धिनी वटी	: 500 मि.ग्रा.
लवणभास्कर चूर्ण	: 2 ग्राम
गर्म जल से	1 × 2 मात्रा

3. चांगेरी घृत : 10 मि.ली.
   कोष्ण दुग्ध के साथ 1 × 2 मात्रा
4. रात्रि में

त्रिफला चूर्ण	: 2 ग्राम
गर्म जल से	1 मात्रा

5. अभ्यंगार्थ : मूषक तैल
6. स्निग्ध एवं वातनाशक आहार विहार सेवन
7. योगाभ्यास : मूलबंध का प्रयोग

---

1. गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
   कारयेद् गोफणाबंधं मध्याच्छिद्रेण चर्मणा॥
   विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः॥ (सु.चि. 13/61)
2. क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जितम्।
   पक्त्वा तस्मिन् पचेतैलं वातघ्नौषधसंयुतम्॥
   गुदंभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत्। (सु.चि. 20/62-63)

Latest Developments

Prolapse of the Rectum

There are two types of prolapse of rectum-

1. Partial Prolapse
2. Complete Prolapse

1. Partial Prolapse of Rectum

Prevalence of Rectal Prolapse

(i) It occurs more commonly in childrens below three years of age.

(ii) Elderly people are also affected.

Aetiopathogenesis

1. In children

(i) Due to faulty bowel habits.

(ii) Straining such as attack of diarrhoea and whooping cough.

(iii) Loss of weight and malnourished child.

2. In Adults

(i) Some loss of tone of anal sphincter.

(ii) Third degree haemorrhoids associated with partial prolapse.

(iii) In females torn perineum.

(iv) Excessive straining due to urethral obstruction from enlarged prostate or excessive coughing from bronchitis.

Management : Principles

1. Conservative Treatments.
2. Digital reposition- means replacing of the protruded bowel through the anal sphincter.

Supportive treatment

1. Avoiding straining at stools.
2. Attention of bowel habits.
3. Controll of diarrhoea.
4. Symptomatic management.

2. Complete Prolapse of Rectum

Complete prolapse is more common in elderly. Women are affected five times more than men.

Management : Principles

1. Surgery.
2. Symptomatic Management.

अध्याय-9

मानस विज्ञान निरुपण

परिचय

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में मानस विज्ञान नाम से स्वतंत्र रूप से अलग से कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है। परंतु अष्टांग आयुर्वेद में अनेक मानस रोगों, ग्रहबाधा एवं भूतविद्या आदि का स्वतंत्र रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुत: सम्पूर्ण आयुर्वेद ही मानस संबंधी विषयों एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। आयुर्वेद में मानस रोगों के क्रम में उन्माद, अपस्मार, ग्रहावेश, भय, हर्ष एवं शोक आदि का वर्णन तथा राजस एवं तामस प्रकृतियों के वर्णन के माध्यम से सभी मानसिक विकारों का सविस्तार वर्णन मिलता है।

आत्मा को चैतन्य स्वरूप में बनाये रखने में मन की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जब आत्मा, मन के साथ संयुक्त होती है एवं मन, इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तथा इन्द्रियां अपने विषयों से जुड़ती है तभी पुरुष को संबंधित विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुख, दु:ख इत्यादि के ज्ञानार्थ साधनभूत इंद्रिय को मन कहते हैं[1]।

आयुर्वेदीय अवधारणा के अनुसार मन जीव का अभिन्न अंश है। आचार्य चरक ने आयु को परिभाषित करते हुये स्पष्ट किया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के संयोग से ही जीव की उत्पत्ति होती है[2]। मन, आत्मा एवं शरीर नामक त्रिस्थूण पर ही जीव की स्थिति आधारित होती है[3]। इस प्रकार मन जीव का अभिन्न अंश होने से ही स्वास्थ्य एवं सभी शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों में मनोभावों की प्रमुख भूमिका होती है।

आयुर्वेद मतानुसार आश्रय भेद से व्याधियों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया गया है-

1. शारीरिक व्याधियां
2. मानस व्याधियां

शारीरिक एवं मानस विकार प्राय: एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। शारीरिक विकार प्राय: निज करणों से उत्पन्न होते हैं तथा मानस विकारों का कारण अधिकतर आगन्तुज होता है। परंतु शारीरिक एवं मानस विकार एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं[4]। इसी वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद में एक समग्र मनोदैहिक दृष्टिकोण

1. सुखाद्योपलब्धि साधनमिन्द्रियं मन:। (तर्क संग्रह)
2. शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। (च.सू. 1/42)
3. सत्वात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्। (च.सू. 1/46)
4. ते च विकारा: परस्परमनुवर्तमाना: कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च। (च.वि. 6/8)

स्वीकार किया गया है। आचार्य चरक ने शरीर एवं मन को एक दूसरे के अनुरूप बताया है[1]। आयु स्वयं में मन, आत्मा एवं शरीर का संयुक्त स्वरूप है। अत: प्रत्येक व्याधि में मन, आत्मा एवं शरीर का प्रभावित होना स्वाभाविक है। अत: वे रोग जिनमें प्रधान रूप से शारीरिक विकार उत्पन्न होते हों उन्हें 'शारीरिक रोग' कहा जाता है तथा जिन रोगों में प्रधानत: मनोविकार उत्पन्न होता है और लक्षण भी शारीरिक न होकर मुख्यत: मानसिक ही होते हैं उन्हें 'मानस रोग' कहा जाता है। जैसे कास, श्वास, अतिसार इत्यादि को शारीरिक व्याधि एवं उन्माद, अपस्मार, अतत्वाभिनिवेश, भ्रम, शोक एवं हर्ष इत्यादि को मानस विकार स्वीकार किया जाता है। जबकि दोनों ही प्रकार के विकारों में न्यूनाधिक मात्रा में शरीर एवं मन दोनों ही समान रूप से प्रभावित होते हैं।

'मन' पद की निरुक्ति

वाचस्पत्यम शास्त्र में मन की निम्नलिखित निरुक्ति दी गयी है—

1. 'मनस मन्यतेऽनेनेति मन: करणेऽसुन'

(वाचस्पत्यम)

अर्थात् मनस शब्द मन बोध धातु के साथ करण (साधन) अर्थ में 'असुन' प्रत्यय होने से बनता है जिसका अर्थ है जिसके द्वारा बोध हो।

2. मन्यतेऽनेन इति मन: (मन ज्ञाने)
3. मनुते इति मन: (मनु अवबोधने)

इन धातुओं से 'मन' शब्द बनता है तथा जिसका अर्थ है 'जिससे ज्ञान होता है उसे मन कहते हैं'।

मन का स्थान

मन के निम्न दो स्थान माने गये हैं-

1. हृदय
2. मस्तिष्क या सिर

1. हृदय

संहिताओं में इन्द्रिय, आत्मा एवं मन का स्थूल रूप में स्थान हृदय बताया गया है। आचार्य चरक ने हृदय का वर्णन करते हुऐ स्पष्ट कहा है कि षडङ्गों से युक्त शरीर, विज्ञान (बुद्धि), इन्द्रियां, इन्द्रियों के सभी विषय, सगुण आत्मा, मन एवं मन के विषय इन सभी का आधार स्थल हृदय होता है[2]।

चिकित्सा स्थान अध्याय 24 में भी आचार्य चरक ने मन का स्थान हृदय बताया है।

1. शरीरं ह्यपि सत्वमनुविधीयते, सत्वं च शरीरम्।
(च.शा. 4/36)
2. षडङ्गमङ्ग विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥ (च.सू. 30/4)

यथा- रस, वातादि के मार्ग, सत्व (मन), बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा और पर ओज का स्थान हृदय है[1]। मदात्यय प्रकरण में भी आचार्य चरक ने कहा है कि मद्य के द्वारा जब हृदय विकृति हो जाती है तो उसमें रहने वाली रसादि धातओं, मन, बुद्धि, आत्मा तथा ओज का स्वाभाविक कार्य विकृत हो जाता है। आचार्य वाग्भट ने भी मन का स्थान हृदय को ही माना है[2]। इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत ने शारीर स्थान अध्याय 3 में बुद्धि एवं मन का स्थान हृदय ही बताया है[3]। महर्षि भेल ने सर्व प्रकार की बुद्धियों एवं मन को हृदय में अवस्थित होना बताया है[4]।

आयुर्वेद में स्पष्ट वर्णित है कि ओज मन की क्रियाशीलता एवं गतिशीलता को सतत रूप से बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाता है जिसके फलस्वरूप जीवन व्यापार निर्बाध गति से चलता रहता है। ओज को शरीर का बल मानते हुऐ उसे शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलापों का प्रणेता माना गया है। यहां पर यह भी स्पष्ट किया गया है कि ओज की हानि विशेष रूप से मानस विकारों के कारण होती है। ओज क्षय में सर्वप्रथम मन एवं मानसिक क्रिया कलापों में विकृति उत्पन्न होती है। जैसा कि ओजक्षय के लक्षणों में स्पष्टत: वर्णित है[5]।

आयुर्वेद में पर ओज का स्थान हृदय बताया गया है। अत: ओज का स्थान हृदय होने से मन का स्थान भी हृदय सिद्ध होता है। इसके अनन्तर उच्च स्तरीय मानस क्रियाओं का प्रेरक साधक पित्त का स्थान भी हृदय होने से मन का स्थान हृदय ही है ऐसा माना जा सकता है।

2. मस्तिष्क या शिर

भेल संहिता में मन का स्थान शिर बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि सभी इन्द्रियों में उत्तम मन, शिर और तालु में रहता है[6]। शिर एवं तालु में रहते हुये ही मन समीप में रहने वाली इन्द्रियों के रस इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है।

आचार्य चरक ने भी सभी इन्द्रियों का प्रधान आश्रय शिर को ही बताया है[1]। चूंकि

1. रसवातादिमार्गाणां सत्वबुद्धिन्द्रियात्मनाम्।
   प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥ (च.चि. 24/35)
2. सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठ। (अ.हृ.शा. 4/13)
3. हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्। (सु.शा. 3/30)
4. कारणं सर्वबुद्धिनां चित्तं हृदय संस्थितम्॥ (भे.स. 3)
5. विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रिय:।
   दुश्छायो दुर्मना रुक्ष: क्षामश्चैववौजस: क्षये॥ (च.सू. 17/73)
6. शिरस्तालवान्तरगतं सर्वेन्द्रिय परं मन:।
   तत्र तद्विषयानि इन्द्रियानि रसादिकान्॥ (भे.स. उन्माद)

सभी इन्द्रियां मन से संबद्ध हैं अत: मन का स्थान शिर है ऐसा स्पष्ट होता है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के आधार पर हृदय एवं मस्तिष्क अथवा शिर दोनों को ही मन का स्थान मानना उचित प्रतीत होता है।

मन के गुण

मन के निम्न दो गुण होते हैं[2]-

1. अणुत्व
2. एकत्व

1. मन का अणुत्व गुण

अणुत्व का तात्पर्य है सूक्ष्म। अर्थात जो विभु या सर्व शरीर व्यापक नहीं हो। विभु परिमाण वाली आत्मा है जिसमें गति नहीं है अत: अणु परिमाण वाला द्रव्य ही सम्पूर्ण गति सम्पन्न करता है एवं वह मन के अतिरिक्त और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। अणुत्व का एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। मन अपनी सूक्ष्मता, चंचलता तथा तीव्र गति के कारण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्रतीत होता है। अणुत्व गुण के कारण ही मन एक विषय से दूसरे विषय में इतनी शीघ्रता से प्रवेश करता है कि इसका ज्ञान ही नहीं होता है। इसीलिए मन की गति को सबसे तीव्र बताया गया है।

2. मन का एकत्व गुण

मन का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ संयोग करता हुआ उसी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। वस्तुत: मन में अणुत्व गुण के कारण एक विषय से दूसरे विषय तक इतनी शीघ्रता से गति होती है कि काल का ज्ञान न होने से मन की अनेकता की प्रतीती होती है। परन्तु यह भ्रम की स्थिति है जो मन के अणुत्व गुण के कारण होती है।

प्रत्येक शरीर में भिन्नता होने के कारण मन को अनन्त माना जा सकता है परंतु प्रत्येक शरीर में रहने वाला मन एक ही है। उस शरीर की सम्पूर्ण प्रक्रियाऐं उसी पर आधारित हैं। भूत गुणों की न्यूनाधिकता से धर्म अधर्म आदि संस्कारों द्वारा एवं कर्म विपाक द्वारा भिन्न-भिन्न स्वरूपों में मन परिवर्तित हो जाता है फिर भी मूल रूप में एक ही रहता है। मन की अनेकता का भ्रम निम्न कारणों से होता है[3]-

(i) स्वार्थ व्यभिचार के कारण

मन अपने अर्थों के व्यभिचरण से अनेक प्रतीत होता है जैसे एक ही व्यक्ति कभी

1. प्राणा: प्राणभृतां यत्राश्रिता: सर्वेन्द्रियाणि च।
   यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥ (च.. सू. 17/12)
2. अणुत्वमथ चैकत्वं दौ गुणौ। (च.शा. 1/19)
3. स्वार्थेन्द्रियार्थ संकल्प व्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन्
   पुरुषे सत्वं, रजस्तम:सत्वगुणयोगच्च॥ (च.सू. 8/5)

धर्म का तो कभी काम का चिन्तन करता है। इस प्रकार अर्थ व्यभिचार से मन की अनेकता का संदेह होता है।

(ii) इन्द्रियार्थ व्यभिचार के कारण

मन विभिन्न इन्द्रियों के अर्थों में व्यभिचरण करता रहता है जैसे कभी चक्षु इन्द्रिय से रूप का ग्रहण करता है, कभी घ्राण इन्द्रिय से संयुक्त होकर गंध ज्ञान का ग्रहण करता है। इसलिऐ मन की अनेकता का भ्रम होता है।

(iii) संकल्प के व्यभिचार के कारण

संकल्प का अर्थ है गुण एवं दोष पूर्वक चिन्तन करना। मन के द्वारा एक ही विषय वस्तु को कभी अत्यन्त गुणवान मान तो कभी उसे दोष पूर्ण देखना। इस प्रकार का भिन्न चिन्तन मन के एकत्व गुण में संदेह उत्पन्न करता है।

(iv) रज, तम एवं सत्व गुण के कारण

मन अत्यन्त चंचल होता है। मन में कभी रजोगुण की प्रधानता रहती है तो कभी तमो गुण या सत्व गुण प्रबल हो जाता है। इस प्रकार की भिन्नता मन की एकत्वता को खण्डित करती प्रतीत होती है।

(v) समुच्यात

पूर्ण में वर्णित सभी कारणों के सम्मिलित स्वरूप से भी मन की अनेकता प्रतीत होती है।

इस प्रकार की शंकाओं का निम्न प्रकार से समाधान किया जा सकता है-

मन की अनेकता की प्रतीती केवल मिथ्या है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो मन एक है एवं अणु है। अणु एवं एक होने के कारण ही वह एक साथ अनेक विषयों को ग्रहण नहीं करता है। मन की गति तीव्रतम होने के कारण अत्यल्प समय में ही अनेक इन्द्रियों से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। उदाहरणार्थ कमल के सौ पत्रों को एक पर रखकर सुई से वेधन करने पर ऐसा लगता है कि सभी पत्रों का वेधन एक ही समय में हो गया है परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता है, सभी पत्रों का वेधन अलग-अलग लेकिन शीघ्रता से होता है इसलिए भ्रांति होती है।

मन के कर्म

आचार्य चरक के अनुसार मन के कार्य निम्नलिखित हैं[1]-

1. इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उनका संचालन करना।
2. अहित विषयों से उन्हें रोकना।
3. स्वयं को अहितकर विषयों में जाने से रोकने का प्रयास करना।

1. इन्द्रियाभिग्रह: कर्म मनस: स्वस्य निग्रह:।
ऊहो विचारश्च, तत: परं बुद्धि: प्रवर्तते॥ (च.शा. 1/21)

4. विभिन्न कार्यों की सम्भावनाओं के प्रति तर्क वितर्क करना।
5. हित एवं अहित का विचार करना।

यहां पर आचार्य चरक ने स्पष्ट रूप से इन्द्रियाभिनिग्रह:, स्वस्य निग्रह को मन के कर्म के रूप में स्वीकार किया है। परंतु दूसरी पंक्ति में "ऊहो विचारश्च" कहा है। अनेक व्याख्याकार उह्य, विचारादि को मन के कर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि चिन्त्य, विचार, उह्य, ध्येय, संकल्प इत्यादि मन के अपने विषय हैं। इनका ग्रहण मन के द्वारा बिना इन्द्रियों की सहायता से ही हो जाता है। मन का प्रमुख कार्य इन्द्रियों एवं उनके कार्यों का नियंत्रण तथा स्वयं का नियंत्रण करना है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मन के विषय वह सभी हैं जो मन के द्वारा बिना इन्द्रियों की सहायता से ग्राह्य हैं परंतु मन का प्रमुख कार्य इन्द्रियाभिग्रह एवं स्वस्य निग्रह हैं।

(i) इन्द्रियाभिग्रह

इन्द्रिय युक्त समस्त मनोव्यापार को इन्द्रियाभिग्रह कहते हैं। यहां पर इन्द्रियाभिग्रह का अर्थ इन्द्रिय निग्रह से किया गया है। जब इन्द्रियार्थों के असात्म्य संयोग की अवस्था होती है तो उस संयोग का मन निग्रह करता है अर्थात मन ही इनके असात्म्य संयोग को रोक सकता है। उसके अन्तर्गत ज्ञान एवं चेष्टा से संबंधित मनोव्यापार इन्द्रिय की संयुक्तावस्था में ही सम्पादित होती हैं तथा मन का प्रथम कार्य इन्द्रियाभिग्रह अर्थात् इन इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर इनका सम्यक रूपेण संचालन करना है।

(ii) स्वस्य निग्रह

मनोव्यापार का जो क्षेत्र इन्द्रिय निरपेक्ष है उसका निग्रह मन स्वयं करता है। चिन्त्य, विचार, ध्येय, संकल्प आदि मन के विषय हैं तथा यह इन्द्रिय निरपेक्ष मनोव्यापार है।

मन के विषय

आचार्य चरक ने निम्नलिखित मन के विषयों का वर्णन किया है[1]-

चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प तथा अन्य जो भाव मन के द्वारा जाने जाते हैं उन्हें मन का विषय कहते हैं। मन के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले विषयों को चिन्त्य कहा जाता है जैसे क्या करने योग्य है अथवा क्या अयोग्य है। किसी विषय वस्तु के लाभ-हानि अथवा गुण दोष की विवेचना करने को विचार्य कहा जाता है तथा युक्ति अथवा तर्क द्वारा परीक्षण किये जाने वाले विषय को उह्य कहते हैं। एकाग्र मन से किसी विषय का ध्यान किया जाना ध्येय है। संकल्प करने योग्य विषय को संकल्प्य कहा जाता है। अर्थात् गुण एवं दोष का ज्ञान करके कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य से अभीष्ट की प्राप्ति का निश्चय करना ही संकल्प है।

1. चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ (च.शा. 1/20)

मानस रोगों के सामान्य निदान

I. आयुर्वेद सिद्धांत के अनुसार सभी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के तीन मुख्य कारण होते हैं। यह निम्नलिखित हैं[1]—

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग
2. प्रज्ञापराध
3. परिणाम

शारीरिक दोष वात, पित्त एवं कफ होते हैं। इनमें वात दोष सबसे प्रधान तथा सभी क्रियाओं का नियन्ता होता है। इसी प्रकार मानस दोषों में रज की प्रधानता होती है। रज दोष के बिना तम दोष की प्रवृत्ति नहीं होती।

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग

ज्ञानेन्द्रियां पांच होती हैं- श्रोत्, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषय के साथ अतियोग (अधिक संयोग होना), अयोग (पूर्णत: संयोग नहीं होना), अथवा मिथ्यायोग (कभी संयोग होना और कभी संयोग न होना) होना ही असात्मेन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। इन्द्रियां पांच होती हैं तथा प्रत्येक में तीन विकार अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग हो सकता है। अर्थात् कुल 15 प्रकार से असात्मेन्द्रियार्थ संयोग हो सकता है।

(i) कर्णेन्द्रिय

1. अत्यधिक ऊंचे शब्द जैसे मेघ गर्जन, नगाड़े की आवाज, अत्यंत तीव्र आवाज में संगीत सुनना इत्यादि कर्णेन्द्रिय का अपने विषय के साथ अतियोग है।
2. कर्णेन्द्रिय से किसी प्रकार के शब्दों का सुनायी नहीं देना अयोग कहलाता है।
3. अप्रिय, निन्दित, कठोर, दु:ख कारक शब्दों को सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

(ii) त्वक् इन्द्रिय

1. अत्यधिक शीतल अथवा अत्यंत उष्ण द्रव्यों का त्वचा के साथ संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का अतियोग है।
2. शीत, उष्ण, अभ्यंग, परिषेक आदि का त्वचा से सर्वथा स्पर्श न होना त्वचा का अयोग है।
3. अपवित्र वायु का स्पर्श, या आघात लगना अथवा विषाक्त द्रव्यों का त्वचा से संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का मिथ्या योग है।

(iii) दर्शनेन्द्रिय

1. द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणं, तद्यथा-
असात्मेन्द्रियार्थसंयोग:, प्रज्ञापराध: परिणामश्चेति। (च.वि. 6/6)

1. अत्यंत चमक वाली वस्तु जैसे सूर्य, विद्युत बल्ब, आकाशीय विद्युत, टेलीविजन पर तेज चमक में चलचित्र देखना दर्शनेन्द्रिय का अतियोग है।
2. किसी वस्तु का सर्वथा न देखना दर्शनेन्द्रिय का अयोग है।
3. अतिसमीप, अतिदूरस्थ, भयंकर, उग्र, वीभत्स, विचित्र, विकृत शव इत्यादि का देखना दर्शनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

(iv) रसनेन्द्रिय

1. मधुर, अम्ल, लवण आदि रसों का अत्यधिक सेवन रसनेन्द्रिय का अतियोग है।
2. किसी भी रस का सेवन न करना अथवा रसहीन पदार्थ का सेवन रसनेन्द्रिय का अयोग है।
3. अपथ्य, अखाद्य द्रव्यों का सेवन, अष्टाहारविधि विशेषायतन एवं द्वादशासन विधियों का उल्लंघन करना रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

(v) घ्राणेन्द्रिय

1. अत्यंत तीव्र अथवा अत्यंत उग्र गन्ध का सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है।
2. किसी भी प्रकार की गन्ध को नहीं सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अयोग है।
3. दुर्गन्ध युक्त, अपवित्र गन्ध, विषाक्त गन्ध को सूँघना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

2. प्रज्ञापराध

प्रज्ञा का अर्थ "धी" होता है। धी, धृति एवं स्मृति के विभ्रंस होने के फलस्वरुप जब पुरुष ऐसे अनुपयुक्त कार्य करने लगता है जो दोषों को प्रकुपित करते हैं तो उसे प्रज्ञापराध कहते हैं[1]। यहाँ पर "बुद्धि (धी)" के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। "धृति" के द्वारा प्राप्त ज्ञान का धारण किया जाता है एवं "स्मृति" के द्वारा आवश्यकता होने पर संचित ज्ञान का स्मरण किया जाता है।

मन, वाणी एवं शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है[2]। इन तीनों की प्रवृत्ति का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग प्रज्ञापराध कहा जाता है।

(i) कर्म का अतियोग

मन, वाणी एवं शरीर के कर्मों का अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना कर्म का अतियोग है।

(ii) कर्म का अयोग

वाणी, मन अथवा शरीर के जो भी स्वाभाविक कर्म है उनमें प्रवृत्त नहीं होना कर्मों

1. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्ट: कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ (च.शा. 1/102)
2. इति त्रिविध विकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्॥ (च.सू. 11/41)

का अयोग है।

(iii) कर्म का मिथ्यायोग

जैसे अधारणीय वेगों का धारण, प्रवृत्त हो रहे वेगों को रोकना, शरीर के लिए कष्टकर कार्य जैसे मद्यपान, व्रत, उपवास, अति धूप आदि का सेवन करना कर्म का मिथ्यायोग है।

3. परिणाम

काल को ही परिणाम कहा जाता है क्योंकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे अथवा बुरे कर्मों को धर्म-अधर्म रुप में परिणत कर यथा समय उनका फल देने वाला होता है।

काल के लक्षणों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग, सभी प्रकार के शरीर या मानस रोगों का निमित्त कारण होता है।

(i) काल का अतियोग

शीतकाल में शीत का अथवा उष्ण काल में गर्मी का और वर्षाकाल में वर्षा का अत्यधिक होना काल का अतियोग है।

(ii) काल का अयोग

शीत काल में शीत का पूर्णत: न होना या अत्यल्प मात्रा में शीत होना, ग्रीष्म काल में गर्मी का अभाव और वर्षा ऋतु में बारिश का न होना या अत्यल्प होना काल का अयोग है।

(iii) काल का मिथ्यायोग

शीतकाल में गर्मी होना अथवा वर्षा होना, ग्रीष्म ऋतु में शीत अथवा वर्षा होना, और वर्षा ऋतु में ग्रीष्म या शीत होना काल का मिथ्यायोग है।

बदलते वातावरण एवं दूषित होते हुए पर्यावरण के फलस्वरुप आजकल काल का मिथ्यायोग अधिक हो रहा है जैसे खाड़ी देशों में इस वर्ष भारी वर्षा हुई जो कि अद्‌भूत था, क्योंकि पिछले सैकड़ों वर्षों के बाद रेगिस्तान में वर्षा हुई है।

अत: यह कहा जा सकता है कि असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण कारण होते हैं।

II. रज एवं तम मानस दोष एवं मनोरोग

मानस दोष दो होते हैं रज एवं तम। रज दोष सर्वाधिक क्रियाशील होता है एवं मन के दूसरों अंशों को भी क्रियाशील करता है। मनुष्य शरीर में प्रत्येक इच्छा, आकांक्षा की उत्पत्ति का मूल कारण रज दोष ही है एवं यही विभिन्न प्रकार के मानस विकारों को उत्पन्न करता है।

तम दोष गुरु तथा स्थिर स्वभाव वाला होता है। यह इन्द्रिय ग्रहण एवं मानसिक प्रक्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करता है। तम के कारण ही मिथ्याज्ञान, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा इत्यादि की उत्पत्ति होती है।

III. चित्तवृत्तियां एवं मनोरोग

पातञ्जल योग सूत्र में पांच प्रकार की चित्तभूमि बतायी गयी हैं। इनके नाम एवं मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं—

1.	मूढ़	:	तम दोष
2.	क्षिप्त	:	रज दोष
3.	विक्षिप्त	:	रज एवं तम दोष
4.	एकाग्र	:	सत्व गुण
5.	निरुद्ध	:	सत्व गुण

उपरोक्त वर्णन में प्रथम दो चित्त भूमियों में रज एवं तम का बाहुल्य तथा तीसरे में रज एवं तम दोष की साम्यावस्था है। एकाग्र एवं निरुद्ध में सत्व गुण के कारण यह मानस रोग उत्पादक नहीं है। अधिकतर मानस रोगों की उत्पत्ति मूढ़ एवं क्षिप्त अवस्थाओं में ही होती है।

IV. मानस प्रकृतियाँ एवं मानस रोग

मानस रोगों का मूल कारण राजस एवं तामस दोष हैं। मानस प्रकृतियाँ 16 होती हैं जिनमें सत्व गुण से सात प्रकृतियाँ, राजस दोष से छ: प्रकृतियाँ तथा तामस दोष से तीन प्रकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्व गुण कल्याणकारी होता है तथा दोष रहित होता है। राजस मन में रोष (क्रोध) अंश की प्रधानता होती है अत: वह दोषकारक होती है। तामस अंश में मोह अंश की प्रधानता होती है अत: वह भी दोष युक्त होती है[1]।

अत: राजस एवं तामस प्रकृतियाँ मानस रोग का कारण होती हैं।

V. अल्प सत्वता एवं मानस रोग

सत्व निम्न तीन प्रकार का होता है-

1. प्रवर सत्व : मानसिक रूप से सत्व
2. मध्यम सत्व : थोड़े उपायों से पूर्ण सत्व
3. अवर सत्व अथवा हीन मनोबल (निकृष्ट)

अल्प सत्व वाले व्यक्ति अपने मानस भावों को नहीं रोक पाते हैं तथा मामूली सी समस्याओं सें ही अत्यधिक परेशान एवं बेचैन हो जाते हैं। अल्प सत्व वाला व्यक्ति शारीरिक रूप से शक्तिशाली तो हो सकता है परंतु मानसिक रूप से अत्यन्त दुर्बल होता है। उनके मन में भय, शोक, लोभ, मोह आदि विकार भरे रहते हैं। वे विकृत, रौद्र, घृणित विषय अथवा रक्त, मांस आदि को देखकर ही विषाद, मूर्च्छा, उन्माद, शिरोभ्रम से घिर जाते हैं जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मानस विकारों के शिकार हो जाते हैं[1]।

VI. सद्‌वृत की उपेक्षा एवं मानस रोग

1. त्रिविधं खलु सत्वं-शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। (च.शा. 4/36)

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में सद्वृत्त का विस्तृत वर्णन मिलता है। सद्वृत्त का समुचित रूप से पालन करना मानस स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होता है। संहिता ग्रंथों में अनेक प्रकार के सद्वृत्त का सम्मिलित रूप में विस्तृत वर्णन है। इसके अंतर्गत, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक आदि घटकों को सम्मिलित किया गया है। समुचित रूप से सद्वृत्त पालन से मानस रोगों से बचाव किया जा सकता है परंतु सद्वृत्त एवं आचार रसायन का पालन नहीं करने से अनेक प्रकार के मानस रोग उत्पन्न होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम को भी सद्वृत्त के अंतर्गत मानकर इनके नियमित पालन से मानस रोगों की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

VII. मानस भाव एवं मानस रोग उत्पादन में उनकी भूमिका

मानस दोष रज एवं तम के प्रकोप होने के फलस्वरूप अनेक मनोभाव उत्पन्न होते हैं जो मानस रोगों की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। मनोविकारों के कारण मनुष्य अपने मूल मार्ग एवं उद्देश्य से भटक जाता है एवं अनेक प्रकार की मानस व्याधियों अथवा मनोदैहिक विकारों से ग्रस्त हो जाता है। मानस रोगों की उत्पत्ति में भाग लेने वाले कुछ प्रमुख विकार निम्नलिखित हैं-

1. काम (Lust)	2. क्रोध (Anger)
3. लोभ (Greed)	4. मोह (Delusion)
5. ईर्ष्या (Jealousy)	6. मान (Pride)
7. मद (Neurosis)	8. शोक (Grief)
9. चिन्ता (Depression)	10. उद्वेग (Anxiety)
11. भय (Fear)	12. हर्ष (Euphoria)
13. दैन्य (Misery)	14. अमर्ष (Intolerence)
15. आवेग (Excitement)	16. ग्लानि (Disgust)
17. शंका (Uncertainty)	18. घृणा (Hatred)
19. जड़ता (Dullness)	20. उग्रता (Fierceness)
21. हठ (Obstinacy)	22. विलाप (Groaning)
23. श्रम (Fatigue)	24. उत्सुकता (Eagerness)
25. स्मृति (Recollection/Memory)	

उपरोक्त सभी मनोभाव शरीर एवं मनस में विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करते हैं। इनमें से अनेक मनोभाव ऐसे हैं जो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे मनोभावों को उत्पन्न करते हैं। कुछ प्रमुख मनोभावों का वर्णन नीचे किया जा रहा है-

1. हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, ... भ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति॥ (च.वि. 8/119)

1. लोभ (Greed)

किसी वस्तु विशेष के प्रति अत्यधिक प्रीति अथवा लालच उत्पन्न हो जाना ही लोभ की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति का मानस स्वास्थ्य प्रभावित होता है तथा यदि वह व्यक्ति अपने स्वभाव को यथाशीघ्र संतुलित करने में असफल रहता है तो धीरे-धीरे वह मानसिक रोगी हो जाता है।

2. मोह (Delusion)[1]

यदि लोभ ग्रस्त व्यक्ति की समुचित चिकित्सा नहीं की जाये अथवा लोभ अत्यधिक बढ़ गया हो, तो वह अवस्था ही मोह कहलाती है। मोह अत्यंत विकृत मानस स्थिति है। उसमें व्यक्ति अज्ञानता से घिर जाता है तथा उस व्यक्ति के लिए हानि-लाभ अथवा उचित-अनुचित का निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

3. क्रोध (Anger)[2]

किसी के प्रति अभिद्रोह करना अथवा मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा विरोध करना अथवा मन के मनोभावों एवं उमंगो (Emotions) द्वारा मन में अत्यंत भयंकर क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है। यदि क्रोध पर तत्काल समुचित नियंत्रण नहीं हो पाता है तो यह अत्यंत घातक हो सकता है तथा अनेक प्रकार की सामाजिक कठिनाईयों एवं व्यक्तिगत परेशानियों के माध्यम से मानस स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

4. शोक (Grief)[3]

मानव मस्तिष्क में दीनता के भाव उत्पत्ति को शोक कहा जाता है जो व्यक्ति के मुखमण्डल द्वारा स्पष्टतः परिलक्षित होता है। शोक के अनेकों कारण हो सकते हैं। वस्तुतः इच्छित वस्तु की समयानुकूल अप्राप्ति ही शोक का मूल कारण है जो अनेक मनोविकारों को उत्पन्न करता है जैसे व्यग्रता, उदासी, रुदन, व्यक्ति का अपने सामाजिक परिवेश से कट जाना इत्यादि।

5. विलाप (Groaning)

विलाप का तात्पर्य रुदन से है। यह प्रायः शोक की व्यक्तावस्था होती है। जब व्यक्ति शोक की अवस्था को सहन करने में असमर्थ हो जाता है तो वही स्थिति अश्रु के रूप में विलाप द्वारा प्रकट होती है जिसके फलस्वरूप अनेक मनोदैहिक विकार उत्पन्न होते हैं। यह अत्यंत दीनता की स्थिति है।

6. प्रीति (Attachment)[1]

जब मनुष्य किसी के आचरण, क्रिया कलाप एवं व्यवहार को पसंद करता है एवं उसके प्रति मन में संतोष की भावना उत्पन्न होती है इस अवस्था विशेष को प्रीति का

1. मोहमविज्ञानेन (च.वि. 4/8)
2. क्रोधमभिद्रोहेण (च.वि. 4/8)
3. शोकं दैन्येन (च.वि. 4/8)

सूचक माना जाता है। प्रीति प्रारम्भिक अनुराग, प्रेम अथवा लगाव की सूचक होती है। प्रीति के विशिष्ट स्वरूप अथवा अवस्था को हर्ष कहते हैं। अर्थात् केवल संतोष प्रकट करना प्रीति है तथा विशिष्ट अथवा आनंददायक कार्य को हर्ष कहा जाता है।

7. भय (Fear)[2]

किसी कार्य, व्यक्ति, परिस्थिति अथवा मानस दुर्बलता से किसी व्यक्ति को होने वाली हानि की सम्भावना से उस व्यक्ति में भय उत्पन्न होता है। पुरुष के भय ग्रस्त होने का पता उसके विषाद युक्त मुख मण्डल से हो जाता है। भय के कारण उसके नेत्रों में कातरता उत्पन्न हो जाती है। वह अपने को सुरक्षित छिपाना चाहता है परंतु किसी का साथ भी नहीं छोड़ना चाहता है। भयग्रस्त व्यक्ति को अत्यधिक पसीना आता है, वाणी स्तम्भित हो जाती है एवं अनेक प्रकार के मानस रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

8. इर्ष्या (Jealousy)

जब व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है तो वह ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का हो जाता है फलस्वरूप मन में धीरे-धीरे रोष एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या में व्यक्ति अंदर ही अंदर कुपित होता रहता है तथा अपने क्रोध एवं व्यग्रता को समय-समय पर व्यक्त करता है एवं अन्ततः अनेक प्रकार की मानस व्याधियों से घिर जाता है।

9. श्रद्धा (Devotion)[3]

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को देखकर उसके प्रति हृदय में अनुराग की भावना उत्पन्न होना ही श्रद्धा है। यह अनुराग अथवा श्रद्धा किसी के भी प्रति हो सकती है। श्रद्धा के अंतर्गत किसी वस्तु विशेष की प्राप्ति की इच्छा नहीं होकर भक्ति भावना अथवा आदर एवं सम्मान देने की इच्छा होती है, यही श्रद्धा है। श्रद्धा से मानस स्वास्थ्य उन्नत होता है एवं सत्व गुण की वृद्धि होती है।

10. स्मृति (Recollection)[4]

पूर्व काल में दृष्ट, श्रुत अथवा अनुभूत ज्ञान का स्मरण करना ही स्मृति कहलाती है। यथार्थ ज्ञान का स्मरण करने से चिन्ता, शोक, दुःख आदि मानस भावों की उत्पत्ति नहीं होती है जैसे यह शाश्वत सत्य है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। इस यथार्थ का ज्ञान होने पर दुःख नहीं होता है।

स्मृति के कारण[1]

आचार्य चरक ने स्मृति के 8 कारण बताये हैं जो निम्न प्रकार हैं-

(i) निमित्त से: जैसे कारण को देखकर कार्य का स्मरण होना

1. प्रीतिं तोषेण (च.वि. 4/8)
2. भयं विषादेन (च.वि. 4/8)
3. श्रद्धामभिप्रायेण। (च.वि. 4/8)
4. स्मृतिं स्मरणेन (च.वि. 4/8)

(ii) रूप ग्रहण से
(iii) सादृश्यता से
(iv) विपरीत वस्तु को देखने से
(v) मन को स्मरण करने योग्य विषयों में लगाने से
(vi) अभ्यास से
(vii) ज्ञान योग से
(viii) सुने हुऐ विषयों को पुनः सुनने से स्मृति उत्पन्न होती है।

स्मृति में विकृति होने से मानव मस्तिष्क अत्यधिक प्रभावित होता है तथा अनेकशः मानस विकृतियां उत्पन्न होती हैं।

11. धैर्य (Tolerance)[2]

दुःखद एवं विषाद युक्त विपरीत परिस्थितियों में अपने मानसिक संतुलन को बनाये रखना ही धैर्य कहलाता है। मानस स्वास्थ्य को बनाये रखने में धैर्य की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धैर्य धारण करने से व्यक्ति क्रोध, शोक, दीनता, विषाद आदि मनोविकारों से संघर्ष में विजयी होता है एवं जीवन को विषम परिस्थितियों से बाहर ले आने में सफल रहता है।

12. हर्ष (Joy)[3]

मानस स्वास्थ्य को और अधिक समुन्नत करने के लिए हर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। हर्ष का ज्ञान व्यक्ति के आभामण्डल से ही हो जाता है। हर्षित व्यक्ति का मुखमण्डल प्रफुल्लित, उल्लासपूर्ण एवं सदैव प्रसन्नचित रहता है। हर्षित व्यक्ति नृत्य, गीत, संगीत, वाद्य इत्यादि क्रियाओं में संलग्न तथा अत्यंत उत्साह से अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। व्यक्ति में सत्व गुण की वृद्धि हो जाती है तथा उसके मानस विकारों में कमी आती है एवं मस्तिष्क में अच्छे भावों का संचार होता है।

13. भ्रांति (Confusion)

मिथ्या ज्ञान को भ्रांति कहते हैं। विचार शून्यता अथवा भाव शून्यता के कारण रोगी के मन में कोई गलत अवधारणा स्थापित हो जाती है जिसके फलस्वरूप उसे सदैव हानि पहुंचने का भय बना रहता है। वह मित्र को भी शत्रु समझने लगता है। उसका अपने स्वजनों पर से भी विश्वास उठ जाता है। यह एक अत्यंत गम्भीर मानस विकार है जिसमें

1. बक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरूपजायते।
   निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्॥
   सत्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्।
   दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते॥ (च.शा. 1/148-149)
2. धैर्यमविषादेन (च.वि. 4/8)
3. हर्षमामोदेन। (च.वि. 4/8)

रोगी को महत्वपूर्ण चिकित्सकीय सलाह की आवश्यकता होती है। भ्रांति में रोगी के मन की मिथ्या अवधारणा को समाप्त करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

14. शील (Temperament)[1]

शील का तात्पर्य स्वभाव से होता है। स्वभाव भी एक मानस भाव है तथा यह उस व्यक्ति की प्रकृति एवं आस-पास के वातावरण तथा संस्कार पर निर्भर करता है। शील की व्यक्तता अनुराग के रूप में सहज स्वरूप में होती है। शील अथवा स्वभाव के कारण ही व्यक्ति स्वप्रेरित होकर आचरण करता है। व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण ही किसी से प्रेम अथवा द्वेष करता है तथा स्वयं का नीति निर्धारण करता है।

15. शौच (Physical and Mental Purification of body)

शौच का तात्पर्य शुद्धि से होता है। यह शुद्धि शारीरिक एवं मानसिक होती है। अत: जीवन के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास करना शौच कहलाता है। शरीर, वस्त्र, आवास आदि को शुद्ध करना बाह्य शुद्धि की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार अन्न, धन, आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त कर शुद्ध भोजन आदि करना तथा सबके साथ समुचित व्यवहार करना भी वाह्य शुद्धि की श्रेणी में आता है। जप, तप, वैराग्य आदि सुंदर विचारों के द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, शोक, क्रोध आदि मानस भावों को नष्ट करना आभ्यांतर शौच कहलाता है। आयुर्वेद में वाह्य शुद्धि के लिए अंग प्रक्षालन, स्नान, दन्तधावन, कवल ग्रह, गण्डूष, आदि कर्म बताये गये हैं। आभ्यांतर शुद्धि हेतु धी, धैर्य, स्मृति, समाधि, प्राणायाम एवं योग इत्यादि का व्यवहार करना चाहिए। शौच के समुचित पालन करने से मानस विकार उत्पन्न नहीं होते हैं तथा अनेक प्रकार के मानस रोग धीरे-धीरे शांत हो जाते हैं।

VIII. पूर्वजन्म कृत कर्म एवं मानस रोग

आयुर्वेद में कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणा को मान्यता प्राप्त है। पूर्व जन्म में किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्म इस जन्म में अनेक रोगों का कारण बनते हैं। पूर्वजन्म कृत रोगों में मानस रोगों का अधिक महत्व है एवं इनमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का निर्देश किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी कुछ मानस रोगों को आनुवंशिक मानता है जो प्राय: असाध्य होते हैं।

IX. मानस रोगों के अन्य प्रमुख कारण

मानस रोगों के अधिकांश महत्वपूर्ण कारणों का शास्त्रीय वर्णन ऊपर किया जा चुका है। परंतु निम्नलिखित कारण भी मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

1. वातावरण का मानस स्वास्थ्य पर प्रभाव

शिशु के जन्म से लेकर उसके वयस्क होने तक उसके आस-पास के वातावरण का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वह जिस प्रकार के वातावरण, परिवेश तथा सहयोगियों के

1. शीलमनुशीलनेन। (च.वि. 4/8)

बीच रहता है, धीरे-धीरे उनके विचारों से प्रभावित होता है।

2. रुचि के अनुसार कार्य नहीं मिलना।
3. व्यक्तिगत कठिनाईयां एवं असफलताऐं।
4. अत्यधिक संवेदनशील मन:स्थिति वाला व्यक्तित्व होना।
5. कार्य का अत्यधिक दबाव एवं कार्य स्थल का मनोनुकूल नहीं होना।
6. विभिन्न प्रकार की अंत:स्रावी ग्रंथियों की विकृतियां
7. सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं आर्थिक कारण।
8. व्यक्तिगत कारण जैसे उच्च शिक्षा प्राप्ति के बाद भी उचित रोजगार का अभाव, श्रम की अधिकता, आघात इत्यादि कारणों से भी मानस विकार उत्पन्न होते हैं।

मानस रोगों के सामान्य लक्षण

मानस रोगों का सुव्यवस्थित लक्षण संहिता ग्रंथों में नहीं मिलता है। वस्तुत: आयुर्वेद में मानस रोगों के अंतर्गत उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वाभिनिवेश का ही विस्तृत वर्णन मिलता है एवं अन्य मानस भावों का वर्णन संहिताओं में यत्र तत्र विकीर्ण रूप में ही मिलता है। मानस रोगों में सामान्य रूप से मिलने वाले लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. भय, मानस रोगी प्राय: अत्यंत भय ग्रस्त रहता है
2. सन्त्रास अथवा घुटन
3. असहिष्णुता
4. मन:क्षोभ
5. अव्यवस्थित चित्तता-अनियन्त्रित वाणी का प्रयोग
6. अनेक प्रकार की भावभंगिमाओं का प्रदर्शन करना। जैसे अनवरत हास-परिहास, नृत्य, वादन, गायन, रुदन, चिल्लाना इत्यादि अनेक प्रकार के अवांक्षित कार्य व्यवहार करना
7. अनेक प्रकार के मानस भावों की उत्पत्ति जैसे शोक, क्रोध, ईर्ष्या, मान, द्वेष, काम, लोभ, मोह, मद, चिन्ता, उद्वेग इत्यादि
8. भाव विभ्रंशता जैसे मनोविभ्रंश, बुद्धि विभ्रंश, संज्ञाविभ्रंश, ज्ञान विभ्रंश, स्मृति विभ्रंश, भक्ति विभ्रंश, शील विभ्रंश, चेष्टा विभ्रंश एवं आचार विभ्रंश इत्यादि अनेक प्रकार के मनोविकार उत्पन्न होते हैं[1]
9. जीवन से पलायन की भावना
10. भ्रम
11. विभ्रम
12. अनेक प्रकार की मानस विकृतियों की उत्पत्ति

1. उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्। (च.नि. 7/5)

मानस रोगों के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य सुश्रुत ने दोष, धातु, मल, अग्नि, आत्मा तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता को स्वास्थ्य एवं आरोग्य का मूल कहा है[1]। आयुर्वेद में दोषों की साम्यावस्था को आरोग्य तथा दोष वैषम्यता को व्याधि माना गया है। तीन शारीरिक दोष, दो मानस दोष, सात धातुओं एवं मलों की साम्यावस्था आरोग्य अथवा सुख है एवं इनकी विषमावस्था दु:ख अथवा व्याधि है। इस प्रकार चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य धातुओं में साम्यावस्था लाना है।

मानस एवं शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा को तीन वर्गों के अंतर्गत वर्णित किया गया है जो निम्न प्रकार हैं[2]–

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा
2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा
3. सत्वावजय चिकित्सा

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा

दैव व्यपाश्रय चिकित्सा एक प्राचीन चिकित्सा पद्धति है। अथर्ववेद एवं कौशिक सूत्र दैव व्यपाश्रय चिकित्सा के मुख्य स्रोत हैं। आचार्य चरक के अनुसार पूर्वजन्म कृत कर्मों से ही भाग्य अथवा दैव का निर्माण होता है[3]। वर्तमान जन्म के कर्मों को 'पुरुषकर' कहते हैं। दैव एवं पुरुषकर कर्मों पर ही जीवन आधारित है। आचार्य चरक के अनुसार दैवकृत व्याधियों को पुरुषकर कर्मों से कम किया जा सकता है।

दैव व्यपाश्रय चिकित्सा की विधियां निम्न प्रकार हैं[4]—

(i) ईश्वर के मंत्र का पुन: पुन: जप करना
(ii) व्याधिनाशक औषधियों एवं मणियों को धारण करना
(iii) मंगल एवं कल्याणकारी पूजा पाठ करना
(iv) देवताओं को उनके प्रिय पदार्थ का भोग लगाना एवं बलि चढ़ाना
(v) घृत, तैल, यव, शर्करा एवं शुष्क फलों जैसे नारियल इत्यादि की आहुति देना जिससे वातावरण शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है
(vi) नियम अर्थात् पातञ्जल योग सूत्र में वर्णित शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का समुचित रूप में पालन करना
(vii) प्रायश्चित करना

1. समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:।
   प्रसन्नात्मेंद्रियमना: स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ (सु.सू. 15/48)
2. त्रिविधमौषधमिति-दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्वावजयश्च॥ (च.सू. 11/54)
3. दैवात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। (च.वि. 3/30)
4. तत्र दैवव्यपाश्रयं-मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहार-
   होमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि॥ (च.सू. 11/54)

(viii) उपवास
(ix) स्वस्त्ययन (वेदोक्त कर्म का समुचित पालन)
(x) प्रणिपात (देवता, गुरु, द्विज, गौ आदि पूज्यों के सामने शाष्टांग प्रणाम तथा विनम्रता का व्यवहार करना)
(xi) तीर्थ गमन अर्थात् विभिन्न धार्मिक स्थलों का भ्रमण करना एवं पुण्य अर्जित करना

2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा वातादि दोषों के प्रतिकार के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसके अंतर्गत दो प्रकार की योजना के अनुसार चिकित्सा करते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(i) आहार का निर्धारण।
(ii) औषधि की योजना तैयार कर प्रयुक्त करना।

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा मानस एवं शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के अंतर्गत तीन तरह के कर्मों का प्रयोग किया जाता है[2]—

(i) अंत: परिमार्जन
(ii) बहि: परिमार्जन
(iii) शस्त्र प्रणिधान

(i) अंत: परिमार्जन चिकित्सा

अंत: परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत दो प्रकार से चिकित्सा की जाती है जो निम्नलिखित हैं—

(अ) संशोधन चिकित्सा
(ब) संशमन चिकित्सा

(अ) संशोधन चिकित्सा

संशोधन चिकित्सा के अंतर्गत मुख्यत: पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार वमन, विरेचन, अनुवासन बस्ति, आस्थापन बस्ति, शिरोविरेचन (नस्य) का युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जाता है। वात दोष का प्रकोप होने पर सर्व प्रथम स्नेहन का प्रयोग करना चाहिऐ। इसी प्रकार स्रोतावरोध की स्थिति में स्नेहन के साथ मृदु संशोधन भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए। कफज एवं पित्तज दोषों की प्रबलता की स्थिति में वमन एवं विरेचन

1. युक्तिव्यपाश्रयं-पुनराहारौषध द्रव्याणां योजना। (च.सू. 11/54)
2. शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति-अंत:परिमार्जनं, बहि: परिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानंचेति॥ (च.सू. 11/55)

का प्रयोग करना चाहिए। तदुपरान्त निरुह, अनुवासन अथवा नस्य कर्म का यथोचित प्रयोग करना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो शिरोधारा, शिरोबस्ति इत्यादि केरलीय पंचकर्म विधियों का प्रयोग भी मानस रोग चिकित्सा में सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

(ब) संशमन चिकित्सा

मानस रोगों में संशमन चिकित्सा के रूप में निम्न औषधि योगों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करना चाहिऐ—

1. रस/भस्म/पिष्टी

मात्रा	: 250 मि.ग्रा.
अनुपान	: शहद अथवा कोष्ण जल
(i) स्मृति सागर रस	: वचा, पारद, गंधक
(ii) रसराज रस	: पारद, रस सिन्दूर, अभ्रक, स्वर्ण
(iii) उन्माद गजकेशरी रस	: पारद, गंधक, मन:शिला, धतूर बीज
(iv) उन्माद गजांकुश रस	: पारद, धतूरा, ताम्र, गंधक
(v) उन्माद भञ्जन रस	: त्रिफला, त्रिकटु, वंगभस्म, रजत, अभ्रक
(vi) चतुर्भुज रस	: रस सिन्दूर, स्वर्ण, मन:शिला, कस्तूरी
(vii) भूताङ्कुश रस	: पारद, लौह, रजत, ताम्र, मुक्ता

2. चूर्ण

मात्रा	: 3–6 ग्राम
अनुपान	: कोष्ण जल
(i) वचा चूर्ण	: वचा
(ii) अश्वगंधा चूर्ण	: अश्वगंधा
(iii) जटामांसी चूर्ण	: जटामांसी
(iv) शंखपुष्पी चूर्ण	: शंखपुष्पी
(v) ज्योतिष्मती चूर्ण	: ज्योतिष्मती

3. वटी

मात्रा	: 250–500 मिग्रा.
अनुपान	: शहद
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कुटकी
(ii) ब्राह्मी वटी	: ब्राह्मी

4. घृत/तैल योग

मात्रा	: 10–20 मि.ली.
अनुपान	: उष्णोदक
(i) हिंग्वादि घृत	: गोघृत, गोधूम, हिंगु, शुण्ठी
(ii) कल्याणक घृत	: गोघृत, इन्द्रवारुणी, त्रिफला
(iii) महाकल्याणक घृत	: त्रिफला, इन्द्रवारुणी, गोदुग्ध
(iv) महापैशाचिक घृत	: जटामांसी, हरीतकी, कौंच
(v) ब्राह्मी घृत	: ब्राह्मी, गोघृत
(vi) अल्प चैतस घृत	: लघुपंचमूल, श्योनाक, बिल्व, गोघृत

5. अवलेह/पाक

मात्रा	: 10–20ग्राम
अनुपान	: कोष्ण जल या दुग्ध
(i) च्यवनप्राश अवलेह	: दशमूल, आमलकी, घृत
(ii) ब्रह्म रसायन	: हरीतकी, आमलकी, दशमूल
(iii) आमलक्यादि अवलेह	: आमलकी
(iv) कपिकच्छु पाक	: कौंच बीज

6. एकल औषधियां

(i) ब्राह्मी	(vi) शंखपुष्पी
(ii) वचा	(vii) आमलकी
(iii) कुष्माण्ड	(viii) एरण्ड
(iv) ज्योतिष्मती	(ix) जटामांसी
(v) अश्वगंधा	(x) बला इत्यादि

उपरोक्त औषधियों की युक्तियुक्त योजना से मानस रोगों में अत्यंत लाभ मिलता है। मानस रोग चिकित्सा में निरामिष, मद्य रहित आहार द्रव्य एवं मनोनुकूल, स्वच्छ, मनोरम, रमणीय स्थलों पर विहार करना चाहिये।

(ii) बहि: परिमार्जन चिकित्सा

बहि: परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत अनेक प्रकार के औषधियुक्त तैल एवं अन्य औषधि योगों का वाह्य प्रयोग किया जाता है। वाह्य परिमार्जन के अंतर्गत अभ्यंग, प्रलेप, उद्वर्तन, उद्घर्षण, अवगाहन, स्नेहन, स्वेदन, आदि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

अनेक प्रकार के अगद का प्रयोग भी नस्य, अञ्जन, स्नान एवं अभ्यंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के धूमवर्ती इत्यादि का प्रयोग भी किया जाता है।

मानस रोगों में बहि: परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत व्यायाम का प्रयोग भी कराया जा सकता है। मुख्यत: अवसाद पीड़ित रोगियों में व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान से आशातीत

सफलता प्राप्त होती है।

(iii) शस्त्र प्रणिधान

अनेक मानस रोगों में छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, पाटन, प्रच्छान, सीवन एवं एषण इत्यादि कर्मों के प्रयोग का शास्त्रीय निर्देश प्राप्त होता है। जैसे उन्माद रोग में सीमन्त की शिरा का वेधन, अपस्मार में हनुसंधि के मध्य की शिरा का वेधन इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है।

3. सत्वावजय चिकित्सा

सत्वावजय मुख्यत: मानस रोगों में प्रयुक्त होने वाली एक विशेष चिकित्सा विधि है जिसमें रोगी के मन को अहितकर विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध एवं मोह इत्यादि) से हटाकर हितकर कार्यों के प्रति आकृष्ट किया जाता है[1]। वस्तुत: मानस रोगों की चिकित्सा में धी, धैर्य, स्मृति एवं समाधि इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। सत्वावजय चिकित्सा में प्रयुक्त कुछ प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—

1. धी, धैर्य, स्मृति, ज्ञान, विज्ञान आदि द्वारा सत्वावजय चिकित्सा।
2. मनोनिग्रह के लिऐ अष्टांग योग जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का समुचित एवं व्यवहारिक प्रयोग।
3. समुचित अष्टाहार विधि विशेषायतन एवं द्वादशासन के निर्धारित विधियों के अनुसार आहार ग्रहण करना।
4. समाज में एक समान दृष्टि रखते हुए आर्तजनों की सेवा करना, उनके प्रति करुणा की भावना रखना एवं उपेक्षित लोगों में प्रसन्नता एवं दया की भावना का प्रसार करना।
5. किसी का अपमान नहीं करते हुऐ सम्यक् दृष्टि से सभी के प्रति सद्व्यवहार करना।
6. किसी व्यक्ति को किसी प्रियजन अथवा प्रिय वस्तु की हानि से क्षोभ होकर व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उसे अभिलषित वस्तु अथवा आश्वासन देकर उनकी सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिए।
7. मंगल आचरण, उत्साह, क्षमा, दया, मितभाषिता, अतिथि पूजन, धर्मात्मा एवं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की भावना के द्वारा सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिऐ।

इस प्रकार उपरोक्त चिकित्सा विधियों की सहायता से समस्त मानस रोगों की युक्तियुक्त चिकित्सा की जा सकती है।

1. सत्वावजय: पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रह: ॥ (च.सू. 11/54)

अध्याय-10

उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वाभिनिवेश

(1) उन्माद रोग

(Psychosis)

स्त्रोतस परिचय

संहिता ग्रंथों में उन्माद रोग का सबसे अधिक, सुव्यवस्थित तथा विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य चरक ने वर्णन किया है कि हृदय में ही इन्द्रियां, उनके विषय, आत्मा, मन एवं मन के विषय अवस्थित रहते हैं[1]। मन की समस्त क्रियाओं का नियंत्रण वात के द्वारा ही सम्भव होता है। वात की क्रिया एवं कार्य क्षेत्र समस्त शरीर है। वात दोष की प्रेरणा से ही मन का इन्द्रियों से संबंध होता है एवं इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार मद, मूर्च्छा और सन्यास आदि रोगों में संज्ञावाही नाड़ियों के दोषों से आवृत्त हो जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और वह पृथ्वी पर गिर जाता है[2]।

आचार्य चरक ने इस विषय में स्पष्ट किया है कि रस, रक्त तथा चेतनावाही स्त्रोतों में अवरोध के कारण चित्त के दुर्बल स्थान को वात दोष आक्रांत करके मन को क्षुब्ध कर संज्ञा का सम्मोहन कर देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आयुर्वेदीय संहिताओं में संज्ञावह स्त्रोतसों का संकेत रूप में उल्लेख मिलता है। मनोवाही स्त्रोतसों का अलग से विस्तृत वर्णन संहिता ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता है, केवल यत्र तत्र विकीर्ण रूप में इस विषय का उल्लेख मिलता है। मनोवह अथवा संज्ञावह स्त्रोतस के संदर्भ में आचार्य चक्रपाणि का उद्धरण अत्यंत महत्वपूर्ण है[3]। आचार्य चक्रपाणि के अुनसार यद्यपि मनोवह स्त्रोतस अलग से

1. षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
   आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥ (च.सू. 30/4)
2. संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभि:।
   तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदु:खव्यपोहकृत॥
   सुखदु:ख व्यपोहाच्च नर: पतति काष्ठवत्।
   मोहो मूर्च्छेति तां:..... ॥ (सु.उ. 46/6-7)
3. मनोवहानि स्त्रोतांसि यद्यपि, पृथङ्नोक्तानि तथापि मनस: केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम। इत्यभिधानात सर्वशरीर स्त्रोतांसि गृहयन्ते विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रया दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते॥ (च.इ. 5/41 पर चक्रपाणि)

वर्णित नहीं किए गये हैं फिर भी मन का शरीर ही स्रोत या मार्ग है। इस कथन से शरीर के सभी स्रोतसों का ग्रहण हो जाता है, विशेषकर मन के हृदय में आश्रित होने से हृदय से निकलने वाली दश धमनियों को मनोवंह स्रोतस के रूप में समझा जा सकता है। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शरीर के विनाशकाल की सूचना धमनियों के माध्यम से ही प्राप्त होती है। हृदय को ही चेतना का स्थान, ओज एवं प्राण का स्थान तथा चैतन्यता का आश्रय स्थल कहा गया है। इस प्रकार शरीर के समस्त स्रोतों में हृदयस्थ धमनियों को ही मनोवह स्रोतस मानना उचित प्रतीत होता है। उन्माद वस्तुत: सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानस व्याधि है जो प्राय: अधिकतर आधुनिक मानस भावों एवं व्याधियों को ही व्यक्त करती है। अत: समस्त मानस रोगों के संदर्भ में हृदयस्थ मनोवह स्रोतस की दुष्टि मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

व्याधि परिचय

सभी प्रकार के मानस रोगों में उन्माद सबसे प्रधान व्याधि है। उन्माद की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित मानस रोग Psychosis से की जाती है। उन्माद के अंतर्गत ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित अधिकांश मानस रोगों का समावेश किया जाता है। आचार्य चरक ने निदान स्थान सातवें अध्याय में निम्नलिखित आठ प्रमुख मानस भावों के विभ्रंश को 'उन्माद' संज्ञा से सम्बोधित किया है[1]—

1. मन (Mind)
2. बुद्धि (Wisdom / Intelligence)
3. संज्ञाज्ञान (Orientation)
4. स्मृति (Memory)
5. भक्ति (Devotion)
6. शील (Habits and Temperament)
7. चेष्टा (Psychomotor activities)
8. आचार (Conduct)

उपरोक्त आठ मानसिक भावों की विकृति के फलस्वरूप ही उन्माद एवं अन्य मानस विकारों की उत्पत्ति होती है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता निदान स्थान - अध्याय 7
2. चरक संहिता चिकित्सा स्थान - अध्याय 9
3. सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान - अध्याय 60
4. सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान - अध्याय 62
5. अष्टांग हृदय उत्तर स्थान - अध्याय 06

1. उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्। (च.नि. 7/5)

6. माधव निदान - अध्याय 20
7. भाव प्रकाश मध्यम खण्ड - अध्याय 22

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

उद् (उर्ध्व) उपसर्ग युक्त 'मद' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर उन्माद शब्द निर्मित होता है।

वस्तुत: उन्माद में दोष उन्मार्गगामी हो जाते हैं। उन्माद में मन पर मद्य के प्रभाव के समान प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप मनोविकारों की उत्पत्ति होती है।

परिभाषा

उन्माद को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि मन, बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, भक्ति, शील, चेष्टा एवं आचार के विभ्रम को उन्माद कहते हैं[1]। अर्थात् मन: विभ्रम की अवस्था ही उन्माद है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि दूषित एवं वृद्ध वात, पित्त एवं कफ दोष अपने-अपने मार्गों को छोड़कर अन्य मार्गों में आश्रित होकर चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं, इसलिए इसे उन्माद रोग कहते हैं[2]।

प्रमुख निदान

उन्माद रोग के प्रमुख निदानों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[3,4]–

1. **आहार जन्य निदान**

(i) विरुद्ध आहार का सेवन।
(ii) दूषित आहार अर्थात् धतूर बीज आदि मिश्रित आहार सेवन।
(iii) अपवित्र आहार सेवन।

2. **विहार जन्य निदान**

(i) विषम चेष्टा करना।
(ii) विषम ढंग से उठना, बैठना, चलना, घूमना आदि।

3. **व्यवहार जन्य निदान**

(i) देवता, गुरुजन एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों का अपमान करना।
(ii) अत्यधिक भय, हर्ष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि।
(iii) मनोविघात।

1. उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्॥ (च.नि. 7/5)
2. मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिता:।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तित:॥ (भा.प्र. मध्यम खण्ड 22/1)
3. विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रघर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टा:॥ (च.चि. 9/4)
4. चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यैर्वित्रासितस्य धनबान्धवसञ्छयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत चोत्कटतरो मनसो विकार:॥ (सु.उ. 62/12)

(iv) प्रबल कामवासना।

(v) धन, परिवार का नष्ट हो जाना।

सम्प्राप्ति[1]

अवर सत्व अथवा अल्प सत्व व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के निदान सेवन करने से प्रकुपित अथवा प्रवृद्ध वातादि शारीरिक दोष एवं रज तथा तम मानस दोष बुद्धि के निवास स्थान हृदय अथवा मस्तिष्क को दूषित करके एवं मनोवाही अथवा संज्ञावाही स्रोतसों में व्याप्त होकर चित्त को मोह युक्त अथवा विभ्रम युक्त बना देते हैं, जिसके फलस्वरुप उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

अवर सत्व व्यक्ति द्वारा विविध प्रकार का निदान सेवन

↓

वातादि शारीरिक दोष एवं रज, तम, मानस दोष प्रकोप

↓

प्रकुपित दोषों द्वारा हृदय (मस्तिष्क) की दुष्टि

↓

मनोविभ्रम एवं प्रमोह की उत्पत्ति

↓

उन्माद रोग

(Psychosis)

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वात प्रधान शारीरिक दोष (त्रिदोष) एवं रज, तम, मानस दोष
दूष्य	:	मनस एवं अष्ट मनोभाव
अधिष्ठान	:	हृदय (मस्तिष्क)
स्रोतस	:	मनोवह (संज्ञावह)
अग्निस्थिति	:	विषमाग्नि अथवा विकृत अग्नि
व्याधि स्वभाव	:	दारुण
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य / असाध्य

भेद

आचार्य चरक ने उन्माद के पाँच भेद तथा आचार्य सुश्रुत ने उन्माद के छः भेद वर्णित किए हैं।

1. तैरल्पसत्वस्य मलाःप्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्याधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ (च.चि. 9/5)

आचार्य चरक मतानुसार उन्माद के भेद[1]

1.	वातज उन्माद	2.	पित्तज उन्माद
3.	कफज उन्माद	4.	सन्निपातज उन्माद
5.	आगन्तुज अथवा भूतोन्माद		

आचार्य सुश्रुत मतानुसार उन्माद के भेद[2]

1.	वातज उन्माद	2.	पित्तज उन्माद
3.	कफज उन्माद	4.	सन्निपातज उन्माद
5.	मानस उन्माद	6.	विषज उन्माद

उपरोक्त उन्माद के भेदों को पुनः निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[3]-

1. निज उमाद

(i)	वातज उन्माद	(ii)	पित्तज उन्माद
(iii)	कफज उन्माद	(iv)	सन्निपातज उन्माद

2. आगन्तुज उन्माद

(i)	मानस उन्माद	(ii)	विषज उन्माद

पुनः उन्माद को उत्पत्ति के आधार पर निम्न दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-

1. प्राथमिक अथवा स्वतंत्र उन्माद (Primary Psychosis)
2. द्वितीयक अथवा परतंत्र उन्माद (Secondary Psychosis)

संहिता ग्रंथों में अनेक स्थलों पर यह उल्लेख मिलता है कि शारीरिक व्याधियां मानस व्याधियों में तथा मानस व्याधियां शारीरिक व्याधियों के रूप में परिवर्तित होती रहती हैं। इसी आधार पर स्वतंत्र तथा परतंत्र उन्माद की अवधारणा की गयी है। मानस भावों से उन्माद को स्वतंत्र अथवा प्राथमिक उन्माद तथा शारीरिक दोषों एवं विष इत्यादि से उत्पन्न उन्माद को परतंत्र अथवा द्वितीयक उन्माद माना जा सकता है।

पूर्वरूप

उन्माद रोग के निम्न पूर्वरूप शास्त्रों में वर्णित किऐ गये हैं[4]—

1. समुद्भमं बुद्धिमनःस्मृती नामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च॥ (च.चि. 9/8)
2. एकैकशः समस्तैश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स पञ्चविध उच्यते॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां विभर्ति च॥ (सु.उ. 62/4-5)
3. समुद्भमं बुद्धिःमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः॥ (च.चि. 9/8)
4. तस्येमानि पूर्वरुपाणि, तद्यथा-शिरसः शून्यता,
चक्षुषोराकुलता, स्वनः कर्णयोः, ...
..... सामावर्ते चक्षुषोश्चापसर्पणमिति॥ (च.नि. 7/6)

1. सिर में शून्यता (Disturbed level of consciousness/concentration)
2. नेत्रों में व्याकुलता (Involuntary movements of eyes)
3. कानों में शब्द सुनाई देना (Tinnitus)
4. उच्छ्वास की अधिकता (Erructations / Belching)
5. लालास्राव (Excessive salivation)
6. भोजन ग्रहण की अनिच्छा (Anorexia)
7. अरोचक (Dyspepsia)
8. अविपाक (Indigestion)
9. हृद्ग्रह (Decreased cardiac output)
10. अकारण ध्यान, मोह, आयास (श्रम) एवं घबराहट (Nervousness due to unknown reasons)
11. सतत रोम हर्ष (Continuous Horripilation)
12. बार-बार ज्वर (Recurrent fever)
13. चित्त भ्रांति (Confusion)
14. उदर्द (Urticaria)
15. अर्दित के समान मुखाकृति (Changes in facial expressions like facial paralysis)
16. स्वप्न में भ्रांत, चंचल, अस्थिर और निन्दित स्वरूप को बार-बार देखना (Disturbing Dreams)
17. तेल निकालने वाले कोल्हू पर चढ़े हुऐ के समान तथा वात कुण्डलिका (चक्रवात)में मंथन होने के समान अनुभूति करना (Unpleasant feelings)
18. दूषित जल में डूबने के समान प्रतीति होना (Feeling of drowning in dirty water)
19. नेत्रों का टेढ़ा हो जाना (Deviation of angles of eyes)
20. चक्कर (Vertigo)

उपरोक्त सभी उन्माद के पूर्वरूप दोषज (अर्थात् वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज) उन्माद के पूर्वरूप ही हैं।

सामान्य लक्षण

उन्माद रोग के निम्न सामान्य लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं[1]—

1. धी विभ्रम अर्थात् बुद्धि का विभ्रम (Confusion)

1. धीविभ्रमः सत्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामन्यमुन्मादगदस्यलिङ्गम्॥ (च.चि. 9/6)

2. मन की चंचलता (Unstable mind)
3. दृष्टि की अधीरता (Involuntary movement of eyes)
4. असंबद्ध वाणी (Irrelevant talk)
5. हृदय में शून्यता (Feeling of lack of emotions in the heart)

उन्माद के भेदानुसार निदान एवं लक्षण

1. वातज उन्माद (Acute and Catatonic Schizophrenia)

प्रमुख निदान

वातज उन्माद के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं[1]—

1. रुक्ष आहार का निरंतर सेवन।
2. अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करना।
3. अतिशीतल आहार।
4. वमन एवं विरेचन का अतियोग होना।
5. अत्यधिक धातु क्षय।
6. निरंतर उपवास।

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त निदानों के निरंतर सेवन करने से प्रकुपित वात दोष चिंता इत्यादि कारणों से पहले से ही दूषित हृदय को और अधिक दूषित करके बुद्धि एवं स्मृति को नष्ट कर वातज उन्माद को उत्पन्न करता है।

प्रमुख लक्षण[2]

1. वातज उन्माद ग्रस्त व्यक्ति अकारण ही हंसता है, मुस्कुराता है, नृत्य एवं गायन आदि करता है।
2. निष्प्रयोजन, अनावश्यक एवं असम्बद्ध वार्तालाप करना।
3. अपने अंगों से विविध प्रकार की चेष्टाऐं करना।
4. अकारण रोना।
5. शरीर का परुष (कठोर), कृश एवं अरुण वर्ण का होना।
6. आहार के जीर्ण होने के पश्चात वातज उन्माद के वेग में अत्यंत तीव्रता।

उपरोक्त लक्षण रोगी में मानसिक परिवर्तन को प्रदर्शित करते हैं। वातज उन्माद में हिंसा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

1. रुक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धमः।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम्॥ (च.चि. 9/9)
2. अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवाग्ङ्विक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम्॥ (च.चि. 9/10)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार वातज उन्माद की तुलना Acute and Catatonic Schizophrenia से कर सकते हैं।

2. पित्तज उन्माद (Mania)

प्रमुख निदान

पित्तज उन्माद के निदान निम्नलिखित होते हैं[1]-

1. अजीर्ण।
2. कटु एवं अम्ल रस का अधिक सेवन।
3. विदाही एवं उष्ण भोजन का अत्यधिक सेवन।

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त निदान सेवन करने से संचित पित्त दोष प्रकुपित एवं वेगवान होकर अनात्मवान मनुष्य के हृदय (मन, मस्तिष्क) में आश्रित होकर हृदय को दूषित करते हुए पित्तज उन्माद को उत्पन्न करता है।

प्रमुख लक्षण[2]

पित्तज उन्माद के रोगी में निम्न लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं—

1. अमर्ष (असहनशीलता) (Intolerance)
2. संरम्भ (नेत्रों में लालिमा) (Redness in eyes)
3. नग्न हो जाना (Exhibitionist)
4. संतर्जन एवं अभिद्रवण (लोगों को धमकाते हुए मारने के लिए दौड़ता है) (Runs after people as if to beat / kill them)
5. शरीर में अधिक उष्णता (Warm body)
6. रोष (Anger)
7. शीतल छाया, अन्न एवं जल की आकांक्षा (Desire for cold environment, foods and water)
8. शरीर का वर्ण पीत हो जाना (Yellow colouration of body)
9. आचार्य सुश्रुत ने पित्तज उन्माद में तृषा, स्वेद, अति आहार ग्रहण की प्रवृत्ति, अनिद्रा एवं दिन में तारा दर्शन इत्यादि लक्षण भी वर्णित किए हैं[3]।

1. अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
   उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात्॥ (च.चि. 9/11)
2. अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः संतर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
   प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम्॥ (च.चि. 9/12)
3. तृट्स्वेददाहबहुलो बहुभुग्विनिद्रश्छायाहिमानिलजलान्तविहारसेवी।
   तीक्ष्णो हिमाम्बुनिचयेऽपि स बन्हिशङ्की पित्ताद्दिवा नभसि पश्यति तारकाश्च॥ (सु.उ. 62/9)

पैत्तिक उन्माद में हिंसक प्रवृत्ति मिलती है। इसकी तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Mania रोग से कर सकते हैं।

3. कफज उन्माद (Psychotic Depression)

प्रमुख निदान

कफज उन्माद के निदान निम्न प्रकार वर्णित हैं[1]—

1. निरंतर कफकारक आहार-विहार का सेवन।
2. परिश्रम नहीं करना।
3. अधिक मात्रा में आहार ग्रहण करना।

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त कारणों से व्यक्ति की उष्मा (पित्त) प्रकुपित कफ के साथ हृदय में अवस्थित होकर बुद्धि एवं स्मृति को नष्ट करते हुऐ मनोविभ्रम पूर्वक कफज उन्माद को उत्पन्न करते हैं।

प्रमुख लक्षण[2]

कफज उन्माद के लक्षण निम्नलिखित रूप में प्रकट होते हैं—

1. कफज उन्मादी व्यक्ति कम बोलता है (Speaks very little)
2. अल्प चेष्टावान (Retarded activities)
3. अरुचि (Anorexia)
4. अतिनिद्रा (Excessive sleep)
5. वमन (Vomiting)
6. लालास्राव (Excessive salivation)
7. स्त्रियों एवं एकांत की अभिलाषा (Desire for females and loneliness)
8. नख, नेत्र, मूत्र एवं शरीर का श्वेत वर्ण होना (Whitish colouration of nails, eyes, urine and body texture)
9. भोजन के पश्चात उन्माद के वेग में वृद्धि।
10. आचार्य सुश्रुत ने कफज उन्माद में कास, बुद्धि अल्पता, भ्रमण, उष्ण पदार्थ एवं उष्ण वातावरण की इच्छा एवं रात्रि में उन्माद प्रकोप आदि लक्षण होना भी वर्णित किया है[1]।

1. सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रवृद्धः।
   बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम्॥ (च.चि. 9/13)
2. वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा।
   छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मकस्य॥ (च.चि. 9/14)
3. दुर्ग्निसादसदनारुचिकासयुक्तो, योषिद्विविक्तरतिरल्पमतिप्रचारः।
   निद्रापरोऽल्पकथनोऽल्पभुगुष्णसेवी, रात्रौ भृशं भवति चापि कफप्रकोपात्॥ (सु.उ. 62/10)

कफज उन्माद रोग की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित मानस विषादता (Psychotic Depression) से कर सकते हैं।

4. सन्निपातज उन्माद (Schizophrenia)

सन्निपातज उन्माद की उत्पत्ति वात, पित्त एवं कफ तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के सेवन से होती है। सन्निपातज उन्माद अत्यंत भयंकर होता है एवं इसमें तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण मिलते हैं। सन्निपातज उन्माद विरुद्ध चिकित्सा होने के कारण असाध्य होता है[1]।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार सन्निपातज उन्माद की तुलना विभिन्न प्रकार के Schizophrenia नामक रोग से कर सकते हैं।

5. मानस उन्माद

निदान एवं सम्प्राप्ति[2]

1. चोर, राजपुरुष (पुलिस), शत्रु अथवा हिंसक जन्तुओं से भय।
2. धन एवं परिवार का नष्ट हो जाना।
3. अत्युत्कट कामवासना की अपूर्ति।

उपरोक्त कारणों से मानसिक दुर्बलता होने के कारण मानस उन्माद की उत्पत्ति होती है।

प्रमुख लक्षण[3]

1. रोगी द्वारा अनेक प्रकार की विचित्र बातें करना।
2. गोपनीय बात को भी व्यक्त कर देना।
3. कभी हंसना, कभी रोना।
4. रोगी का कभी-कभी मूढ़ अर्थात संज्ञा रहित हो जाना।

मानस उन्माद में प्रायः शारीरिक विकृति नहीं मिलती है। यह पूर्णतः मानस विकार है।

---

1. यः सन्निपातप्रभवोऽति घोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
   सर्वाणि रुपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः॥ (च.चि. 9/15)
2. चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
   र्वित्रासितस्य धनबान्धवसङ्क्षयाद्वा।
   गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
   र्जायेत चोत्कटतरो मनसो विकारः॥ (सु.उ. 62/12)
3. चित्रं स जल्पति मनोऽनुगतं विसंज्ञो,
   गायत्यथो हसति रोदिति मूढ़संज्ञः॥ (सु.उ. 62/13)

6. विषज उन्माद

प्रमुख निदान

विषज उन्माद के प्रमुख कारणों में धतूरा, भंगा अथवा मद्यपान का सेवन करना इत्यादि है।

प्रमुख लक्षण[1]

1. नेत्रों में रक्त वर्णता (Redness in eyess)
2. बल ह्रास (Debility)
3. चक्षुरादि इन्द्रियों की कान्ति में कमी (Decreased sensory power)
4. मुखमण्डल दीनता युक्त (मुरझाया हुआ) दिखायी देता है (Gloomy face)
5. मुख का श्यावर्ण होना (Dark complexioned face)
6. कभी-कभी मूर्च्छित हो जाना।
7. रोगी की चिकित्सा शीघ्र नहीं करने से उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

विषज उन्माद विशेषतः आगन्तुज उन्माद है जिसमें मुख्यतः शारीरिक विकृतियों की उत्पत्ति होती है। यदि समुचित चिकित्सा शीघ्र नहीं की जाये तो व्यक्ति की शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

साध्यासाध्यता

1. वातज उन्माद
2. पित्तज उन्माद — साध्य
3. कफज उन्माद
4. सन्निपातज उन्माद - असाध्य
5. मानस उन्माद - कृच्छ्रसाध्य
7. जिस रोगी का बल एवं मांस क्षीण हो गया हो वह असाध्य है[2]।
8. जिस रोगी का मुख सदा नीचे अथवा ऊपर रहता हो वह असाध्य है[2]।
9. जिस रोगी को निद्रा बिल्कुल नहीं आती हो वह असाध्य होता है[2]।

---

1. रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः,
   श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेत् परासुः॥ (सु.उ. 62/14)
2. अवाञ्ची वाप्युदाञ्ची वा क्षीणमांसबलो नरः।
   जागरुको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति॥ (मा.नि. 20/16)

चिकित्सा सिद्धांत

साध्य दोषज उन्माद की चिकित्सा में निम्नलिखित सिद्धांतों का प्रयोग करना चाहिऐ[1]—

1. स्नेहन
2. स्वेदन
3. वमन
4. विरेचन
5. आस्थापन बस्ति
6. अनुवासन बस्ति
7. नस्य कर्म
8. उपशमन
9. धूमपान
10. धूपन कर्म
11. अञ्जन
12. अवपीड़ नस्य (कल्क को नासा में निचोड़ना)
13. प्रधमन नस्य (चूर्ण को नासा में फूंकना)
14. अभ्यंग
15. प्रदेह (लेप लगाना)
16. परिषेक (धारा के रूप में जल से स्नान)
17. अनुलेपन (पतला लेप करना)
18. वध (मारकर मृतक समान करना)
19. बंधन (रस्सी से बांधना)
20. अवरोधन (अंधेरे कमरे में रखना)
21. वित्रासन (डराना)
22. विस्मापन (आश्चर्य उत्पन्न करना)
23. विस्मारण
24. अपतर्पण (उपवास)
25. शिरा वेधन
26. दोषानुसार भोजन कराना
27. निदान के विरुद्ध औषधि प्रयोग करना

चिकित्सा

(1) निदान परिवर्जन

उन्माद के रोगी के निकट सम्बन्धियों से कारणों का ज्ञान करके तदुपरांत उन कारणों एवं परिस्थितियों को दूर करने के उपाय तथा व्यवस्था का निर्देश करना चाहिऐ।

1. साध्यानां तु त्रयाणां साधनानि-स्नेह स्वेदवमनविरेचन अस्थापनानुवासनोपशमननस्तः कर्म..... ..... किंचिन्निदानविपरीतमौषधं कार्यं तदपि स्यादिति। (च.नि. 7/8)

(2) शोधन चिकित्सा

(i) वातज उन्माद में सर्वप्रथम स्नेहपान करावें परंतु कफ अथवा पित्त से वायु मार्ग का अवरोध होने पर मृदु शोधन करावें।[1]

(ii) पित्तज उन्माद में स्नेहन स्वेदन के उपरांत विरेचन कराना चाहिए[2]।

(iii) कफज उन्माद में स्नेहन, स्वेदन कराकर वमन कर्म करावें[2]।

(iv) पञ्चकर्म के पश्चात सम्यक रूप से संसर्जन क्रम कराकर दोषानुसार निरुहबस्ति, अनुवासन बस्ति एवं शिरोविरेचन कर्म कराना चाहिऐ[3]।

(3) सत्वावजय चिकित्सा

शोधन कर्म के पश्चात अथवा अंजन आदि से जब उन्माद रोगी चेतन अवस्था में आ जाता है तब उसके मन को अहितकर विषयों की तरफ से हटाने का प्रयास करना चाहिऐ एवं उसे आश्वासन देना चाहिऐ।

(4) क्षोभक चिकित्सा[4]

यदि उन्माद पीड़ित व्यक्ति उदण्डता आदि कार्यों में संलग्न है तो उसमें क्षोभक चिकित्सा करनी चाहिऐ। इसके अंतर्गत उसे अंधकार युक्त घर में बंद करना चाहिऐ लेकिन घर में काष्ठ, लोहा, रस्सी इत्यादि नहीं होना चाहिऐ अन्यथा रोगी स्वयं का ही अहित कर सकता है। रोगी को डराना, धमकाना चाहिऐ, मन में हर्ष उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिऐ अथवा विस्मापन द्वारा उसे सामान्य अवस्था में लाने का प्रयास करना चाहिऐ।

(5) बहिः परिमार्जन चिकित्सा

आवश्यकता के अनुसार उन्माद रोगी में उद्वर्तन, अभ्यंग, स्वेदन, शिरोधारा, शिरोबस्ति, शिरोविरेचन का प्रयोग करके रोगी को सामान्य अवस्था में ले आना चाहिऐ। तत्पश्चात औषधि प्रयोग करावें।

(6) शमन चिकित्सा

उन्माद रोगी में निम्नलिखित योगों की सहायता से शमन चिकित्सा करनी लाभकारी रहती है-

1. उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपान विशेषवित्।
   कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम्॥ (च.चि. 9/25)
2. कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्।
   स्निग्धस्विन्नस्य कर्त्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः॥ (च.चि. 9/26)
3. निरुहं स्नेहबस्तिं च शिरसश्च विरेचनम्।
   ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत्॥ (च.चि. 9/27)
4. यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयभ्य सुदृढ़ैः सुखः।
   अपेतलोहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे॥
   तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्।
   विस्मयो विस्मृतेहतीर्नयन्ति प्रकृतिं मनः॥ (च.चि. 9/30-31)

1. **रस/भस्म/पिष्टी**
   - मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
   - अनुपान : शहद
   - (i) उन्माद गज केशरी रस : पारद, गंधक, धतूर बीज, मन:शिला
   - (ii) उन्माद भंजन रस : त्रिफला, त्रिकटु, अभ्रक भस्म, प्रवाल, लौह भस्म
   - (iii) उन्माद गजांकुश रस : पारद, गंधक, ताम्र, अभ्रक, धतूर, वत्सनाभ
   - (iv) भूताङ्कुश रस : पारद, गंधक, लौह, ताम्र, मुक्ता, हीरक भस्म
   - (v) चतुर्भुज रस : रस सिन्दूर, स्वर्ण भस्म, मन:शिला, कस्तूरी, हरताल
   - (vi) भूतभैरव रस : पारद, गंधक, हरताल, मन:शिला, ताम्र लौह
   - (vii) प्रवाल पञ्चामृत : प्रवाल
   - (viii) मुक्ता पिष्टी : मुक्ता
2. **वटी**
   - मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.
   - अनुपान : दुग्ध, कोष्ण जल, शहद
   - (i) अमर सुंदरी वटी : पारद, गंधक, वत्सनाभ, लौह भस्म
   - (ii) सर्पगंधा घन वटी : सर्पगंधा, अजवायन, जटामांसी
   - (iii) ब्राह्मी वटी : ब्राह्मी
3. **चूर्ण**
   - मात्रा : 3-6 ग्राम
   - अनुपान : शहद, कोष्ण जल
   - (i) सारस्वत चूर्ण : कुष्ठ, अश्वगंधा
   - (ii) सर्पगंधा चूर्ण : रस सिन्दूर, सर्पगंधा
   - (iii) अश्वगंधा चूर्ण : अश्वगंधा
   - (iv) वचा चूर्ण : वचा
   - (v) जटामांसी चूर्ण : जटामांसी
   - (vi) शिरीषादि चूर्ण : शिरीष
4. **आसव/अरिष्ट**
   - मात्रा : 10-20 मि.ली.
   - अनुपान : समभाग जल
   - (i) सारस्वतारिष्ट : ब्राह्मी, शतावरी

   - (ii) दशमूलारिष्ट : दशमूल, पुष्कर मूल, चित्रक
   - (iii) अश्वगंधारिष्ट : मूसली, अश्वगंधा, मंजिष्ठा
   - (iv) बलारिष्ट : बला, अश्वगंधा, धातकी
   - (v) चन्दनासव : श्वेत चंदन, रक्त चंदन, वरुण, हरिद्रा
5. **घृत/तैल**
   - मात्रा : 10-20 मि.ली.
   - अनुपान : कोष्ण जल, गोदुग्ध
   - (i) हिंग्वादि घृत : गोघृत, गोमूत्र, हिंगु, शुण्ठी
   - (ii) कल्याणक घृत : गोघृत, इन्द्रवारुणी, त्रिफला
   - (iii) महाकल्याणक घृत : गोघृत, गोदुग्ध, त्रिफला, इन्द्रवारुणी
   - (iv) महापैशाचिक घृत : गोघृत, जटामांसी, हरीतकी, कौंच
   - (v) लशुनाद्य घृत : गोघृत, गोदुग्ध, गोमूत्र, लसुन, हरीतकी
   - (vi) स्वल्प चैतस घृत : गोघृत, गम्भारी रहित दोनों पंचमूल
   - (vii) शिवा घृत : गोघृत, गोदुग्ध, शृंगाल मांस, दशमूल
   - (viii) सिद्धार्थक घृत : सर्षप, वचा, हिंगु, प्रियंगु
   - (ix) भूतराव घृत : त्रिकटु, तेजपत्र, गोघृत, गोमूत्र
   - (x) महाभूतराव घृत : तगर, मधुयष्ठी, गोघृत, अष्टमूत्र
   - (xi) शिवा तैल : गोदुग्ध, शृंगाल मांस, दशमूल, तिल तैल
6. **अवलेह**
   - मात्रा : 10-20 ग्राम
   - अनुपान : गोदुग्ध
   - (i) चन्द्रावलेह : शतावरी, शंखपुष्पी, कुष्माण्ड
   - (ii) च्यवनप्राश : दशमूल, आमलकी
   - (iii) ब्रह्म रसायन : आमलकी, हरीतकी, दशमूल
7. **अगद**
   - मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
   - प्रयोगविधि : पान, नस्य, अंजन, आलेप, स्नान, उबटन के रूप में
   - (i) सिद्धार्थक अगद : सर्षप, वचा, हिंगु
   - (ii) सिद्धार्थकादि अगद : सर्षप, त्रिकटु, वचा, अश्वगंधा
   - (iii) करञ्जादि अगद : करञ्ज, शिरीष, पाटला
8. **अञ्जन**
   - मात्रा : आवश्यकतानुसार
   - (i) कृष्णाद्याञ्जन : पिप्पली, कृष्ण मरिच, सैन्धव
   - (ii) दार्व्यादि गुडिकाञ्जन : दारुहल्दी, मधु

(iii) मरिचाञ्जनं : काली मिर्च, गोरोचन

9. वर्ति

(i) ब्रह्मयादि वर्ती : ब्राह्मी, इन्द्रवारुणी, त्रिकटु, जटामांसी

(ii) त्र्यूषणादि वर्ती : त्रिकटु, हिंगु, सैंधव, वचा

(iii) शिरीषादि वर्ति : शिरीष, लसुन, शुण्ठी, सर्षप

(iv) नक्तमालादि वर्ति : करञ्ज, त्रिकटु, श्योनाक

(v) सैंधवादि वर्ति : सैंधव, कुटकी, हिंगु, गुडूची, वचा

10 धूप

(i) माहेश्वर धूप : कपास, मोरपंख, सर्प की केंचुली, हाथी दांत, गोशृंग

(ii) निम्बपृथादि धूप : निम्ब, वचा, हिंगु, सर्प केंचुली

(iii) अजादि रोम धूप : अजा एवं रीक्ष चर्म, सेही के कण्टक, उल्लू के पूंछ के बाल, अजामूत्र, हिंगु

11. एकल द्रव्य

(i) ब्राह्मी	(x) दारुहरिद्रा
(ii) शंखपुष्पी	(xi) त्रिफला
(iii) जटामांसी	(xii) सर्षप
(iv) वचा	(xiii) हिंगु
(v) ज्योतिष्मती	(xiv) देववारु
(vi) कुष्ठ	(xv) आमलकी
(vii) पारसीक यवानी	(xvi) चांगेरी
(viii) सर्पगंधा	(xvii) मण्डूकपर्णी
(ix) अनंतमूल	(xviii) अश्वगंधा इत्यादि

(8) दैव व्यपाश्रय चिकित्सा

उपरोक्त युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के अतिरिक्त आवश्यकता के अनुसार मणि, मन्त्र, तप, ध्यान, होम, मंगल, जप, इत्यादि का प्रयोग करना चाहिऐ। दैव व्यपाश्रय चिकित्सा प्राय: उन मानस रोगियों में की जानी चाहिऐ जिनमें उन्माद का स्पष्ट कारण दृष्टिगोचर नहीं होता हो। अत: उसे कर्मज व्याधि मानकर चिकित्सा करनी चाहिए।

(9) योगासन/प्राकृतिक चिकित्सा

आवश्यकतानुसार योगासन एवं प्राणायाम तथा प्राकृतिक चिकित्सा से भी उन्माद रोग शमन में विशेष सहायता मिल सकती है।

1. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का रोगी द्वारा नियमित अभ्यास करना लाभकारी रहता है।

2. शवासन, हलासन, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन इत्यादि
3. षट्कर्म पालन

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. शोधन कर्म : वमन, विरेचन, अनुवासन बस्ति, निरुह बस्ति, नस्य कर्म एवं सम्यक् संसर्जन क्रम पालन।
3. दैवव्यपाश्रय एवं सत्वावजय चिकित्सा
4. बहि: परिमार्जन चिकित्सा : अञ्जन, प्रलेप, उद्घर्षण, शिरोधारा, शिरो अभ्यंग, शिरोबस्ति।
5. प्रात : सायं

उन्माद गजांकुश रस	: 125 मि.ग्रा.
चतुर्मुख रस	: 125 मि.ग्रा.
प्रवाल पिष्टी	: 250 मि. ग्रा.
स्वर्ण भस्म	: 125 मि.ग्रा.
शहद से	1 × 2 मात्रा

6. भोजनोत्तर

सर्पगंधा चूर्ण	: 2 ग्राम
अश्वगंधा चूर्ण	: 2 ग्राम
ब्राह्मी वटी	: 500 मि.ग्रा.
स्मृतिसागर रस	: 250 मि.ग्रा.
कोष्ण जल/शहद से	1 × 2 मात्रा

7. कल्याणक घृत : 20 मि.ली.
   गोदुग्ध से 1 × 2 मात्रा
8. भोजनोत्तर

सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.ली.
अश्वगंधारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1 × 2 मात्रा

9. पथ्यापथ्य का सेवन
10. शीर्षासन, हलासन, शवासन
11. प्राणायाम का अभ्यास

पथ्यापथ्य

पथ्य

आहार	विहार
पुराण चावल, पुराण गेहूं, जौ, रक्तशाली, साठी चावल, मूंग, धारोष्ण गोदुग्ध, नवीन एवं पुराण गोघृत, वर्षाजल, परवल, लौकी, पेठा, चौलाई, बथुआ, चांगेरी, भिण्डी, कटहल, अंगूर, किशमिश, मुनक्का, अनार, संतरा, मुसम्मी, अंजीर, नारियल, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस, शतधौत घृत, विशेषकर कोयल एवं कच्छप मांस, गधे एवं घोड़े का मूत्र कुष्माण्ड एवं कैंथ फल इत्यादि।	तर्जन, ताड़न, आश्वासन, बंधन, भय, हर्ष, दमन, विस्मारण, आश्चर्यचकित करना, उद्घर्षण, स्नान, निद्रा, अभ्यंग शीतल लेप, धी, धैर्य आदि की वृद्धि एवं सत्वावजय इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
मद्यपान, विरुद्ध आहार, अति मांस सेवन, भैंस का दुग्ध, उष्ण पेय एवं खाद्य पदार्थ, सर्षप तैल, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही आहार द्रव्य, कुन्दुरु, तिक्त द्रव्य, करेला, गर्म मसाला एवं अचार इत्यादि	क्षुधा, पिपासा एवं निद्रा के वेग को रोकना, धूप सेवन, अति भार वहन एवं मैथुन इत्यादि।

उन्माद मुक्ति के लक्षण

उन्माद रोग से मुक्त हो जाने पर रोगी के शरीर में निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं[1]-

1. इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, बुद्धि, आत्मा एवं मन में प्रसन्नता उत्पन्न होना।
2. दोष एवं धातुओं का अपने प्राकृत स्वरूप में आ जाना।

---

1. प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्धयात्ममनसां तथा।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम्॥
(च.चि. 9/97)

Latest Developments
Psychosis

Definition

The term Psychosis is defined as-

1. Gross impairment in reality testing (contact with reality)
2. Marked disturbance in personality with impairment in social, interpersonal and occupational functioning.
3. Marked impairment in judgement and absent understanding of the current symptoms and behaviour (Loss of insight)
4. Presence of the characteristic symptoms like delusions and hallucination.

Types

1. Organic Psychosis
2. Functional Psychosis

Psychosis is further subdivided into following types—

(i) Schizophrenia
(ii) Schizophreniform Psychosis
(iii) Brief reactive psychosis
(iv) Schizo - affective psychosis
(v) Paranoid states

Aetiology

Causative factors of psychosis are usually multifactorial which include—

1. Genetic factors
2. Family background e.g. unhappy childhood background
3. Physical illness
4. Stressful life events
5. Uneasy social network

Signs and symptoms

1. Impairment of orientation in time, place and persons
2. Impairment of memory
3. Impairment of intellectual functions
4. Impairment of consciousness
5. Anxiety
6. Depression
7. Psychotic symptoms
8. Jocularity (Humorousness)
9. Confebulation (Irrelevant talk)
10. Excessive orderliness (Highly methodically arranged)

Investigations

1. Laboratory : Haematological, Biochemical and serological Tests mainly to confirm clinical diagnosis of underlying systemic diseases.
2. Radiological : X-ray studies, C.T. Scan, MRI etc.
3. Others : EEG, CSF analysis
4. Neuropsychological tests e.g. Wechsler Memory Scale and Intelligence Test.

Management : Principles

1. Anti psychotic drugs are used to control agitation and psychotic features. Pimozide is the drug of choice.
2. Anti depressants and or ECT (Electroconvulsive Therapy) may be needed for secondary depression.
3. Supportive psychotherapy
4. Symptomatic management.

1. भूतोन्माद

(Special Symbolic Psychotic Syndrome)

परिचय

आचार्य चरक ने भूतोन्माद को आगन्तुज उन्माद के रुप में वर्णित किया है, जबकि आचार्य सुश्रुत ने भूतोन्माद का वर्णन उत्तर तंत्र में अमानुषोपसर्ग अध्याय के अंतर्गत किया है। वस्तुत: भूतोन्माद इत्यादि कुछ ऐसी व्याधियों का विस्तृत वर्णन आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में मिलता है जिनकी उत्पत्ति का मुख्य कारण विविध प्रकार के भूत, देव तथा ग्रह इत्यादि होते हैं। इन व्याधियों में व्यक्ति में विचित्र प्रकार के व्यवहार उत्पन्न होते हैं जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार मनोविकारज लक्षण समूह (Psychotic syndrome) कहा जा सकता है। इन व्याधियों के निदान, सम्प्राप्ति इत्यादि को दोष, धातु एवं मलों के सिद्धांत पर नहीं समझा जा सकता है। सम्भवत: इसी कारण से आचार्यों द्वारा इन्हें विशेष महत्व प्रदान करने के दृष्टिकोण से इनका नामकरण ग्रहों के नाम पर किया गया है। प्राय: इन रोगियों में कोई दृश्य अथवा स्थूल निदान दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तथा केवल युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा करने से कोई विशेष लाभ प्राय: नहीं मिलता है। ग्रहों के प्रकृति के आधार पर ही सम्भवत: आचार्यों ने आठ प्रकार के भूतोन्माद का वर्णन किया है जो कि उन्माद के ही विशेष अवतान्तर भेद हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंन्थ

1. चरक संहिता निदान स्थान - अध्याय 7
2. चरक संहिता चिकित्सा स्थान - अध्याय 9
3. सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान - अध्याय 60
4. सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान - अध्याय 62
5. अष्टांग हृदय उत्तर स्थान - अध्याय 07
6. माधव निदान - अध्याय 20

परिभाषा

देव, ग्रह इत्यादि के द्वारा व्यक्तियों में उत्पन्न विशिष्ट मनोविकार समूह जिनका दोष, दूष्य के आधार पर निर्धारण संभव नहीं हो उन्हें भूतोन्माद कहते हैं। भूतोन्माद में अनेक प्रकार के विचित्र लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रमुख निदान

भूतोन्माद के प्रमुख निदान निम्न प्रकार वर्णित हैं[1]-

1. देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस, पितृ ग्रहों का अपमान।
2. नियम, व्रत, पूजा इत्यादि का अनुचित एवं नियमविरुद्ध ढंग से प्रयोग।
3. पूर्वजन्म कृत एवं वर्तमान जन्म के पाप कर्म।

ग्रह प्रवेश का प्रकार[2]

देव आदि ग्रह अपने गुण के प्रभाव से मनुष्य शरीर को बिना दूषित किये अदृश्य रुप में वेग पूर्वक मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं, जैसे दर्पण में छाया अथवा सूर्य कान्त मणि में सूर्य प्रकाश प्रवेश करता है।

देवादि ग्रहों के आवेश का कारण

भूतोन्माद कारक ग्रह मुख्यत: निम्न तीन प्रयोजनों से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होते हैं[3]-

1. हिंसा (मारने के लिए)
2. रति (मैथुन अथवा प्रेम के लिए)
3. अभ्यर्चना (अपनी पूजा करवाने के लिए)

---

1. देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षः पितृणग्रभि घर्षणानि।
   आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे॥ (चि.चि. 9/16)
2. अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः।
   विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ॥ (च.चि. 9/18)
3. त्रिविधं तु खलुन्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं
   भवति, तद्यथा-हिंसा, रतिः अभ्यर्चनं चेति। (च.नि. 7/15)

देवादि ग्रहों के आवेश का स्थान एवं समय[1]

1. पापकर्मारम्भ अथवा पूर्व में पाप करते समय।
2. अकेले शून्य गृह में निवास करते समय।
3. चौराहे पर अथवा सायंकाल के समय।
4. पर्वसन्धि जैसे अमावस्या, पूर्णिमा के दिन।
5. रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करते समय।
6. अनुचित रुप में स्वरहीन अध्ययन करते समय।
7. नियम विरुद्ध, बलि, होम, मंगल करते समय।
8. यम, नियम, व्रत, ब्रह्मचर्य के नियम भंग होने पर।
9. महायुद्ध के समय।
10. देश, कुल एवं ग्राम के विनाश के समय।
11. चन्द्रग्रहण एवं सूर्य ग्रहण के समय।
12. प्रसव होते समय।
13. अनुचित ढंग से वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण करवाते समय।
14. अपवित्र, असावधानी से चैत्य, देव मंदिर में प्रवेश करने से।
15. मांस, मधु, तिल, गुड़, मदिरा सेवन के उपरांत मुख शुद्धि नहीं करने से।
16. नग्न अवस्था में रहने से।
17. रात्रि में नगर, चौराहा, वाटिका, श्मशान, वधस्थल, आदि में अकेले जाने पर।
18. द्विज, गुरु, देवता, साधु का अपमान या तिरस्कार करने पर।
19. धार्मिक कार्य गलत तरीके से करने पर।
20. किसी भी कार्य को अनियमित ढंग से करने पर।

भूतादि ग्रहावेश के प्रकार

भूतादि अष्ट ग्रह निम्न स्वरुप में मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं[2]-

1. देवग्रह : देखते हुए प्रविष्ट होते हैं।
2. गुरुवाद्य ग्रह : शाप देते हुए प्रविष्ट होते हैं।
3. पितृ ग्रह : धमकाते हुए प्रविष्ट होते हैं।
4. गन्धर्व ग्रह : स्पर्श करते हुए प्रविष्ट होते हैं।

1. उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वराक्षस ..... वा कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे, इत्यभिघातकाला व्याख्याता भवन्ति॥ (च.नि. 7/14)
2. तत्रायमुन्मादकराणां भूतानामुन्मादयिष्यतामारम्भ विशेषो भवति; तद्यथा - अवलोकयन्तो देवा जनयन्त्युन्मादं, ... पिशाचा: पुनरुह्यवाहयन्त: ॥ (च.नि. 7/12)

5. यक्ष ग्रह : शरीर में प्रविष्ट होते समय उन्माद उत्पन्न करते हैं।
6. राक्षस ग्रह : आम गन्ध को सूँघते हुए प्रविष्ट होते हैं।
7. ब्रह्मराक्षस ग्रह
8. पिशाच ग्रह : सवारी करके चलते हुए प्रविष्ट होते हैं।

भूतोन्माद के पूर्वरुप

भूतोन्माद के पूर्व रुप निम्नलिखित हैं[1]-

1. देव, गो, ब्राह्मण आदि को मारने में रुचि।
2. क्रोध की उत्पत्ति होना।
3. दूसरे व्यक्ति के अपकार में रत रहना।
4. अरति (बेचैनी) रहना।
5. ओज, बल, वर्ण, छाया एवं शरीर का ह्रास होना।
6. स्वप्न में देवादि ग्रहों द्वारा धमकाया जाना तथा प्रेरित होना।

सामान्य लक्षण

भूतोन्माद के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार प्रकट होते हैं[2,3]-

1. रोगी की वाणी, विक्रम, शक्ति एवं चेष्टाएँ सामान्य मनुष्य से अधिक शक्तिशाली तथा विचित्र होती हैं।
2. रोगी मनुष्य का ज्ञान, विज्ञान एवं बल सामान्य मनुष्य के समान नहीं होते हैं।
3. उन्माद के वेग आने का कोई भी समय निश्चित नहीं होता है अर्थात् उन्माद काल अनिश्चित होता है।

भेद[4]

देव, राक्षस इत्यादि के ग्रह समूह असंख्य होते हैं। परंतु भिन्न-भिन्न लक्षणों वाले होने से प्रधान रुप से आठ प्रकार के भूतोन्माद होते हैं। आचार्य चरक एवं सुश्रुत के मतानुसार ग्रहों की गणना में केवल दो ग्रहों के नामकरण में अंतर है। आचार्य चरक ने गुर्वाद्युन्मत तथा ब्रह्मराक्षस उन्मत नामक ग्रह माना है। जबकि आचार्य सुश्रुत ने नागोन्मत्त एवं असुरोन्मत नामक भूतोन्माद माने हैं जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है-

1. तत्र देवादि प्रकोपनिमित्तेनागन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्येमानि पूर्वरुपाणि भवन्ति, तद्यथा- देवगोब्राह्मणतपस्विनां.....ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्ति: ॥ (च.नि. 7/11)
2. अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्य: । उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम्॥ (च.चि. 9/17)
3. गुह्यानागत विज्ञानमनवस्था .....। .....सत्कारार्थमथापि वा॥ (सु.उ. 60/4-5)
4. असंख्येया ग्रहगणा ग्रहाधिपतयस्तु ते। व्यज्यन्ते विविधाकारा भिद्यन्ते ते तथाऽष्टधा॥ (सु.उ. 60/6)

क्र.सं.	आचार्य चरक मतानुसार	आचार्य सुश्रुत मतानुसार
1.	देवजुष्ट	देवजुष्ट
2.	ब्रह्मराक्षस जुष्ट	देव शत्रु जुष्ट (असुरोन्मत्त)
3.	गन्धर्व जुष्ट	गन्धर्व जुष्ट
4.	यक्ष जुष्ट	यक्ष जुष्ट
5.	पित्तर जुष्ट	पित्तर जुष्ट
6.	गुर्वाद्य जुष्ट	भुजङ्ग (सर्प) जुष्ट
7.	राक्षस जुष्ट	राक्षस जुष्ट
8.	पिशाच जुष्ट	पिशाच जुष्ट

भूतोन्माद के भेदानुसार लक्षण

1. देवोन्माद के प्रमुख लक्षण

देवोन्माद से ग्रस्त रोगी में निम्न लक्षण प्रकट होते हैं[1]-

(i) रोगी सदैव संतुष्ट रहता है।
(ii) पवित्र रहता है।
(iii) रोगी उत्तम गन्ध एवं माला की अभिलाषा रखता है।
(iv) निद्रा अथवा तन्द्रा नहीं आती है।
(v) सदैव सत्य बोलता है।
(vi) निरंतर संस्कृत में धारा प्रवाह बोलता है।
(vii) रोगी तेजस्वी एवं स्थिर नेत्र वाला होता है।
(viii) आस-पास के व्यक्तियों को वरदान देता है।
(ix) ब्राह्मणों की पूजा करता है।

2. देवशत्रु जुष्ट उन्माद के लक्षण

देवशत्रु जुष्ट उन्मादी व्यक्ति में निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[2]-

(i) अत्यधिक स्वेदन होता है।
(ii) रोगी ब्राह्मण, गुरु एवं देवताओं के दोषों का वर्णन करता है।
(iii) रोगी के नेत्र टेढ़े रहते हैं।
(iv) निर्भीक होता है।
(v) रोगी कुमार्ग पर चलने वाला एवं नास्तिक होता है।

1. सन्तुष्टः शुचिरपि चेष्टगन्धमाल्यो निस्तन्द्री ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः॥ (सु.उ. 60/8)
2. संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
संतुष्टो भवति न चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति च देवशत्रु जुष्टः॥ (सु.उ. 60/9)

(vi) अति भोजन से भी संतुष्ट नहीं होता है।
(vii) रोगी की आत्मा दुष्ट एवं अशुभ प्रकृति वाली होती है।

3. गन्धर्वजुष्ट उन्माद के लक्षण

गन्धर्व ग्रह उन्माद से ग्रस्त रोगी में निम्न लक्षण परिलक्षित होते हैं[1]-

(i) रोगी सदैव प्रसन्न रहता है।
(ii) नदी तट अथवा उपवन में घूमने में आनंद की अनुभूति का अनुभव करता है।
(iii) शुद्ध आचरण वाला होता है।
(iv) संगीत, नृत्य में लीन एवं मुस्कुराता रहता है।

4. यक्ष ग्रहोन्माद के लक्षण

यक्ष ग्रह उन्माद से पीड़ित व्यक्ति में निम्न लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं[2]-

(i) नेत्र ताम्र वर्ण के समान रक्तिम होते हैं।
(ii) रोगी पतले एवं रक्तवर्ण के वस्त्र की अभिलाषा करता है।
(iii) रोगी देखने में गंभीर स्वभाव वाला एवं तीव्र बुद्धि वाला होता है।
(iv) रोगी कम बोलता है एवं सहनशील होता है।
(v) तेजस्वी होता है।
(vi) रोगी दान कार्य में तत्पर रहता है।

5. पितृ ग्रहाविष्ट उन्माद के लक्षण

पित्तृ ग्रह से दुःखी रोगी में निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[3]-

(i) रोगी शांत स्वभाव वाला होता है।
(ii) दक्षिण कन्धे पर वस्त्र रखकर पितरों को पिण्ड दान करता है।
(iii) जल का तर्पण करता है।
(iv) मांस, तिल, गुड़, पायस (खीर) सेवन करने की इच्छा करता है।
(v) पितरों में भक्ति रखता है।

6. नाग ग्रहाविष्ट उन्माद के लक्षण

नाग ग्रह से पीड़ित उन्माद रोगी के लक्षण निम्नलिखित हैं[4]-

(i) रोगी कभी-कभी सर्प के समान पृथ्वी पर सरक कर चलता है।

1. हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥ (सु.उ.60/10)
2. ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतमतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै, यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥ (सु.उ. 60/11)
3. प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु पिण्डान्, शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुड़पायसाभिकामस्तदभुक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः॥ (सु.उ. 60/12)
4. भूमौ यः प्रसरति सर्पवत् कदाचित्, सृक्किण्यौ विलिखति जिह्वया तथैव।
निद्रार्लुगुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्विज्ञेयो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः॥ (सु.उ. 60/13)

(ii) जिह्वा से ओष्ठ को हमेशा स्पर्श करता रहता है।
(iii) रोगी को अतिनिद्रा आती है।
(iv) गुड़, शहद, दुग्ध एवं खीर सेवन की इच्छा रहती है।

7. राक्षस ग्रहाविष्ट उन्माद के लक्षण

राक्षस ग्रह से पीड़ित व्यक्ति के लक्षण निम्न प्रकार हैं[1]-

(i) रोगी मांस, रक्त, सुरा सेवन की इच्छा करता है।
(ii) लज्जा रहित हो जाता है।
(iii) अत्यंत कठोर स्वभाव वाला हो जाता है।
(iv) अत्यधिक शक्तिशाली एवं रात्रिचर होता है।
(v) क्रोधी प्रकृति का एवं शूरवीर होता है।
(vi) स्नान, संध्या, पूजा इत्यादि कर्मों से द्वेष करता है।

8. पिशाच ग्रहाविष्ट उन्माद के लक्षण

पिशाच ग्रह से उन्मादित व्यक्ति के लक्षण निम्न प्रकार हैं[2]-

(i) रोगी हाथ को ऊपर उठाए रखता है।
(ii) शरीर दुर्बल एवं रुक्ष होता है।
(iii) अधिक देर तक प्रलाप करता है।
(iv) शरीर दुर्गन्धित एवं अपवित्र होता है।
(v) रोगी अत्यधिक लोभी होता है।
(vi) अत्यधिक आहार ग्रहण करता है।
(vii) निर्जन स्थान पर शयन करता है।
(viii) शीतल जलाकांक्षी एवं रात्रिचर होता है।
(ix) रोगी उद्विग्न होकर घूमता है।
(x) अति रुदन करता है।

ग्रहावेश की तिथि

आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने मनुष्य में ग्रहावेश के अलग-अलग काल का वर्णन किया है। इस संदर्भ में अग्रिम तालिका में आचार्य चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट का मत उल्लिखित है।

1. मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी, शौचद्विड् भवति च रक्षसा गृहीतः॥(सु.उ. 60/14)
2. उद्वस्तः कृशपरुषश्चिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः।
बह्वाशी विजनहिमाम्बुरात्रिसेवी व्याविग्नो भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥ (सु.उ. 60/15)

आचार्य चरक[1]		आचार्य सुश्रुत[2]		आचार्य वाग्भट[3]	
भूत	आवेशकाल	भूत	आवेशकाल	भूत	आवेशकाल
1. देवग्रह	शुक्ल प्रतिपदा, त्रयोदशी	1. देव	पूर्णिमा	1. देव	शुक्ल, प्रतिपदा तृतीया
2. ऋषिग्रह	षष्ठी, नवमी	2. भुजङ्ग	पञ्चमी	2. ऋषिग्रह	सन्ध्या समय
3. पितृग्रह	दशमी, अमावस्या	3. पितृ	अमावस्या	3. पितृ	दशमी, अमावस्या
4. गन्धर्व	द्वादशी, चतुर्दशी	4. गन्धर्व	अष्टमी	4. गन्धर्व	द्वादसी, चतुदर्शी
5. यक्षग्रह	शुक्ल, सप्तमी, एकादशी	5. यक्ष	प्रतिपदा	5. यक्ष	शुक्ल, सप्तमी, एकादशी
6. ब्रह्म राक्षस	शुक्ल, पंचमी पूर्णिमा	6. देवशत्रु	प्रातः सायं	6. ब्रह्म राक्षस	शुक्ल, पंचमी, अष्टमी, पूर्णिमा
7. राक्षस	द्वितीया, तृतीया, अष्टमी	7. राक्षस	चतुर्दशी	7. राक्षस	कृष्ण, नवमी, द्वादसी
8. पिशाच	अष्टमी	8. पिशाच	चतुर्दशी	8. पिशाच	कृष्ण, नवमी, द्वादशी

सापेक्ष निदान

भूतोन्माद के अपने विशिष्ट एवं विचित्र लक्षण होने से आसानी से इसका निदान किया जा सकता है। फिर भी कभी-कभी भूतोन्माद की उन्माद रोग से सापेक्ष निदान की आवश्यकता होती है जिसे निम्न तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है-

भूतोन्माद	उन्माद
1. रोगी का अमर्त्य या मानवेतर व्यवहार रहता है।	1. उन्माद में दोषानुसार लक्षण उत्पन्न होते हैं।
2. भूतोन्माद का प्रमुख कारण ग्रह द्वारा हिंसा, रति अथवा पूजा कराना होता है।	2. निदान सेवन के उपरांत दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना होकर लक्षण उत्पन्न होते हैं।
3. कोई भी शारीरिक विकृति नहीं होती है।	3. शारीरिक विकृति एवं व्याधियाँ होती है।
4. केवल ग्रहों के आवेश के फलस्वरुप भूतोन्माद उत्पन्न होता है।	4. वातादि शारीर दोष एवं रज, तम मानस दोष के कारण उन्माद की उत्पत्ति होती है।

1. तत्र चौक्षाचारं तपः स्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्ल
..... ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः॥ (चि.चि. 9/21)
2. देवग्रहाः पौर्णयास्यामसुराः .....।
..... पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च॥ (सु उ. 60/17-18)
3. गृह्णन्ति शुक्लप्रतिपत्त्रयोदश्योः.....।
..... प्रातः कालं सन्ध्यासु लक्षयेत्॥ (अ.हृ.उ. 4/9-12)

5. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा विशेष लाभदायक होती हैं।	5. युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्वावजय चिकित्सा अधिक लाभप्रद होती हैं।

साध्यासाध्यता[1,2]-

1. रति एवं अभ्यर्चना (पूजा) के लिए आवेशित भूतोन्माद रोगी साध्य होता है।
2. हिंसा के अभिप्राय से आवेशित होने पर उन्माद रोगी असाध्य होता है।
3. जिस रोगी के नेत्र स्थूल तथा बाहर निकल गये हों वह रोगी असाध्य होता है।
4. जो तेजी से चलता हो, मुख से फेन निकलता हो वह रोगी असाध्य है।
5. जिसे अतिनिद्रा आती हो अथवा अत्यधिक कम्पन होता हो वह रोगी असाध्य होता है।
6. जो हाथी, पर्वत, वृक्ष से गिरकर ग्रहाविष्ट हुआ हो वह रोगी असाध्य होता है।
7. जो रोगी ज्ञानशून्य होकर, हाथों को ऊपर उठाकर दूसरों को मारने के लिए दौड़ता है वह असाध्य होता है।
8. जिस रोगी के नेत्र अश्रुपूरित हों वह असाध्य होता है।
9. जिस रोगी में मूत्र मार्ग से रक्त की प्रवृत्ति होती हो वह असाध्य होता है।
10. जिसकी जिह्वा कट गयी हो वह रोगी असाध्य होता है।
11. मर्म स्थानों में छेदनवत वेदना होती हो तो रोगी असाध्य होता है।
12. बोलते हुए वाणी रुक जाती हो अथवा अव्यक्त आवाज आती हो तो रोगी असाध्य होता है।
13. जिस रोगी का शरीर वर्ण विकृत हो गया हो वह असाध्य होता है।
14. जिस रोगी में अति तृषा उत्पन्न हो वह भूतोन्माद का रोगी असाध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धांत

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा[3]

भूतोन्माद रोग में युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा से विशेष लाभ नहीं होता है। अतः दैवव्याश्रय चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अंतर्गत मंत्र, औषधि, मणि, मंगलवचन, बलि प्रदान करना, हवन, नियमों का अनुशीलन, व्रत, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्त्ययन, भूतों के प्रति नमस्कार तथा तीर्थादि प्रशस्त स्थानों में रोगी को गमन करना चाहिए।

---

1. स्थूलाक्षस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति।
   यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः सन् संसृष्टो न भवति वार्द्धकेन जुष्टः॥ (सु.उ. 60/16)
2. सर्वेष्वपि तु खल्वेषु यो हस्तावुद्यम्यरोषसंरम्भ
   ..... हिंसार्थिनोन्मत्तोज्ञेयः, तं परिवर्जयेत्॥ (च.चि. 9/22)
3. तयोः साधनानि-मन्त्रौषधिमणिमंगलबल्युपहारहोमनियम
   व्रतप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि॥ (च.नि. 7/17)

2. क्रूर कर्मों का निषेध

भूतोन्माद में रोगी की चिकित्सा हेतु क्रूर कर्म करना पूर्णतः वर्जित है। जैसे-तीक्ष्ण अंजन, नस्य, ताड़न, संतर्जन, बंधन, वध इत्यादि।

3. घृत इत्यादि मृदु औषधियों का प्रयोग।

4. अभ्यर्चना पूजा

(i) सावधानीपूर्वक भूतों के राजा, देव, ईश्वर एवं जगत के स्वामी रुद्र का प्रतिदिन पूजन करना लाभकारी रहता है।

(ii) देव, गो, ब्राह्मण, गुरु का पूजन नियमित रुप से करना चाहिए।

(iii) सदाचार, तपस्या, आध्यात्मज्ञान, दान, नियम, व्रत आदि का पालन करना आवश्यक है।

5. बलि प्रदान करना चाहिए।

6. प्रमुख औषधियाँ

(i) भूत भैरव रस, मात्रा : 125-250 मि.ग्रा., अनुपान : शहद/ब्राह्मी स्वरस
(ii) प्रपुराण घृत, मात्रा : 20 मि.ली.×2 मात्रा, अनुपान : कोष्णदुग्ध
(iii) सिद्धार्थक घृत, मात्रा : 20 मि.ली.×2 मात्रा, अनुपान : कोष्णदुग्ध
(iv) ब्राह्मी घृत, मात्रा : 20 मि.ली.×2 मात्रा, अनुपान : कोष्णदुग्ध
(v) कल्याणक घृत, मात्रा : 20 मि.ली.×2 मात्रा, अनुपान : उष्णोदक
(vi) मेध्य रसायन (शंखपुष्पी, गुडूची, मण्डूकपर्णी, मधुयष्ठी), मात्रा : आवश्यकतानुसार
(vii) सिद्धार्थक योग, मात्रा : आवश्यकतानुसार

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन
2. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
3. सत्वावजय चिकित्सा
4. मृदु संशोधन : वमन, विरेचन

		प्रात : सायं
5.	भूतभैरव रस	: 125 मि.ग्रा.
	स्मृति सागर रस	: 125 मि.ग्रा.
	ब्राह्मी स्वरस से	1 × 2 मात्रा
6.	प्रपुराण घृत	: 20 मि.ली.
	गोदुग्ध से	1 × 2 मात्रा
7.	सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.ली.
	समभाग जल से	1 × 2 मात्रा.

8. पथ्यापथ्य का समुचित पालन

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार	विहार
लघु, सुपाच्य, मधुर, मन को प्रिय लगने वाले आहार द्रव्य, मधु, मैरेय, शाठी चावल, शालि चावल, शिशु दुग्ध एवं घृत इत्यादि।	दैव व्यपाश्रय कर्म जैसे पूजा, मंगलवचन, शांतिविधान, होम, यज्ञ, मंत्र, जप, दान, व्रत, नियम, स्वस्त्ययन, रत्न, औषधि, मणिधारण, रुद्रपूजा एवं प्रायश्चित इत्यादि।

अपथ्य

आहार	विहार
उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही आहार, करेला, कुन्दुरु, तिक्त पदार्थ, पर्युषित (बासी) आहार द्रव्य एवं अरुचिकर आहार द्रव्य इत्यादि।	तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अंजन, तर्जन, त्रासन वध, अत्यधिक अंधकार युक्त वातावरण, निर्जन स्थान में शयन एवं रात्रि में मार्ग गमन इत्यादि।

2. अपस्मार

(Epilepsy)

परिचय

संहिता ग्रंथों में वर्णित मानस रोगों के अंतर्गत उन्माद रोग के बाद अपस्मार रोग का वर्णन प्राप्त होता है। अधिकांश संहिता ग्रंथों में अपस्मार का स्वतंत्र व्याधि के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। अपस्मार में मुख्यत: स्मृति का नाश प्रधान रूप में होने के कारण अपस्मार को मानस रोग माना जाता है। यदि लाक्षणिक आधार पर देखें तो अपस्मार की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Epilepsy रोग से कर सकते हैं। इस आधार पर अपस्मार रोग मानस रोग के स्थान पर मस्तिष्कगत व्याधि प्रतीत होती है। परंतु अनेक प्रकार के मानस भावों का अपस्मार के वेग उत्पत्ति में महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस आधार पर अपस्मार को मानस रोग ही मानना चाहिऐ। वास्तव में चिंता, शोक, भय इत्यादि मानसिक कारणों से प्रकुपित दोषों से चेतना स्थान हृदय (मस्तिष्क) प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप स्मृति का नाश होकर अपस्मार रोग की उत्पत्ति होती है। यहां पर यदि विचार किया जाये तो उन्माद रोग में भी ज्ञान नष्ट होता है अत: अपस्मार रोग उन्माद रोग से भिन्न कैसे है ? परंतु उन्माद एवं अपस्मार में कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर हैं।

जैसे उन्माद रोग में बुद्धि का पूर्ण विनाश नहीं होकर केवल बुद्धि का विभ्रम होता है। जबकि अपस्मार रोग में वेग के समय बुद्धि का पूर्ण विनाश हो जाता है अर्थात रोगी वेग के समय पूर्णत: संज्ञाहीन (Unconscious) हो जाता है। अपस्मार में वेग एक अंतराल के पश्चात नियमित रूप से आता रहता है। इसका कारण यह है कि दोष संचय के उपरांत जब प्रकुपित होते हैं तब अपस्मार रोग के वेग आते हैं। अपस्मार रोग की चिकित्सा में संशोधन, संशमन औषधियों के साथ-साथ सत्वावजय एवं बहि: परिमार्जन औषधियों का भी प्रयोग घृत अथवा रसायन द्रव्यों के रूप में किया जाता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1.	चरक संहिता निदान स्थान	- अध्याय 08
2.	चरक संहिता चिकित्सा स्थान	- अध्याय 10
3.	सुश्रुत संहिता उत्तर स्थान	- अध्याय 61
4.	अष्टांग हृदय उत्तर स्थान	- अध्याय 07
5.	माधव निदान	- अध्याय 21

व्युत्पत्ति

अपस्मार पद 'अप' उपसर्ग पूर्वक 'स्मृस्मरणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर अपस्मार शब्द की व्युत्पत्ति होती है।

निरुक्ति[1]

'अप' शब्द गमनार्थ का वाचक है। 'स्मार' से तात्पर्य है स्मरण अर्थात जिस व्याधि में स्मरण शक्ति का लोप हो जाता है उसे अपस्मार कहते हैं।

परिभाषा

व्यतीत विषय के विज्ञान अथवा स्मरण को स्मृति कहते हैं तथा 'अप' शब्द का 'गमनार्थ' अथवा 'परिवर्जन' अर्थ होता है। इन दोनों शब्दों के संयोग से अपस्मार शब्द बना है। अर्थात् जिस व्याधि में रोगी स्मृति ज्ञान के नष्ट हो जाने से किसी भी स्थान में (पृथ्वी पर) गिर जाता है तथा प्राण् नाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है उसे अपस्मार रोग कहते हैं[2]।

आचार्य चरक के अनुसार स्मृति, बुद्धि एवं मन के विभ्रम के कारण विभत्स चेष्टा करते हुऐ चिरकालावस्थायी अंधकार में डूबते हुए की प्रतीती होने को अपस्मार कहते हैं[3]।

---

1. अपशब्दो गमनार्थ:, स्मार: स्मरणम्।
   अपगत: स्मारो यस्मिन् रोगे सोऽपस्मार: ॥ (डल्हण)
2. स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जने।
   अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरंतकृत ॥ (सु.उ. 61/3)
3. स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विद:।
   तम: प्रवेशं विभत्सचेष्टं धी सत्वसम्प्लवात ॥ (च.चि. 10/3)

प्रमुख निदान

अपस्मार रोग की उत्पत्ति के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं[1,2]—

1. **आहार जन्य निदान**

(i) अहितकर, अपवित्र, संयोग विरुद्ध आहार का निरंतर सेवन।

(ii) दुर्गन्धित, दूषित, अमेध्य, पर्युसित (बासी), आहार का नियमित सेवन।

(iii) विधि अथवा नियम विरुद्ध आहार सेवन।

2. **विहार जन्य निदान**

(i) मलमूत्रादि वेगों का धारण करना।

(ii) रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करना।

(iii) विषम तंत्र प्रयोग अथवा सद्वृत पालन नहीं करना।

3. **मानसिक निदान**

(i) काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, चिन्ता, ग्लानि, उद्वेग इत्यादि।

(ii) मन की दुष्टि, अधीरता इत्यादि।

4. **इन्द्रियार्थ एवं दोषज निदान**

(i) इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) का अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग होना।

(ii) कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्मों का अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग होना।

(iii) मन का रज एवं तमों दोष से व्याप्त होना।

(iv) वातादि दोषों का स्वमार्ग से विचलित अथवा विषम होना।

(v) सत्व गुण का दुर्बल होना।

---

1. विभ्रांतबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात्।
रजस्तमोभ्यां विहते सत्वे दोषावृते हृदि॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा।
मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते॥ (च.चि. 10/4-5)

2. मिथ्याऽतियोगेन्द्रियार्थकर्मणामभिसेवनात्।
विरुद्धमलिनाहारविहारकुपितैर्मलैः॥
वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम्।
रजस्तमोऽभिभूतानाम गच्छताञ्झरजस्वलाम्॥
तथाकामभयोद्वेग क्रोधशोकादिभिर्भृशम्।
चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते॥ (सु.उ. 61/4-6)

सम्प्राप्ति[1]

उपरोक्त विविध प्रकार के निदान सेवन करने से प्रकुपित दोष मनोवाही स्रोतसों में फैलते हुऐ हृदय (मस्तिष्क) को पीड़ित करते हुए रज एवं तम दोषों से अभिभूत होकर स्मृति का नाश करते हैं जिसके फलस्वरूप रोगी, जो रूप नहीं हैं उनका भी दर्शन करता है तथा अंधकार में डूबने जैसा अनुभव करता हुआ हस्त पाद प्रक्षेपण एवं नेत्रों को चलाते हुये वीभत्स चेष्टा करता हुआ भूमि पर गिर जाता है, इसे ही अपस्मार रोग कहते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

शारीर दोष प्रकोपक एवं मनोदोष प्रकोपक
विविध प्रकार के निदानों का सेवन
↓
शारीर दोष एवं मानस दोष प्रकोप
↓
मनोवह स्रोतस द्वारा हृदय प्रदेश में दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना
↓
मनः क्षोभ
↓
स्मृति विनाश
↓
तमः प्रवेश एवं वीभत्स चेष्टा युक्त आवेग
↓
अपस्मार रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष	:	वातादि शारीर दोष एवं रज, तम, मानस दोष
दूष्य	:	स्मृति (ज्ञान सामान्य)
अधिष्ठान	:	हृदय (मस्तिष्क) एवं संज्ञावह नाड़ियां
स्रोतस	:	मनोवह स्रोतस
स्रोतो दुष्टि प्रकार	:	विमार्गगमन
व्याधिस्वभाव	:	दारुण
साध्यासाध्यता	:	कृच्छ्रसाध्य/असाध्य

---

1. संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः।
रजस्तमः परीतेषु मूढो भ्रान्तेन् चेतसा॥
विक्षिपन् हस्तपादं च विजिह्वा भ्रूविलोचनः॥
दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्षः पितेत् क्षितौ। (सु.उ. 61/8-9)

भेद

शास्त्रों में अपस्मार रोग के चार भेद वर्णित किये गये हैं[1]—

1. वातज अपस्मार
2. पित्तज अपस्मार
3. कफज अपस्मार
4. सन्निपातज अपस्मार

पूर्वरूप

अपस्मार रोग में निम्नलिखित पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं[2]—

1. हृत्कम्प (Palpitation of heart)
2. हृदय में शून्यता की प्रतीती (Feeling of no emotions in the heart)
3. स्वेद (Perspiration)
4. ध्यान मग्न रहना (Constant involvement in self thoughts)
5. मूर्च्छा (Fainting)
6. प्रमूढ़ता (संज्ञानास Coma)
7. निद्रानाश (Insomina)

प्रमुख लक्षण

अपस्मार रोग के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार प्रकट होते हैं[3]—

1. हस्तपाद विक्षेप (Convulsive movements of extremities)
2. भ्रू एवं नेत्र में विकृति (Deformities in eyes and eye brows)
3. दंत खादति (दांतों को चबाना Teeth Biting)
4. फेन वमन (Fraoth from the mouth as in emesis)
5. विवृताक्षता (Fixation of Pupils)
6. भूमिपतन (भूमि पर गिरना Fainting)
7. अल्प अंतराल पर पुन: संज्ञावान होना (To regain consciousness after some time)

अपस्मार के भेदानुसार लक्षण

1. वातज अपस्मार के लक्षण

शास्त्रों में वातज अपस्मार के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं[4]—

1. वातपित्तकफैर्नृणाञ्चतुर्थ: सन्निपातित: । (सु.उ. 61/10)
2. हृत्कम्प: शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढ़ता।
   निद्रानाशश्च तस्मिंस्तु भविष्यति भवन्त्यथ॥ (सु.उ. 61/7)
3. विक्षिपन् हस्तपादं च विजिह्वाभ्रूविलोचन: ।
   दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्ष: पतेत् क्षितौ॥
   अल्पकालान्तरश्चापि पुन: संज्ञां लभते स: ॥ (सु.उ. 61/9-10)
4. कम्पते प्रदेशदन्तान् फेनोद्गामी श्वसित्यपि।
   परुषारुणकृष्णानि पश्येद् रूपाणि चानिशम्॥ (च.चि. 10/9)

(i) रोगी के शरीर में कम्पन होता है (Tremors all over the body)
(ii) रोगी दांतों को किटकिटाता है।
(iii) मुख से फेनोद्गम होता है।
(iv) श्वास गति तीव्र हो जाती है।
(v) रोगी प्रत्येक वस्तु को रुक्ष, अरुण एवं कृष्ण वर्ण का देखता है।

2. पित्तज अपस्मार के लक्षण

पित्तज अपस्मार में निम्न लक्षण व्यक्त होते हैं[1]—

(i) रोगी वेग से पूर्व सभी वस्तुओं को पीत अथवा रक्त वर्ण का देखता है।
(ii) रोगी के मुख से पीत वर्ण का फेनोद्गम होता है।
(iii) रोगी का सम्पूर्ण शरीर, मुख एवं नेत्र पीत वर्ण का हो जाता है।
(iv) अत्यधिक तृषा की अनुभूति।
(v) शरीर में अत्यधिक उष्णता की अनुभूति।
(vi) वेग तीव्र होता है।

3. कफज अपस्मार के लक्षण

कफज अपस्मार के लक्षण निम्नलिखित हैं[2]—

(i) रोगी को सभी वस्तुऐं श्वेत वर्ण की दिखाई देती हैं।
(ii) मुख से श्वेत वर्ण का फेन निकलता है।
(iii) रोगी का शरीर, मुख एवं नेत्र श्वेत वर्ण के हो जाते हैं।
(iv) शरीर शीतल एवं भारी होता है।
(v) रोमहर्ष।
(vi) अपस्मार का वेग देर तक शरीर में रहता है।

4. सन्निपातज अपस्मार के लक्षण[3]

सन्निपातज अपस्मार में तीनों दोषों के प्रकोप के सम्मिलित लक्षण रोगी में प्रकट होते हैं। सन्निपातज अपस्मार की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Status Epilepticus नामक रोग से कर सकते हैं।

सापेक्ष निदान

अपस्मार रोग के कुछ लक्षण दूसरी व्याधियों के लक्षणों से भी साम्यता रखते हैं।

1. पीतफेनाङ्गवक्राक्ष: पीतासृग्रूपदर्शन: ।
   सतृष्णोष्णानलव्याप्त लोकदर्शी च पैत्तिक: ॥ (च.चि. 10/10)
2. शुक्लफेनाङ्गवक्राक्ष: शीतो हृष्टाङ्गजो गुरु: ।
   पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात्॥ (च.चि. 10/11)
3. सर्वैरैतै: समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषज: ॥ (च.चि. 10/12)